संस्थापक
शिव वर्मा
संपादकीय परामर्श
दूधनाथ सिंह
संपादक
मुरली मनोहर प्रसाद सिंह
चंचल चौहान
संपादकीय सहयोग
कांतिमोहन 'सोज़'
रेखा अवस्थी
जवरीमल्ल पारख
संजीव कुमार
हरियश राय
आवरण चित्र
श्रुति कीर्ति
आवरण सज्जा
ललित नारायण (बंटी)
कंपोज़िंग सहयोग
कंचन सिन्हा
कार्यालय सहयोग
मुशर्रफ़ अली
इस अंक की सहयोग राशि
सौ रुपये
(डाक ख़र्च अलग)
संपादकीय कार्यालय
42, अशोक रोड
नयी दिल्ली.110001
Email : jlsind@gmail.com
फ़ोन : 011-23738015
मो. : 9818859545, 9818577833
Website: www.jlsindia.org
प्रकाशन, संपादन, प्रबंधन पूर्णतः गैरव्यावसायिक और अवैतनिक।
पत्रिका में प्रकाशित विचार लेखकों के अपने हैं, जलेस की सहमति आवश्यक नहीं।

जनवादी लेखक संघ की केंद्रीय पत्रिका

नया पथ

मुक्तिबोध जन्मशती अंक

वर्ष 31 : अप्रैल 2017-सितंबर 2017 (संयुक्तांक)

अनुक्रम

संपादकीय : अंधेरे समय में मुक्तिबोध की याद / 3

मुक्तिबोध स्मरण : दो कविताएं : *चंद्रकांत देवताले* / 5

अनिवार कोई एक

रुको परसाई, इसे यहां से देखो : *नरेश सक्सेना* / 11

फिर से मुक्तिबोध : *अशोक वाजपेयी* / 19

मुक्तिबोध : उत्पीड़न और नायकत्व : *असद ज़ैदी* / 24

मुक्तिबोध को कैसे पढ़ें? : *प्रियदर्शन* / 28

पत्रकार मुक्तिबोध : कुछ फुटकर टिप्पणियां : *राजेंद्र शर्मा* / 31

महास्वप्न के झुटपुटे में 'स्त्री' (संदर्भ : मुक्तिबोध) : *अनामिका* / 40

मुक्तिबोध का भारत : यथार्थ और स्वप्न की कशमकश : *बसंत त्रिपाठी* / 47

मुक्तिबोध और उनकी प्रासंगिकता : *प्रांजल धर* / 57

संकल्पधर्मा चेतना का रक्तप्लावित स्वर

विरुद्ध-विपरीत ('दिमाग़ी गुहांधकार का ओरांग-उटांग' को समझने की कोशिश में कुछ नोट्स) : *राजेश जोशी* / 69

प्रतीकों और बिंबों का असंवृत रूप : *चंचल चौहान* / 73

सजल-उर शिष्य का संघर्ष-पथ : *दिनेश कुमार शुक्ल* / 97

'भूल-ग़लती' में बहुकलात्मकता : *रवीन्द्र त्रिपाठी* / 107

मुक्तिबोध : व्यवस्था का विद्रूप बनाम बिंब और फ़ैंटेसी की जटिलता : *शैलेश सिंह* / 111

मुक्तिबोध : कुछ केंद्रीय अभिप्राय : *सुमनिका सेठी* / 119

आभासित वास्तविकता के कवि : *बली सिंह* / 126

गुंथे तुमसे बिंधे तुमसे

एक समय अंधेरे में : *मंगलेश डबराल* / 135

मुक्तिबोध बरास्ते त्रिलोचन : *केशव तिवारी* / 140

नाटक की समझ से मुक्तिबोध का संसार खुला : *संजय कुंदन* / 141

मुक्तिबोध मेरे लिए : *अच्युतानंद मिश्र* / 143

ज़िंदगी की कतरन

दो दीमकें लो, एक पंख दो : *योगेन्द्र आहूजा* / 147

सतह से उठते सवाल : 'सतह से उठता आदमी' : *लाल्टू* / 167

कविता व कहानी की समानांतरता में मुक्तिबोध का ब्रह्मराक्षस : *सत्यदेव त्रिपाठी* / 171

जलते हुए रेगिस्तानों पर चलने की कथा : *विपात्र* : *हरियश राय* / 176

विचार हो गये विचरण-सहचर

मुक्तिबोध की आलोचना-दृष्टि : *कृष्णदत्त शर्मा* / 183

विचार-यात्रा का ऐतिहासिक दस्तावेज़ : *एक साहित्यिक की डायरी* : *वैभव सिंह* / 193

मुक्तिबोध और हिंदी आलोचना : एक नीच ट्रेजेडी : *कवितेन्द्र इन्दु* / 200

कोई गान आत्मोद्बोधमय

डर, मुक्तिबोध और यह समय : *निशांत* / 213

ब्रह्मराक्षस की खोज... : *सीमा संगसार* / 215

लिखी उजालों की तुमने कथा अंधेरे में : *राकेश शर्मा* / 218

पुस्तक समीक्षा

'परम अभिव्यक्ति की खोज' का पुनर्पाठ : कुछ आत्मीय नोट्स : *लीलाधर मंडलोई* / 220

मुक्तिबोध पर लिखित तीन आलोचना पुस्तकों की समीक्षाएं : *मुरली मनोहर प्रसाद सिंह* / 225

मुक्तिबोध पर एक परिसंवाद की रपट

हमारे समय के अंधेरे में : *बजरंग बिहारी* / 234

संपादकीय

अंधेरे समय में मुक्तिबोध की याद

मुक्तिबोध का जन्म 13 नवंबर 1917 को हुआ था। जगह जगह उनकी जन्मशती मनायी जा रही है। *नया पथ* का यह अंक उन्हीं पर केंद्रित है। आज के अंधेरे समय में मुक्तिबोध को याद करना ज़रूरी लगता है। उनके सृजनात्मक साहित्य, आलोचनात्मक कृतियों तथा *एक साहित्यिक की डायरी* और उनके अख़बारी लेखन से जहां 1957 से 1964 तक के ज़माने के अंतर्विरोधों की स्पष्ट पहचान होती है, वहीं दूसरी ओर उनकी भविष्यदर्शी दृष्टि से भारत में फ़ासीवाद के प्रकट हो रहे विभिन्न रूपों को भी समझने में मदद मिलती है। पिछले दिनों गौरी लंकेश, शांतनु भौमिक, प्रो. एम.एम. कलबुर्गी, गोविंद पानसारे और नरेंद्र दाभोलकर की हत्याओं के अतिरिक्त, अन्य अनेक हत्याएं, सत्तामद में चूर गोरक्षकों अर्थात राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के कार्यकर्त्ताओं द्वारा अनेक जगहों पर मुसलमानों, दलितों व वामपंथियों की हुई हैं। अभी हाल ही में तेलुगु के लेखक एवं दलित विचारक प्रोफ़ेसर कांचा इलैया शेफ़र्ड की एक पुस्तक की भर्त्सना करते हुए खुलेआम चौराहे पर उन्हें फांसी पर लटकाने का फ़रमान इन्हीं तत्वों द्वारा जारी किया गया तथा उनकी कार पर हमला किया गया। बनारस हिंदू विश्वविद्यालय में छात्राओं ने छेड़खानी के ख़िलाफ़ जब सुरक्षा की मांग करते हुए प्रदर्शन किया तो नृशंस ढंग से योगी सरकार की पुलिस ने उन पर लाठी चार्ज किया। इन फ़ासीवादी घटनाक्रमों के संदर्भों के साथ-साथ यह उल्लेखनीय है कि नोटबंदी और जी एस टी, पेट्रोल-डीज़ल की ऊंची दरें लागू कर भाजपा सरकार ने देशव्यापी स्तर पर किसानों, मज़दूरों, मध्यवित्तीय लोगों और व्यापारियों के लिए जीना मुश्किल कर दिया है। किसानों की ऋण माफ़ी का प्रचार बहुत होता है, हक़ीक़त यह दर्शाती है कि नवउदारवादी नीतियां किसानों को और अधिक दुर्दशा के गर्त में ढकेल रही हैं। केंद्रीय वित्तमंत्री ने ऋण माफ़ी के लिए केंद्र से वित्तीय सहायता देने से इंकार कर दिया है। तमिलनाडु, महाराष्ट्र, मध्यप्रदेश और राजस्थान में उभरे किसान आंदोलन इसी भयावह त्रासदी के उदाहरण हैं। आर एस एस की मुहिम भारतीय नागरिकों को अपने खाने-पीने से लेकर लिखने, बोलने और जीने के अधिकार से वंचित कर रही है। देश की बिगड़ती आर्थिक हालत की ओर से ध्यान हटाने की गरज से नरेंद्र मोदी और योगी आदित्यनाथ जैसे भाजपाई नेता धर्मनिरपेक्ष संविधान की शपथ ले कर हिंदुत्व के एजेंडे के तहत हिंदू तीर्थस्थलों पर कहीं महादेव की, तो कहीं राम की जयजयकार में लग गये हैं, कोई ताजमहल को 'कलंक' बताने में जुट गये हैं जिससे सांप्रदायिक ध्रुवीकरण को तेज़ करने के उनके इरादे साफ़ दिखायी दे रहे हैं। यह है इस देश की भाजपा सरकार। कुछ राज्यों के चुनाव नज़दीक आते ही उनको राम और शिव याद आने लगे हैं, सांप्रदायिक दंगे भड़का कर चुनाव जीतने की उनकी काली करतूत हमेशा सामने आती ही है।

इस यातनादायी विकराल स्थिति में रोज़-ब-रोज़ जुल्म और अत्याचार की नयी-नयी घटनाएं हो रही

हैं। मिसाल के तौर पर गुजरात में नवरात्रि के आख़िरी दिन मनाये जा रहे गरबा नृत्य में शामिल होने के लिए उत्सुक एक दलित लड़के की पटेलों ने पीट-पीट कर हत्या कर दी। हत्या, हमले और जुल्म के ऐसे सैकड़ों कारनामे हिंदुत्व के अलमबरदार स्वयं सेवक संघ के हाथों हो रहे हैं जिससे साफ़ ज़ाहिर है कि मोदी सरकार खुले आम फ़ासिस्ट तानाशाही की ओर अग्रसर है।

हत्या और दमन की इस परिस्थिति में देशभर के धर्मनिरपेक्ष जनवादी प्रगतिशील संगठन और अवाम मुक्तिबोध की जन्मशती मना रहे हैं। जनवादी लेखक संघ केंद्र की ओर से जन्मशती का एक आयोजन पहले हो चुका है, दूसरा आयोजन 18 नवंबर को करने का फ़ैसला लिया है, जिसकी तैयारियां शुरू हैं।

जनवादी लेखक संघ अपनी सभी इकाइयों और सदस्यों से अनुरोध करता है कि वे भी हर क़स्बे, गांव, शहर और महानगर में मुक्तिबोध जन्मशताब्दी समारोह का आयोजन करें। ऐसे आयोजनों में काव्यपाठ, सांगीतिक प्रस्तुतियां, फ़िल्म-स्क्रीनिंग, नाट्य प्रस्तुतियां और व्याख्यान के कार्यक्रम रखे जा सकते हैं और इन आयोजनों में लोकतांत्रिक तथा धर्मनिरपेक्ष रुझान वाले तमाम संगठनों और व्यक्तियों का सहयोग लिया जा सकता है। मुक्तिबोध के जनपक्षधरता के संदेश से ही जनवादी संस्कृति और विचारधारा के प्रसार में और हमारे सांस्कृतिक विकास में मदद मिलती है, इसी दृष्टि से अपने कार्यक्रमों की रूपरेखा बनायें। मुक्तिबोध का साहित्य हर भारतीय से बार बार यह सवाल करता है कि 'तय करो किस ओर हो तुम?' और उनकी कविता यह रणनीति भी सामने रखती है कि 'मुक्ति कभी अकेले में नहीं मिलती/ यदि वह है तो सबके साथ है।'

इस्मत चुग़ताई पर केंद्रित अंक के बाद, *नया पथ* का यह अंक बहुत विलंब से निकल रहा है। इसके बहुत से निजगत और वस्तुगत कारण हैं, इसके लिए हम अपने साथियों और पाठकों से क्षमा मांगते हैं।

इस बीच अनेक संस्कृतिकर्मी और साहित्यकार हमारे बीच नहीं रहे और उनकी मृत्यु से हम सब उदास और दुःखी हैं। हिंदी-उर्दू के रंगकर्मी टॉम ऑल्टर, फ़िल्म निर्देशक कुंदन शाह, हिंदी के रचनाकर अजित कुमार, स्नेहमयी चौधरी, चंद्रकांत देवताले, बादशाह हुसैन रिज़वी, क्षितिज शर्मा, जयप्रकाश लीलवान, रज़ा अश्क, नंद कुमार उन्मन और प्रसिद्ध वैज्ञानिक व वैज्ञानिक सोच के प्रसार के लिए प्रतिबद्ध रहे प्रो. यशपाल, राष्ट्रीय स्तर के शिक्षक आंदोलन के नेता कुमारेश चक्रवर्त्ती, प्रख्यात शास्त्रीय गायिका गिरिजा देवी आदि के निधन पर हम श्रद्धासमुन अर्पित करते हैं।

मुरली मनोहर प्रसाद सिंह
चंचल चौहान

मुक्तिबोध स्मरण : दो कविताएं

चंद्रकांत देवताले

इसी साल 14 अगस्त को चंद्रकांत देवताले जी को निधन हो गया। उन्हें याद करते हुए हम मुक्तिबोध पर लिखी उनकी दो कविताएं पुनः प्रकाशित कर रहे हैं। 'मुक्तिबोध : यंत्रणा के क्रॉस पर' मुक्तिबोध के निधन के पश्चात माधव कॉलेज उज्जैन की वार्षिक पत्रिका, *माधविका* में प्रकाशित (1965) हुई थी। 'मुक्तिबोध...' *कल्पना* के दिसंबर 1964 अंक में प्रकाशित हुई थी□दिल्ली अस्पताल में शमशेर जी के साथ मुक्तिबोध को देखने और शांता भाभी से कुछ बातें कर लौटने के बाद लिखी गई कविता। □ **संपादक**)

मुक्तिबोध : यंत्रणा के क्रॉस पर

विस्तृत चट्टान पर ख़ुदी हुई एक लंबी कविता
टूट कर धूप के जलते हुए चकत्तों पर ठुक गयी है
चाकुओं की नोक की तरह...
...यंत्रणा के क्रॉस पर मुक्तिबोध...
हवाओं में उछलते चिटकते धारदार शब्द
हमें मृत्यु सौंपते हैं हांफते हुए...

अंधेरे की गीली चट्टान के नीचे
युग-यातना की भाप में
महीनों तक दबा रहा एक कबूतर
जानदार पिकसोई कबूतर
और आज उड़ गया आकाशों के परे
काल के सींकचों को तोड़कर
न जाने किस अवकाश में

चट्टानी दुर्घटना के पूर्व
आकाश की गहराइयां उतरता था

दिशाएं उलीचता था केंद्र में
जहां आदमी का अस्थि-पंजर गड़ा था
उबलते हुए समुद्र की छाती पर
पंख बिखरते रहे टूट-टूटकर
रक्त झेलता रहा समुद्र
व्यवस्था के कुहासे में
पंख फड़फड़ाता रहा पिकासोई कबूतर...
धमनियों में गूंजती रही ब्रह्मराक्षस की आवाज़ें
शिराओं में खौलती आक्रोश की नदियां
और वह निष्ठा की अग्नि-जिह्वा
जो हर समझौते पर ब्लड थूकती रही
तेज़ाब फूंकती रही...

त्रासदी की कांटेदार सिम्फ़नी में जकड़ा
उजड़े मैदानों का भयद सन्नाटा
आदिम गुहाओं का सींगदार अंधेरा
ख़ामोश पठारों का नंगा फैलाव
बीहड़ का घुप्प गुमसुम उलझाव
क्रूर व्यंग, विद्रूप...अट्टहास
चित्र जलते हुए-चुभते हुए आंखों में
मुखौटे रेज़र की धार पर क्षत-विक्षत
लहूलुहान इतिहास
सभ्यता के कृत्रिम कुहासे को फाड़ता
विद्रोह का सूर्य...सूर्यास्त....

...टूटे हुए
पंख
बिखर गये हैं
हिंदी कविता में
रक्त के गाढ़े थक्कों में
जम गयी है काव्यात्मा
विक्षिप्त बिंबों में
आपस में टकराते पाथरी प्रतीकों में
अतितार्किक चट्टानी खुरदरी मस्तिष्क भाषा में
विद्युत तनावों में
ढूंढूंगा तुमको मैं□पाऊंगा तुमको मैं

गाऊंगा तुमको मैं
ओ! मनुष्य के अस्तित्व की वासना...

मुक्तिबोध...

(एक)

मन : धूप का समुंदर
और किनारों पर
उलझी हुई वनालियों की तरह संवेदनाएं...
तुम्हारी कविताएं :
जैसे सूरज के तपते हुए पठार पर
गिरता हुआ झरना
भाप बनता है...

एक खोखलापन
विराट से विराटतर
जिसमें आकृति पाती है
भुतही सृष्टि,

स ऽ ड़ाक.... स ऽ ड़ाक
कोड़ों के कशाघात
अट्टहास करती हुई छायाएं□
पर इसी में सुनायी देती है
रोने की आवाज़
दूर कहीं सुबक कर रोता है
एक आदमी
तमाम आदमियों के लिए!

(दो)

पहाड़ों से लिपटे हुए जंगल
जंगलों से कसी हुई लपटें
और लपटों से लिपटना चाहती है
न जाने कौन-सी आह...

और इसी आह का विस्तार
मस्तिष्क की आदिम गुहाओं में□
जहां कहीं है अंधेरा
कहीं रोशनी
मंत्र फेंकता है एक तांत्रिक
और रेंगते हैं सांप...

और ख़ुद पर चढ़ी जंग को
ख़ुद ही रेतता है इतिहास
शोषण की चट्टानों पर
पछाड़ खाती
आदमी की प्यास...

पहचान में आता नहीं
यह आदमी का मन
जिसको गोदती है चाकुओं की नोक
जिसको घेरता है मकड़ियों का जाल!

अनिवार कोई एक

रुको परसाई, इसे यहां से देखो

नरेश सक्सेना

जबलपुर, 1958 की एक शाम, हम लोग मुक्तिबोध को पहुंचाने मदन महल के पास रेलवे स्टेशन गये थे। मैं, विनोद कुमार शुक्ल, हरिशंकर परसाई और श्रीबाल पांडे।

यहां से छोटी लाइन की पैसेंजर उन्हें गोंदिया ले जाती, और वहां से राजनांदगांव की गाड़ी मिलती। प्लेटफ़ॉर्म पर कुछ दूर चाय का एक ठेला था। डूबते सूर्य की रोशनी में, उसकी पीतल की टंकी और करीने से सजे पीतल के बर्तन, सुनहरी आभा से दमक रहे थे। मुक्तिबोध वहीं रुक गये। उन्होंने पुकार कर कहा, 'परसाई, इसे देखो,' परसाईजी ने वहीं से मुड़ कर कहा, 'देख रहा हूं, पहले टिकिट ले आऊं, फिर चाय पीते हैं।'

'रुको परसाई, इसे यहां से देखो। अभी, इसी वक़्त। बाद में क्या देखोगे? सूर्यास्त हो रहा है। यह दृश्य हर पल बदल रहा है। यह सिर्फ़ हमारी और ठेले की स्थिति का मामला नहीं है। असली भूमिका गति की है। पृथ्वी घूम रही है। ठेले को चाय की तलब से नहीं, इस भाव से देखो कि जैसे सूर्य ने अपनी सारी आभा इसे सौंप कर चाय वाले के श्रम को नमस्कार किया हो।'

वर्षो बाद जब मैंने 'ब्रह्मराक्षस' कविता में यह पंक्ति पढ़ी :

> तिरछी गिरी रवि रश्मि
> के उड़ते हुए परमाणु, जब
> तल तक पहुंचते हैं कभी
> तब ब्रह्मराक्षस सझमता है, सूर्य ने
> झुक कर नमस्ते कर दिया।

(*रचनावली*, भाग-2/315)

तब याद आया कि 'देखने' के प्रति उनकी दृष्टि कितनी सतर्क थी और समझ वैज्ञानिक। हमारे और ठेले को जोड़ने वाली सरल रेखा पर सूर्य के उस कोण का लोप होने वाला था जिसमें सूर्य की रोशनी के कण लगभग शत प्रतिशत परावर्तित होकर हम तक पहुंच रहे थे। दृश्य में दृष्टि, समय, गति और प्रकाश की कितनी अहम भूमिका होती है, इसके प्रति मुक्तिबोध पूर्ण सजग थे। ऊपर के उद्धरण में भी वे 'तिरछी रवि रश्मि के परमाणु' कहते हैं क्योंकि प्रकाश का संरचण तरंग और कण दोनों तरह से होता है (प्रकाश के संचरण के इस दोहरेपन की संदिग्धता का शमन आइंस्टाइन ने किया था)।

'देखना' मुक्तिबोध की कविता का केंद्रीय तत्व है। उनकी कविता बिंबों, रूपकों और प्रतीक दृश्यों

से भरी है। लगता है, सिनेमा देख रहे हैं। उसमें आवाज़ें हैं, डरावनी। और बिंब तो अक्सर भयानक और रहस्यमय। बरगद की काली छायाएं, भुतैली चांदनी, खंडहर, मरे हुए कबूतर, खंभों पर लटकी रोशनियों की गर्दनें, बीहड़, पठार, अंधेरे में गीली सीढ़ियां, मूर्ति से टपकता खून, बैंडबाजे के वाद्य का फूला पेट, उलझी हुई आंतें, उल्लू और एक अदृश्य संकट का अहसास। नदी है तो चंबल। गंगा नदी नहीं। मूंछों वाली डाक्टरनी। एक पंक्ति सांप बनकर भागती हुई।

उनका प्रसिद्ध वाक्य है, 'मैंने उन्हें देख लिया है नंगा, अब मुझे इसकी भी सज़ा मिलेगी।' यह एक भयभीत, सशंकित किंतु खोजी दृष्टि है। ऐसी दृष्टि हिंदी साहित्य में दूसरी नहीं है।

देखने से ही विज्ञान की शुरुआत होती है (अरस्तू)।

ग़ौर से देखे बिना न पेंटिंग संभव है, न नाटक, न फ़िल्म, न कविता, न विज्ञान। मुक्तिबोध की कविता तो क़तई नहीं, क्योंकि वह सिर्फ़ वर्तमान को नहीं, भविष्य को भी देखती है। समय की दिशा वर्तमान से भविष्य की ओर होती है। जब तक कोई वैज्ञानिक अपनी थ्योरी और गणना को भविष्यवाणी द्वारा सिद्ध नहीं कर देता, उसे मान्यता नहीं मिलती। मुक्तिबोध यह काम कर चुके हैं। इसके उद्धरण हम आगे देखेंगे।

(हिंदी भाषा में 'देखना' क्रिया किस तरह सारी इंद्रियों को डिक्टेट करती है, यह देखना दिलचस्प होगा। अरे ऐसे नहीं इसे छूकर देखो। यानी, उंगलियों से देखें। इसे चखकर देखो, यानी जीभ से देखो। इसे सुनकर देखो यानी कान से देखो। इसे सूघंकर देखो यानी नाक से देखो।)

याद आया, मुक्तिबोध ने कहा था, 'इसे यहां से देखो, अभी देखो, और एक ख़ास दृष्टि से देखो'।

मुक्तिबोध के पास एक भाववादी नहीं, वैज्ञानिक दृष्टि थी।

तो हम पांच लोगों ने ठेले पर चाय पी। मुक्तिबोध ने चाय की तारीफ़ करते हुए उससे कहा, 'महाराष्ट्र के हो!' उसका चेहरा फूल की तरह खिल गया, पूछा, 'कैसे जाना?' मुक्तिबोध ने कहा, यह कोई बताने की बात है! तुम्हारी चाय, ठेला, सफ़ाई, बर्तन, सभी बता रहे हैं कि तुम कहां के हो। फिर परसाई जी ने बहुत कोशिश की, लेकिन चायवाले ने चार लोगों की चाय के पैसे लिये। मुक्तिबोध की चाय के पैसे नहीं लिये।

अभी विनोद कुमार शुक्ल ने याद करके बताया, उस दिन मुक्तिबोध नीले रंग का ओवरकोट पहने थे। यह भी कि ओवरकोट वे राजनांदगांव से किसी से मांग कर लाये थे, क्योंकि परसाई जी ने लिख दिया था कि यहां ठंड बहुत पड़ रही है, गरम कपड़े लेकर आना। परसाई जी जानते थे, मुक्तिबोध के पास सिवा एक पुराने कोट के और कोई गरम कपड़ा नहीं था। नरेश मेहता ने लिखा है□ठंड के दिनों में बच्चे ज़मीन पर बिछी दरी पर बिना स्वेटर पहने, सूती चादर ओढ़कर सोते थे, जबकि पहले वाले घर में, तालाब में बना होने के कारण सीलन रहती थी।

मुक्तिबोध हिंदी के अकेले कवि थे जो अपने समय के विज्ञान की अधुनातन समझ से संपन्न थे। वे उन सारी अवधारणाओं और प्रश्नों से अवगत थे जिन्हें लेकर विश्व के महान वैज्ञानिकों में गंभीर बहसें चल चुकी थीं और उस समय में भी चल रही थीं। कुछ नमूने देखें :

(1) और अगर हम फ़िज़िक्स की कुछ कल्पनाओं का सहारा लें तो हम इस निष्कर्ष पर आयेंगे कि, हमारे लिए यह कहना कठिन है कि, मनस्तत्व कहां किस जगह वस्तुतः एक तत्व है और कहां

किस जगह वह शुद्ध गति है अर्थात कहां पार्टिकिल और कहां वेव।

('तीसरा क्षण', *रचनावली* -4/87)

(2) सीधी लकीर पृथ्वी पर खींच दें और लंबा करते चले जायें तो गोल हो जायेगी...
सीधी लकीर सूरज से जोड़ दें, तो कहीं वह तनेगी और कहीं उसमें झोल पड़ेगा। क्योंकि सूर्य के चारों और पृथ्वी का पथ इलिप्टिकल है ('भूत का उपचार', भाग-3/128)

(3) जड़ गणित के नियम प्रकृति हमेशा नहीं मानती। एक धन एक बराबर एक भी हो सकता है। यानी 1 + 1 = 1

(4) आइंसटाइन के अनुसार दिक् छोरहीन किंतु सान्त है (स + अन्त), यानी अनंत नहीं है? तो दिक् का क्या रूप होगा, गोल 2 (भाग-3/128)

(5) ब्रह्मांड अखिल की सरहदें माप लें
अरे ये ज्योति पिंड
हृदय में महाशक्ति रखने के बावजूद
अंधे हैं नेत्रहीन
...
वैसा मैं बुद्धिमान
...
ऋण एकराशि का वर्गमूल
...
एक धन + एक से
पुनः एक बनाने का यत्न है अविरल

('मुझे नहीं मालूम', *रचनावली,* भाग-2/155, 156)

उपर्युक्त उद्धरणों पर ज़रा-सा ध्यान देने पर यह समझ में आ जायेगा कि हर उद्धरण में एक दोहरापन (Duality) है, विरोधाभास है। आंखों से दिखने वाला रोज़मर्रा का यथार्थ सूक्ष्म स्तर पर या विराट स्तर पर जाते ही उलट जाता है।

(1) न्यूटन ने कहा था कि प्रकाश कणों (Photons) से निर्मित है। यह बात सही है। लेकिन वह लहरों की तरह चलता सिद्ध होता है। दोनों का सहअस्तित्व एक साथ कैसे संभव है! आइंस्टाइन ने सिद्ध किया कि रोशनी का संरचरण कणों में भी होता है और waves यानी लहरों में भी।

(2) पृथ्वी की सतह पर दो बिंदुओं के मिलाने से एक सरल रेखा बनेगी। किंतु यदि उसे लंबा करते चले जायें तो विशाल स्तर पर वह गोलाकार हो जायेगी। समुद्र की सतह भी गोलाकार है।

(3) एक धन एक बराबर दो होने चाहिए लेकिन एक नदी और एक नदी मिलकर एक नदी होती है।

(4) एक स्याह होता तारा जब सिकुड़ता है और उसके हाइड्रोजन ऐटम तेज़ गति से आपस में टकराते हैं तो दो हाइड्रोजन ऐटम मिलकर एक हीलियम का ऐटम बन जाता है। यह भी 1+1 = 1 का उदाहरण हुआ।

यदि अंतरिक्ष अनंत नहीं है, सीमित है, किंतु फैल रहा है तो उसका आकार?

इस बारे में एक दिलचस्प प्रसंग है। आइंस्टाइन की प्रतिभा के क़ायल कैलीफ़ोर्निया टैक्नीकल इंस्टीट्यूट के बोर्ड के चेयरमैन स्वयं अमेरिका से जर्मनी, आइंस्टाइन से, अपने इंस्टीट्यूट में काम करने का निमंत्रण लेकर, मिलने आये।

आइंस्टाइन ने पूछा, 'क्या आपके यहां श्री टोलमेन नाम के वैज्ञानिक काम करते हैं? स्थाई तौर पर?' 'हां' सुनते ही आइंस्टाइन बोले, 'तो मैं उनके शोध सहयोगी के रूप में काम करना चाहूंगा।' यानी न काम की शर्तें पूछीं, न वेतन पूछा, न आवास के बारे में, बस तुरंत 'हां' कर दी। अंतरिक्ष के शेप और साइज़ को जानने की कैसी उत्कट इच्छा थी आइंस्टाइन की!

(5) यह ब्लैक होल के बारे में है। ब्लैक होल के भीतर इतना भीषण और प्रबल गुरुत्वाकर्षण होता है कि वह अपने प्रकाश कणों को बाहर जाने नहीं देता, सोख लेता है। यानी प्रकाश कणों से भरा फिर भी अदृश्य। काला।

जीवन की विकट परिस्थितियों की विराटता और व्यक्तित्व के स्नेहिल और सूक्ष्म स्तरों पर मनुष्य के चरित्र या व्यवहार में जो दोहरापन या उसके अनेक स्तर छिपे होते हैं, मुक्तिबोध उसी को अभिव्यक्ति देने की कोशिश करते हैं। इसी के मद्देनज़र कभी उन्हें व्यक्तिवादी, या भाववादी कहा जाता है। कभी इस कशमकश को द्वंद्वात्मकता के ठंडे ख़ाते में डाल कर उन्हें कन्फ़्यूज़्ड तक सिद्ध कर दिया जाता है। अधिकांश आलोचकों द्वारा विज्ञान के संदर्भों से कन्नी काटकर निकल जाने का आसान रास्ता मुक्तिबोध के अंतर्मन में चलने वाली छटपटाहट और उनकी अभिव्यक्ति की बेचैनी की समझ को और मुश्किल में डाल देता है।

अब ज़रा देखें कि एक बड़ा कवि कितने नये प्रतीकों, रूपकों और बिंबों से हमारी भाषा और संवेदना को समृद्ध करता है और मुहावरों की ताज़गी से साक्षात्कार कराता है। हमारे सौंदर्यबोध को अपनी सृजनात्मकता से कितना बदलता और परिष्कृत करता है!

क्या वह वैज्ञानिकों की तरह भविष्यवाणियां करता है? इसके लिए जो सबसे पहली कविता मेरे स्मरण में आती है और जो मुझे बहुत प्रिय है, वह है 'मुझे क़दम-क़दम पर...।'

लेकिन इससे पहले कि हम कविता में प्रवेश करें, उससे जुड़ी कुछ वैज्ञानिक अवधारणाएं देख लें, जो शायद बहुत ज़रूरी और प्रासंगिक हैं और जो मेरे पिछले कथन की पुष्टि भी करेंगी।

आइंसटाइन से पहले, फ़्रीडमैन ने कहा था कि अंतरिक्ष अनंत नहीं है। किंतु उसकी सीमा यानी बाउंड्री या छोर भी नहीं है, क्योंकि गुरुत्वाकर्षण के दबाव में वह पृथ्वी की तरह गोलाकार (curved) है :

> A remarkable feature of the first kind of Friedmann model is that the universe is not infinite in space but neither does space have any boundry.
>
> (स्टीफ़ेन हॉकिंग, 'Space is Expanding': *The Theory of Everything* (1935), p. 24)

अब यदि स्पेस सान्त है तो समय कैसे अनंत हो सकता है! किंतु स्पेस फैल रहा है तो समय भी फैल रहा होगा। देखने से दृश्य बदलता है। सबऐटौमिक स्तर पर देखने की क्रिया से देखी जा रही चीज़ प्रभावित होती है। इसी से जुड़े हैं तत्कालीन वैज्ञानिक डीब्रोग्ली (DeBroglie) तथा हाइज़नबर्ग (Heisenberg) ('अनिश्चितता का सिद्धांत') के कथन :

This showed convincingly that at the subatomic level the mere act of observation affected what one was observing.

(*Ronald W. Clark, Einstein : The Life and Times*, p. 411)

दृश्य एक पर्दा है
जिसके पीछे नाटक कभी का ख़त्म हो चुका

☐अशोक वाजपेयी

दृश्य की एक निरंतरता होती है। दृश्य के सामने का हिस्सा अपनी पृष्ठभूमि को यानी पीछे वाले दृश्य को छुपा लेता है। इस तरह दृश्य स्वयं एक पर्दा बन जाता है। इससे अलग तरह की बात यह, दूरबीन से देखें तो कुछ और दिखता है और माइक्रोस्कोप से देखें तो कुछ और। इस तरह उच्च तकनीकी, आंख से देखे जानेवाले दृश्य में हस्तक्षेप करती है। प्लांक कौन्सटेन्ट (Planck Constant), जिसका ज़िक्र मुक्तिबोध करते हैं, के अंतर्गत अवधारणा यह है कि चूंकि कण की स्थिति और गति को एक साथ (Simultaneously) नहीं नापा जा सकता (हाइज़नबर्ग, 1926)। जिस बारीक़ी और शुद्धता से स्थिति को अंकित करेंगे, उसी अनुपात में गति के अंकन की शुद्धता में ग़लती हो जायेगी, और यदि गति को नापने की शुद्धता पर ज़ोर दिया तो स्थिति के मापन में उसी अनुपात में ग़लती हो जायेगी। इसके संतुलन के लिये प्लांक ने, दोनों क्रियाओं की शुद्धता के गुणनफल से 'प्लांक कौन्सटैन्ट' का निर्धारण किया।

देखने की क्रिया से दृश्य के प्रभावित होने का एक दिलचस्प उदाहरण आइंस्टाइन ने दिया कि जैसे किसी फुटबॉल मैच में दर्शकों की प्रतिक्रिया खिलाड़ियों के खेल को प्रभावित करती है, वस्तुतः जीवन में व्यक्ति अपने खेल का दर्शक भी होता है और खिलाड़ी भी। अपनी दृष्टि से वह अपने कर्म को प्रभावित करता है।

A football game where the act of watching accompnied by applausing or hissing has a marked influence on the speed and concentration of the players.

(*Einstein :The Life and Tines*, p. 413)

आइंस्टाइन की मृत्य 1955 में हुई। उस समय बहुत सी पत्रिकाओं और अख़बारों में आइंस्टाइन पर लेख और विशेषांक आये होंगे, कुछ समय बाद पुस्तकें भी आयी होंगी। निश्चय ही मुक्तिबोध ने उनका अध्ययन किया था। उनकी 'भविष्यधारा', 'एक अंतर्कथा', 'अंधेरे में', 'मुझे नहीं मालूम', 'ब्रह्मराक्षस', 'मुझे क़दम क़दम पर' आदि तमाम कविताएं और विचार आइंस्टाइन, प्लांक्स कौन्स्टैन्ट, क्वांटम भौतिकी, सूक्ष्म मापन यंत्र, गुरुत्वाकर्षण, विद्युन्मय कण, नेब्युला, स्पैक्ट्रम, परमाणु, इलैक्ट्रान, विद्युतचुंबकीय, प्रकाशवर्ष, और रश्मिविकीरण जैसे शब्दों से भरी पड़ी हैं। ;नेब्युला यानी आकाशीय धूल और गैस का बादल जहां नीहारिकायों का जन्म होता हैद्ध रमेश मुक्तिबोध बताते हैं कि मुक्तिबोध बहुत पढ़ते थे। श्रीकांत वर्मा, प्रमोद वर्मा तथा अन्य मित्रों से, यहां तक कि सागर में जहां आग्नेय और अशोक वाजपेयी थे, से अपेक्षा करते थे कि वे साहित्यिक विषयों की पुस्तकें उन्हें पढ़ने के लिए दें। लाइब्रेरियों से भी लाते थे। यानी 1955 में आइंस्टाइन की मृत्यु के बाद की ये कविताएं उसी काल की हैं यानी 1957-58 के आसपास के बाद के उस काल की। उस ख़ास कविता पर आने से पहले एक ज़रूरी बात रही जा रही है।

बीसवीं शताब्दी में यह बहस जोरों पर थी कि सभी वस्तुएं तो न्यूटन के गति के नियमों का पालन करती हैं, किंतु एटम और इलैक्ट्रान मनमाने ढंग से विचरण करते हैं। गति के नियमों से पूर्णतः आज़ाद।

यह क्या बात हुई कि चांद, तारे, पृथ्वी से लेकर छोटी छोटी चीज़ें तो प्रकृति के गति के नियम मानें और इतने छुटकन्नू ऐटम और इलेक्ट्रान मुक्त विचरें! एकदम अराजक!

इस संदर्भ में फ़ाइनमैन (Feynman) का प्रयोग अत्यंत महत्वपूर्ण है। परमाणु और उससे सूक्ष्म स्तर पर फ़ाइनमैन ने 1940 में गंतव्य, गति, दिशा और पथ के हमारे रोज़मर्रा के अनुभव से बनी वास्तविकता को ग़लत सिद्ध कर दिया। उसने एक दीवार में एक पतली दरार (झिरी, slit) बनायी और उस ओर ऐटम दागे़। मान लीजिए, 100 ऐटम। झिरी के पार एक स्क्रीन लगायी और देखा कि स्लिट से निकलकर 20-25 ऐटम स्क्रीन से टकराये। फिर इस स्लिट को बंद करके दूसरी स्लिट (झिरी) खोली तो देखा उसमें से भी 20-22 ऐटम निकल कर उसके पार लगी स्क्रीन से टकराये।

तीसरी बार दोनों स्लिटें खोल दीं और फिर ऐटम दागे़ तो क़ायदे से जितने ऐटम अलग-अलग स्लिटों से निकले थे, उनके जोड़ के बराबर ऐटम स्क्रीन तक पहुंचना चाहिए थे। लेकिन ऐसा नहीं हुआ। पिछली बार एक स्लिट के पार 25 गये थे तो इस बार 10 ही रह गये। दूसरी वाली में भी हिसाब गड़बड़ हो गया। यानी जहां जिस जगह 15 पहुंचे थे वहां एक भी नहीं पहुंचा या 2-4 पहुंचे और जहां 10 पहुंचे थे वहां 30-40 इकट्ठे पहुंच गये। नतीजा यह निकाला गया कि पहली स्लिट की तरफ़ से जो ऐटम दूसरी स्लिट की तरफ़ गये, उन्होंने उधर के ऐटमों की राह को बाधित या प्रभावित किया। यही दूसरी तरफ़ के ऐटमों ने किया जो पहली स्लिट की तरफ़ आये और उनसे टकराकर राह में बाधा पहुंचा दी।

यह भी समझ में आया कि वे कण की तरह नहीं, बल्कि लहर की तरह चल रहे हैं और यदि एक लहर दूसरी लहर के ही फ़ेज़ में आये यानी एक दोस्त लहर की तरह कि जहां पहली लहर में उछाल हो वहां उसमें भी उछाल और जहां पतन हो वहां पतन, तो दोनों मिल कर ताक़तवर बन जायेंगी और यदि कहीं उल्टा हो गया यानी जहां पहली का उछाल वहां दूसरी का पतन हो तो लहर सपाट या निर्जीव हो जायेगी। इसी कारण जब दोनों स्लिटें खुलीं तो कहीं लहर निर्जीव हो गयी, कहीं ताक़तवर हो गयी। नतीजे में कहीं एक भी ऐटम नहीं पहुंचा और कहीं बहुत से पहुंच गये।

इस 'क्वांटम मॉडल के अनुसार, अपने प्रस्थान बिंदु और अंत वाली जगह के बीच ऐटम का कोई सुनिश्चित स्थान नहीं होता। इसका मतलब यह नहीं कि ऐटम किसी राह पर नहीं चलता। इसका मतलब यह कि ऐटम हर संभव पथ पर चलते हैं। एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाने के अनंत पथ हैं। ऐटम एक साथ simultaneously उन सभी पथों पर चल सकते हैं। उनका कोई एक निश्चित पथ नहीं होता। वे हर राह पर पाये जाते हैं।

यह बात परीकथा या कपोल कल्पित (साइंस फ़िक्शन) लग सकती है लेकिन यही वास्तविकता है।

अब पढ़िए ये पंक्तियां :

एक पैर रखता हूं
कि सौ राहे फूटती हैं
व मैं उन सब पर से गुज़रना चाहता हूं

इससे पहले वे जता देते हैं कि

मुझे क़दम क़दम पर
चौराहे मिलते हैं / बांहे फैलाये
According to the quantam model... Feynman realised one does not have to interpret that particles take no path as they travel between source and screen.
It could men instead that particle take every possible path connecting those points.
...rather than following a single definite path, particles take every path and they take them all simultaneously. This sounds science fiction but it is not. (Stephan Hawking & Leonard Mlodinow, 'The grand design', P. 97)

ये चौराहे भी फैल रहे हैं। और घर में भी चौराहे हैं। (घर पहुंच कर एक राह पत्नी की ओर जाती है, दूसरी दिशा बच्चों की ओर, तीसरी पिता और मां की ओर, चौथी शायद अपने लिखने की मेज़ की ओर)

मैं कुछ गहरे में उतरना चाहता हूं
जाने क्या मिल जाये।
मुझे भ्रम होता है कि प्रत्येक पत्थर में
चमकता हीरा है
प्रत्येक सुस्मित में विमल सदानीरा है
मुझे भ्रम होता है कि प्रत्येक वाणी में
महाकाव्य पीड़ा है
पल भर में सबमें से गुज़रना चाहता हूं
प्रत्येक उर में से तिर आना चाहता हूं

मुक्तिबोध, चूंकि कोई कण या ऐटम नहीं हैं संवेदन शील कवि हैं, इसीलिए अंत में कहते हैं :

कठिनाई आज विषयों की कमी की नहीं है। बल्कि
वे बहुत अधिक हैं और कठिनाई सही चुनाव नहीं कर पाने की है।

मुक्तिबोध के निम्नलिखित वाक्य देखिए :

रचना प्रक्रिया वस्तुतः एक खोज और एक ग्रहण की प्रक्रिया है?
रचना प्रक्रिया में कवि किस सतह से बोल रहा है (रचनावली-5/191-92)
आज विज्ञान किसी भी फ़िलासफ़ी के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण हो चुका है
(*रचनावली*-4/446)
संवेदनात्मक ज्ञान के बिना कोई कवि मौलिक नहीं हो सकता (*रचनावली*-5/194)
ज्ञानात्मक आधार से तुम्हारा मतलब वैज्ञानिक जानकारी के अलावा भी कुछ है या नहीं?
(*रचनावली*-4/115)
मैं कविता में लय को आवश्यक मानता हूं। इससे कुछ न कुछ नियंत्रण रहता है।
(*रचनावली*-5/273)

एक पांव रखता हूं
कि सौ राहें फूटती हैं

यह उनके हृदय की मुक्ति की उड़ान की कविता है। सुखद और सुंदर आंकाक्षाओं की कविता। इसमें दुःख, दैन्य, क्रोध और आवेश नहीं है। मुक्तिबोध हमेशा ताल में लिखने का प्रयत्न करते हैं, जिसे साहित्य में हम लोग लय कहते हैं। संगीत में लय का अर्थ गति होता है। कहते हैं कि इस ताल की लय बढ़ा दो यानी ताल वही रहे, पर उसे दुगन या विलंबित कर दो। ताल पर मुक्तिबोध का अधिकार है। वे आम तौर पर कहरवा, तेवरा और दादरा तालों का इस्तेमाल करते हैं। ये कविता दादरा ताल में है। जहां ताल टूटती सी लगती है, वहां मैं उसे किसी शब्द के ग़ायब होने या प्रूफ़ की ग़लती या अन-अंतिम ड्राफ़्ट के कारण मानता हूं। 'अंधेरे' में कविता भी मुख्यतः दादरा ताल में है किंतु बीच बीच में कहीं ताल बदल भी देते हैं। जैसे□'ओ मेरे आदर्शवादी मन, अब तक क्या किया, जीवन क्या जिया' सात मात्रा की तेतरा ताल में पहुंच जाती है।

उन्हें अपनी कविताओं को संवारने और अंतिम रूप देने का जैसे वक़्त ही नहीं मिला। अंत के कई वर्ष तो बीमारी में और उससे पहले के वर्ष आर्थिक कठिनाइयों से जूझते गुज़रे। उन्हें सुकून की ज़िंदगी मिलती तो मुझे विश्वास है, यही कविताएं और सुंदर रूप में सामने आतीं।

ये चार पंक्तियां उनकी भविष्यवाणी के रूप में :

राजनीति साहित्य क्षेत्र भी
महा असत्य, शूकरों का है एक तमाशा
यद्यपि बोली जाती मुंह से
भारतीय संस्कृति की भाषा।

विवेक खंड-2/5
गोमती नगर लखनऊ-226010
फ़ोन : 80900222200

फिर से मुक्तिबोध

अशोक वाजपेयी

क्या मुक्तिबोध पर, उनकी जन्मशती के चलते, कुछ नये ढंग से सोचने का मुक़ाम आ पहुंचा है? अगर हां, तो क्यों? क्या अभी तक जैसे मुक्तिबोध को पढ़ा-समझा गया है वैसा उन्हें विजड़ित करता गया है? क्या विचारधारा से अलग मुक्तिबोध पर कुछ सोचने, उन्हें नयी रोशनी में देखने की ज़रूरत है? क्या मुक्तिबोध इस मायने में अद्वितीय हैं कि उनके द्वारा विन्यस्त सचाई, हमारे उलझे हुए 'सत्यातीत' समय में, उनके अपने समय से अधिक सच, अधिक भयावह, अधिक क्रूर होकर आज सामने है? क्या हम आज पहले से कहीं अधिक 'अंधेरे में' हैं? क्या हिंदी की आज की कविता पर मुक्तिबोध का प्रभाव, छाया आदि घटते गये हैं? क्या आज की हिंदी कविता, जिसमें पिछली अधसदी की कविता कमोबेश शामिल है, मुक्तिबोध-पथ से लगातार हटती गयी है? क्या मुक्तिबोध-पथ कभी बना ही नहीं : मुक्तिबोध एक बीहड़ का नाम है? क्या आज हिंदी के कविता की जिजीविषा, मुक्तिबोध की काव्य-चिंतन जिजीविषा की तुलना में, कम सघन, कम उत्कृष्ट, कम प्रखर, कम दीर्घकालीन, कम आत्मसंशयग्रस्त है? क्या कविता और साहित्य में लालित्य के स्थापत्य का जो ध्वंस मुक्तिबोध ने किया था उस लालत्यि का अंततः पुनर्वास हो गया? क्या कविता में आत्मसंघर्ष कम होता गया है और आत्मरति बढ़ती गयी है? क्या युवा पीढ़ी की भयावह और अथक आत्मरति मुक्तिबोध को अप्रासंगिक क़रार दे रही है?

इन प्रश्नों का कोई सिलसिलेवार उत्तर देना यहां अभीष्ट या संभव नहीं है। कुछ प्रस्ताव भर हैं जिन्हें मुक्तिबोध पर पुनर्विचार के क्रम में देखा जा सकता हैः उसमें जो पहले लिखा-कहा जा चुका है उसकी अंतर्ध्वनियां स्वाभाविक रूप से शामिल हैं।

पहला प्रस्ताव यह है कि मुक्तिबोध हिंदी कविता के स्थायी प्रतिलोम हैं। इसका आशय यह है कि वे अज्ञेय के प्रतिलोम होने के साथ-साथ नागार्जुन और त्रिलाचन के भी प्रतिलोम हैं। वे रघुवीर सहाय, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, कुंवर नारायण, विजयदेव नारायण साही, धर्मवीर भारती आदि के भी प्रतिलोम हैं। वे आज की अधिकांश महत्वपूर्ण कविता के प्रतिलोम हैं।

दूसरा प्रस्ताव है कि ऐसा लगता है कि हिंदी कविता ने अपने आधुनिक दौर में 'अभिव्यक्ति के ख़तरे' उतने नहीं उठाये जितने मुक्तिबोध ने अपनी कविता और वैचारिकी दोनों में। किसी तथाकथित मार्क्सवादी ने भी, मुक्तिबोध की तरह अराजक हो जाने की हद तक, लगभग असंप्रेषणीयता के कगार तक पहुंचने का ऐसा जोख़िम नहीं उठाया : न कविता में, न विचार में। दर असल, मार्क्सवादियों के बीच, मुक्तिबोध अकेले हैं जो बहुत आवेग और तर्कशीलता के साथ लगातार विचार-सक्रिय हैं। यह

सक्रियता उन्हें निरे मार्क्सवाद की सरहद के पार तक ले जाती है। अधिकांश हिंदी कविता ने संप्रेषणीयता के पक्ष में समझौते किये हैं।

तीसरा प्रस्ताव यह है कि मुक्तिबोध को हिंदी में विफलता के एक अनन्य प्रतिमान की तरह देखा जाना चाहिए। वे अपने जीवनकाल में अपने साहित्य के प्रकाशन में विफल रहे, संप्रेषण में अपने बीहड़ काव्य-स्थापत्य के कारण विफल थे, अपने समय के आलोचकों का विधेयात्मक ध्यान खींचने में विफल थे, वे मध्यप्रदेश के युवा कवियों का एक संचयन संभवतः अज्ञेय के सप्तकों की तर्ज़ पर, *नर्मदा की सुबह* नाम से संपादित करते रहे थे लेकिन उनके प्रकाशन में विफल रहे, वे अपने जीवनकाल में अपना एक भी कवितासंग्रह प्रकाशित करवाने में विफल रहे, उन्होंने जो वैचारिक-बौद्धिक आपत्तियां प्रगतिशीलता को ले कर की थीं उन पर कोई सार्थक बहस करवा सकने में विफल थे, वे छोटी कविता की लगभग तानाशाही के समय में लंबी कविताएं लिखने की अपनी आदत और ज़िद के कारण उन्हें प्रकाशित करवा पाने में विफल थे... उनका भौतिक जीवन भी कुल मिलाकर, विफल रहा। सफलता की अंधी दौड़ के युग मे ऐसी विफलता की क्या सार्थकता है इस पर हमने कितना कम विचार किया है? क्या यह सही नहीं है कि यह बेहद सघन-समृद्ध-सार्थक विफलता मुक्तिबोध की अद्वितीयता का हिस्सा है☐ अनिवार्य और शायद कारक भी? उनके एक घनिष्ठ श्रीकांत वर्मा की एक काव्य-व्यक्ति है : 'मैं अपनी विफलताओं का प्रणेता हूं'। मुक्तिबोध, दरअसल, ऐसे प्रणेता थे। वे सूर्य को छूने उड़नेवाले एक पक्षी, आइकेरस[1] या संपाती की तरह थे, जिसके ऐसी उड़ान में पंख झुलस गये थे।

'आत्मा के गुप्तचर' पद मुक्तिबोध का है : वह उसके दोनों अर्थों में उनकी कविता पर बखूबी लागू होता है। वह आत्मा की ओर से गुप्तचरी है और आत्मा में भी, गुप्तचरी है। मुक्तिबोध स्वयं ऐसे कवि-गुप्तचर हैं। उनकी कविता को ऐसे गुप्तचर की रिपोर्टों, आंखों देखे हाल की तरह देखा जा सकता है। इस हाल में अपनी शिरकत, अपनी हिस्सेदारी, अपनी ज़िम्मेदारी का जो निर्मम, वस्तुनिष्ठ और अचूक बखान है वह हिंदी कविता के इतिहास में अनन्य है। यह कवि-गुप्तचर दूसरों की, अपने समय-समाज-यथार्थ भर की ही जासूसी नहीं करता, वह स्वयं अपनी आत्मा, उसके अंधेरों, की भी जासूसी करता है। उनकी एक पंक्ति याद आती है : 'आत्मा में फैलती है/ ईमान की भाफ़ बन।' गुप्तचरी, ईमान की भाफ़ तले, की जाती है।

यह 'ईमान की भाफ़' मुक्तिबोध में आत्माभियोग और आत्मसंशय दोनों उपजाती है : मान ईमान की भाफ़ ठंडी होकर अभियोग और संशय में बदल जाती है। मुक्तिबोध हिंदी में सबसे बड़े आत्माभियोगी कवि हैं। वे दुनिया की बरबादी और ख़राबी के लिए दूसरों भर को नहीं अपने को भी ज़िम्मेदार मानते हैं। यह उनकी स्वाभाविक कवि-नैतिकता है। इस अर्थ में मुक्तिबोध जितने बड़े राजनैतिक कवि हैं, उससे कहीं बड़े नैतिक कवि हैं।

फिर, वे हमेशा संशयग्रस्त रहे : यह संशय सिर्फ़, इस तक सीमित नहीं था कि वे अपने कविकर्म

---

1. आइकेरस 'एक पक्षी' नहीं था! ग्रीक मिथक में वह महान कारीगर दीदालस का बेटा था, जिसने मोम और पंखों की मदद से कृत्रिम पंख बना कर उड़ने में सफलता हासिल की थी, बेटे को पंखों के साथ सूरज के निकट न जाने का उसने आदेश दिया था, मगर आइकेरस से ग़लती हो गयी, सूरज के निकट चले जाने पर मोम पिघल गया और वह समुद्र में गिरकर मर गया। संपाती के 'झुलसे' नहीं, रावण ने काटे, 'काटत पंख परा खग धरनी' ☐**संपादक**

के प्रति अनाश्वस्त थे गो कि यह अनाश्वस्ति उनके काव्य और चिंतन दोनों में देखी जा सकती है। वे अपनी प्रतिबद्धता को लेकर भी शंकालु थे। हिंदी की तथाकथित प्रगतिशील काव्यधारा में उन जैसा आत्मसंशयी कोई नहीं है। यह थोड़ा विचित्र भले है पर सही है कि विचारधारा ने प्रायः हरेक को आत्मविश्वास दिया है लेकिन मुक्तिबोध को आत्मसंशयी बनाया। ऐसे मुट्ठी भर लेखक थे, जिनमें नेमिचंद्र जैन, श्रीकांत वर्मा, हरिशंकर परसाई आदि शामिल थे जो उन्हें जीवनकाल में आश्वस्त करने में सफल नहीं हो पाये कि वे एक महत्वपूर्ण लेखक हैं। एक तरह से इस आत्मसंशय में स्वयं कविता की पर्याप्तता को लेकर भी संशय शामिल है। कविता की अपर्याप्तता का बोध अज्ञेय और शमशेर में भी है और बाद के कवियों में भी। बल्कि ऐसी अपर्याप्तता का बोध नयी कविता के स्वभाव में रहा है। मुक्तिबोध कविता को 'संवेदनात्मक ज्ञान, 'ज्ञानात्मक संवेदन' दोनों की विधा बनाना चाहते थे। उनकी कविताओं में कई बार यह नहीं हो पाता : उनके यहां कई बार भाववाचक संज्ञाओं का अंबार या घटाटोप है जो ज्ञान के संवेदन में न बदल पाने का लक्षण है।

मुक्तिबोध में गहरा ब्रह्मांड-बोध था : वैसा बोध किसी और में न तब था, न आज है। 'अरूप शून्य', 'नेब्युला', 'आकाशगंगाएं' आदि उनकी कविता में कई बार आये हैं। 'मुझे दिखी विराट् शून्यता अशांत कांपती/ कि इस उजाड़ प्रांत के प्रसार में रही चमक' जैसी पंक्ति यह कहने को उकसाती है कि वे विराट् के कवि थे : यह विराट्, अपना भूगोल दैनंदिन के यथार्थ लेकर अरूप ब्रह्मांड तक में अवस्थित करता है। उनके यहां जो अकस्मात् और अप्रत्याशित रूप से घटता है और बहुत नाटकीय, कई बार अतर्कित जैसा लगता है वह इसी विराट् का संभवतः हस्तक्षेप या उपस्थिति है। लगता है कि तुच्छ से तुच्छ भी मुक्तिबोध के यहां अंततः विराट् से अनुप्राणित हो जाता है।

अगर शमशेर चित्रमयता के कवि हैं तो मुक्तिबोध विचित्रता के। यह नोट किया जाना चाहिए कि मुक्तिबोध की राजनीति पर तो पर्याप्त ध्यान दिया गया है, उनकी नैतिकता और अध्यात्म कम लक्ष्य किये गये हैं। उन्हें किसी तरह की धार्मिकता से नहीं जोड़ा जा सकता। पर उसी सब कुछ के लिए ज़िम्मेदार अनुभव करने की वृत्ति निश्चय ही अपने मूल में आध्यात्मिक है। इस से जुड़ा एक पक्ष अंतःकरण पर उनके आग्रह का हे। उनकी समूची कविता को हमारे समय में अंतःकरण के विजड़ित या संक्षिप्त होते जाने के विरुद्ध और उसे कम से कम कविता में बचाने के लिए संघर्ष है। एक स्तर पर इसे मुक्तिबोध द्वारा अपनी मार्क्सवादी निष्ठा में आध्यात्मिक इज़ाफ़ा या बढ़त करने जैसा है। यह बड़े महत्व की बात है कि उनके यहां 'सत्-चित् का आनंद' की भारतीय परंपरा की अवधारणा बदलकर 'सत्-चित्-वेदना' हो जाती है। यह रेडीकल पुनर्पाठ या संशोधन है। अगर आत्मसंशय, आत्माभियोग, अंतःकरण और सत्-चित्-वेदना को मिलाकर रखें तो इसे मुक्तिबोध का अध्यात्म कहा जा सकता है। शायद इसमें विराट् के स्पंदन को भी जोड़ना चाहिए। इस अध्यात्म में गहरा यथार्थबोध भी था :

सत्ता है परब्रह्म
ईश्वर के आसपास
सांस्कृतिक लहंगों में
लफंगों का लास-रास

कहा जाता है कि महान् साहित्य में प्रेम और मृत्यु के अनिवार्य ध्रुवांत उपस्थित रहते हैं। हम देख सकते हैं कि मुक्तिबोध ने बहुत कम प्रेम कविताएं लिखीं : उनमें कोमलता-राग-लालित्य सिरे से, बेराहत होने की हद तक, ग़ायब हैं या बहुत कम हैं। इसी तरह उनके यहां मृत्यु का कोई अहसास, नश्वरता या कालबोध कविता में सक्रिय या विन्यस्त नहीं है। मुक्तिबोध का, प्रेम और काल-बोध के बिना, बड़ा कवि होना एक दुर्लभ संयोग है। लगभग अनोखी घटना है।

मुक्तिबोध की काव्य-भाषा के कुछ पक्ष विचारणीय हैं। जिस समय उन्होंने कविता लिखना शुरू किया था उस समय छायावाद और छायावादोत्तर काल चल रहे थे : उनकी भाषा में छायावाद का प्रभाव स्पष्ट देखा जा सकता है। पर उतना ही स्पष्ट है कि उन पर छायावादोत्तर काव्यभाषा का लगभग कोई प्रभाव नहीं पड़ता। उनकी भाषा अपने समकालीन प्रगतिशील कवियों की भाषा से भी ख़ासी अलग है। स्वयं नयी कविता में उन जैसी भाषा किसी और ने न पहले लिखी, न बाद में। वे मूलतः मराठीभाषी थे और उसके व्याकरण और वाक्यविन्यास में, जैसे, '... जागृति शुरू है' पंक्ति में मराठी का प्रभाव देखा-पहचाना जा सकता है।

मुक्तिबोध के कुछ अंतर्विरोध भी हैं। दो-तीन का उल्लेख किया जा सकता है। वे ज्ञानात्मक संवेदन और संवेदनात्मक ज्ञान के कविता में रसायन की अवधारणा सामने रखते हैं पर स्वयं उनकी कविता में यह रसायन संभव नहीं हो पाता : विचार संवेदन बन कर नहीं उभरते और संवेदना विचार में परिणत नहीं हो पाती। सृजन के जिन तीन क्षणों का उन्होंने विस्तार से प्रतिपादन किया है वे तीन क्षण उन्हीं की कविता में कई बार फलीभूत या चरितार्थ होते नहीं जान पड़ते। किसी भी कवि के सिद्धांत और उसके काव्य-व्यवहार में कुछ दूरी तो अनिवार्यतः होती है पर मुक्तिबोध के यहां यह दूरी कुछ अधिक नज़र आती है। वे अपने समय के बड़े काव्यासिद्धांताकार थे □अज्ञेय ही इस मामले में उन के समकक्ष और सहचर हैं। इसलिए शायद उनके यहां कुछ दूरियां, सिद्धांत और व्यवहार के बीच, अधिक लक्षित होती हैं। कविता में दृष्टि की स्थिति को लेकर भी मुक्तिबोध के यहां दुचित्तापन है : वे *कामायनी* की महत्ता, प्रसाद के दर्शन से असहमत होते हुए भी, स्वीकार और प्रतिपादित करते हैं, लेकिन *उर्वशी* को उसके दर्शन के आधार पर ही अस्वीकार कर देते हैं।

इस सबके बावजूद मुक्तिबोध ने अपनी कविता में जिस सचाई को खोजा और उसका तीखा बखान किया, उसकी अनेक अंधेरी तहों को खोला वह सचाई, उनकी मृत्यु के 53 वर्ष बाद, आज अधिक सच, अधिक स्पष्ट, अधिक क्रूर और हिंसक होकर हमारे सामने है। साहित्य में ऐसे उदाहरण तो हैं जब कोई कृति अपने समय के काफ़ी बाद प्रासंगिक लगे या नये ढंग से प्रासंगिकता पा ले। लेकिन मुक्तिबोध ने जिन अंधेरी और मनुष्यविरोधी शक्तियों और वृत्तियों की शिनाख़्त की थी वे हमारे समय और समाज में अपनी पूरी भयावहता में सच और असह्य हो उठी हैं। लगता है कि मुक्तिबोध ने इस समय और समाज के हश्र को एक अधसदी पहले देख-समझ लिया था। उस समय जब लिखी गयी थी उनकी कविता में अतिरेक लगता था, वही कविता आज इतनी सच और यथार्थपरक लगती है। आज की सचाई मानो उनकी कविता की सचाई को अधिक सच कर रही है, कई अर्थों में हम उनके बजाय आज अधिक अभेद्य 'अंधेरे में' हैं।

मुक्तिबोध का हिंदी के बाद की कविता पर जो प्रभाव पड़ा और धीरे-धीरे घटता गया है उसकी तुलना भारत पर गांधी के प्रभाव और उसकी वर्तमान शिथिलता से की जा सकती है। गांधी जी का नाम-जाप

बहुत होता है, उनके नाम पर अनेक अनुष्ठान और आयोजन होते रहते हैं, पर उनके बनाये-दिखाये रास्ते से भारत की राजनीति, सामाजिक जीवन, आर्थिकी, सांस्कृतिक सक्रियतता, बौद्धिक प्रयत्न आदि लगतार दूर हटते गये हैं और अब तो सत्तारूढ़ राजनीति पूरी तरह से उस रास्ते को धुंधलाने, अगम्य बनाने में लगी है। हिंदी कविता, हिंदी आलोचना, और हिंदी वैचारिकी ने मुक्तिबोध के साथ भी इसी तरह का सुलूक किया है : अपनी वैधता स्थापित करने के लिए उनके पथ के नामलेवा बहुत हैं, पर उस पर चलने की हिम्मत या हिमाकत प्रायः किसी ने नहीं की है। उनके ही शब्द लेकर कहें□'ऐसी ट्रैजेडी है नीच'। ऐसे गोत्रहीन, पूर्वजहीन और वंशजहीन कवि का हश्र शायद इसके सिवा और क्या हो सकता है! उनकी जन्मशती के दौरान हमें इस भीषण विडंबना को याद रखना चाहिए।

मुक्तिबोध 1960 के दशक में हिंदी में अवां गार्द थे : एक अधसदी बाद भी वे अवां गार्द बने हुए हैं। उन जैसा जोख़िम उठानेवाला कवि आज भी कोई नहीं है। मुक्तिबोध हिंदी के सबसे अकेले कवि हैं□लगता है दशकों तक बने रहेंगे।

ई-मेल : ashok_vajpeyi@yahoo.com

मुक्तिबोध : उत्पीड़न और नायकत्व

असद ज़ैदी

सन 1964 में गजानन माधव मुक्तिबोध की मृत्यु आधुनिक भारतीय साहित्य की केंद्रीय घटना है। हिंदुस्तान के सांस्कृतिक जीवन में पिछली सदी में किसी मृत्यु का इतना असर नहीं पड़ा। इसकी तुलना सिर्फ़ 1974 में कलकत्ते में उस्ताद अमीर ख़ां की अप्रत्याशित मृत्यु से ही की जा सकती है। अपने अपने रचना-क्षेत्र में ये दो हस्तियां लोगों की सामूहिक चेतना ही नहीं, अवचेतन का हिस्सा □ एक प्रधान उपस्थिति □ बन गयीं। इस मृत्यु के बाद ही से वह दौर शुरू हुआ, जिसे क़ायदे से हिंदी साहित्य और संस्कृति-चिंतन में मुक्तिबोध-युग कहा जाना चाहिए। इस युग को कुछ और नाम देना ऐतिहासिक और साहित्य के समाजशास्त्र के ऐतबार से सही नहीं होगा। अगर ऐसा अक्सर नहीं कहा जाता तो इसका संबंध हिंदी की दुनिया की शक्ति संरचना से है, न कि मुक्तिबोध की स्वतःसिद्ध केंद्रीयता से। नौकरीपेशा प्राध्यापकीय तबक़े, साहित्य के कारोबार को नियंत्रित करने वाली संस्थाएं और साहित्य-संस्कृति के दस-बीस स्वघोषित संरक्षक-पुरोहित मुक्तिबोध को लेकर शुरू ही से असहजता और दुचित्तेपन का इज़हार करते रहे हैं। न तो यह दुचित्तापन आज तक ख़त्म हुआ है, और न ही हिंदी 'रचना-संसार' के अवचेतन पर मुक्तिबोध की हुकूमत ख़त्म होती नज़र आती है।

मध्यवर्गीय दुचित्तेपन और उसके निहितार्थों पर काम करने वाले पहले आदमी मुक्तिबोध ही थे। उन्हें अपने दौर के बिगाड़ का, हर विचलन का पता था। वह उस समय की पेचीदगियों को भी समझते थे। यह नेहरू युग की निर्माणकारी और विध्वंसकारी दोनों प्रक्रियाओं पर गहरी नज़र रखते थे। नेहरू का दौर एक तरफ़ लोकतांत्रिक-संवैधानिक व्यवस्था के पल्लवन, नयी संस्थाओं के निर्माण और राष्ट्रीय विकास की आधार रचना का दौर था, वहीं दूसरी तरफ़ वह कम्युनिस्ट आंदोलन के आपराधिक दमन और शीतयुद्धीय नीति के तहत हर जगह से उनके बहिष्कार का दौर था। लोग आज कुछ भी कहें, यह एक ऐतिहासिक सचाई है। पूरे उत्तर भारत में कांग्रेस संगठन पर दक्षिणपंथियों का कब्ज़ा था, और नेहरू के पास इस दक्षिणपंथ का सीधे सामना करने का न हौसला था, न ताक़त। केंद्र से लेकर प्रांतों तक (संयुक्त प्रांत/उत्तर प्रदेश, मध्य भारत/मध्यप्रदेश, बंबई, महाराष्ट्र, बंगाल, बिहार) कांग्रेस में दक्षिणपंथी नेताओं का बोलबाला था। शिक्षा, संस्कृति और हिंदी प्रतिष्ठान पूरी तरह प्रतिक्रियावाद के कब्ज़े में था।

मुक्तिबोध ने स्पष्ट रूप से नेहरू युग के समझौते, अवसरवाद और जनद्रोह की प्रवृत्तियों को पनपते हुए देखा था। वे जानते थे कि भारतीय राजनीति का वह दौर दरअसल एक तरफ़ कांग्रेस के भीतर नेहरू धड़े की आधुनिक, उदार प्रगतिशील वृत्ति और दूसरी तरफ़ ज़्यादा वर्चस्वशाली कठोर दक्षिणपंथी धड़ों की

विचारधारा के बीच सुलह और समन्वय पर टिका है। लिहाजा 'नेहरू युग' को एकतरफ़ा ढंग से सेकुलर राजनीति, वैज्ञानिक और लोकतांत्रिक विवेक से संचालित समाज और राष्ट्रनिर्माण का दौर कहना एक रोमानी और ग़लत क़िस्म की समझ का नतीजा है। नेहरू युग का जो अर्थ आज हम लेते हैं, उस अर्थ में वह नेहरू युग था ही नहीं, न मुक्तिबोध ने उसे इस तरह देखा था। नेहरू खुद कितने ही प्रगतिशील और अंतर्राष्ट्रीयतावादी रहे हों, और समाजवादी देशों में उनकी जितनी भी स्वीकृति रही हो, भारतीय वामपंथी संगठनों के उतने ही दुश्मन थे जितना कि हिंदू महासभा और आर एस एस के। कोई भी तंज़ीम जो कांग्रेस के बाहर प्रगतिशील काम करती हो, उसे वह कांग्रेस का, और देश का दुश्मन ही समझते थे।

खुद साम्यवादी ☐ आज के साम्यवादी ☐ भूल गये हैं कि नेहरू-युग में एक साम्यवादी का जीवन कितना कठिन था। जब कोई संकट में पड़ता था उस समय जाति, रिश्तेदारी, मित्रता या पहुंच कुछ काम न आती थी। वामपंथियों को लेकर नेहरू सरकार की गृह और आंतरिक सुरक्षा नीति मैकार्थीवादी नीति थी, जिसके ज़िम्मेदार सिर्फ़ पटेल जैसे लोग ही न थे, वह पूरी राज्य-व्यवस्था भी थी जो अंग्रेज़ों ने सप्रेम उन्हें सौंप दी थी। कोई साम्यवादी न होगा जिस पर राज्य की, पुलिस की और मुख़बिरों की नज़र न हो, जो राजकीय कोप का शिकार न हुआ हो। मुक्तिबोध का अपना जीवन इसकी मिसाल है। लगभग सभी कम्युनिस्टों ने समाज में लंबे अरसे तक पर्सीक्यूशन झेला जिसकी छाया उनकी जीविका पर, उनके परिवारों पर, और उनकी अगली पीढ़ियों तक पर पड़ी। इस दौर में एक प्रगतिशील के लिए छिपने की एक ही जगह थी, कि वह कांग्रेसियों से संपर्क में रहे, अपनी वफ़ादारी साबित करे और कांग्रेस में आ मिले, और ज़िल्लत की रोटी खाकर गुज़ारा करे। लेकिन यह विकल्प भी सबके लिए उपलब्ध न था। नेहरू का लोकतंत्र कम्युनिस्टों के लिए नहीं बना था। कांग्रेस के बाहर का परिदृश्य और भी ख़राब था जहां या तो रामराज्य परिषद, भारतीय जनसंघ, स्वतंत्र पार्टी जैसी घोर प्रतिक्रियावादी पार्टियां थीं या फिर ग़ैरकांग्रेसवाद के पैरोकार लोहिया और उनका समाजवादी दल जो हरदम कांग्रेस के विरुद्ध सबको एकजुट करने के पक्षधर थे, लेकिन कम्युनिस्टों के जानी दुश्मन थे। मार्क्सवाद और कम्युनिज़्म-विरोध का जो काम दक्षिण और धुर दक्षिणपंथी किया करते हैं, वह भारत में लोहियावादियों ने जी-जान से संपन्न किया।

मुक्तिबोध ने अपनी प्रगतिशीलता इन कठिन परिस्थितियों में अर्जित की थी, और एक असुरक्षित जीवन की क़ीमत पर उसकी आबरू बनाये रखी। वह इसी युग में चल बसे, और आगे आने वाली और भी टेढ़ी और संदिग्ध परिस्थितियों को न देख सके। उनकी छवि एक शहीद की सी छवि की तरह आज तक बहुत लोगों के दिलो-दिमाग़ में है। उनका जीवन और चिंतन आज उतना ही प्रासंगिक है जितना नेहरू युग में था।

H H H

मुक्तिबोध के वैचारिक और रचनात्मक विकास का दौर शीतयुद्ध का दौर था। हिंदी में अज्ञेयवाद, प्रयोगवाद, नयी कविता और लोहियावादी संस्कृति चिंतन का बोलबाला था। इन प्रवृत्तियों से स्वस्थ बहस के लिए मुक्तिबोध हमेशा तैयार और व्याकुल रहते थे। लेकिन यही दौर हिंदी के वामपंथी साहित्य चिंतन के भीतर बढ़ते परंपराप्रेम और दक्षिणोन्मुखता का दौर भी था, जिसे कम्युनिज़्म की शब्दावली में संशोधनवाद का दौर भी कहा जाता है। इस दौर में मुक्तिबोध को एक वैचारिक और रचनात्मक अकेलेपन

में काम करना पड़ा। कोई बराबरी की संगत न थी। उनका मन वामपंथी राजनीतिक कार्यकर्ताओं, छात्रों, वामपंथी पत्रकारों, कुछ साथी शिक्षकों के बीच लगता तो था, लेकिन साहित्य, संस्कृति और मार्क्सवाद से जुड़े मसलों पर गहन बहस करें ऐसे जानकारों की कमी थी। उनकी कुछ गहरी दोस्तियां थीं, जिनमें से एक दोस्त तो ऐसे थे जो उनके ख़िलाफ़ मुख़बिरी किया करते थे, उनकी गतिविधियों की जानकारी सरकार को भेजा करते थे। मुक्तिबोध को इसकी जानकारी हो गयी थी और उनका दिल बहुत टूटा था। फिर भी वे खुशक़िस्मत थे कि अपने कुछ और अंतरंग मित्रों और उनसे प्रेरित युवकों को रंग बदलने और अपने निश्चयों के ख़िलाफ़ व्यवस्था में घुलमिल जाने के करुण दृश्य देखने से बच गये।

वामपंथी सांस्कृतिक धारा के भीतर मुक्तिबोध की स्वीकृति और अस्वीकार दोनों शुरू ही से मौजूद रहे हैं। रामविलास शर्मा और उनकी शिष्य परंपरा में उनका कोई सम्मान या सही पहचान दूर दूर तक देखने को नहीं मिलती। उनके समकालीन वामपक्षीय लेखकों में हरिशंकर परसाई और शमशेर बहादुर सिंह ही उनके सबसे महत्वपूर्ण हिमायती थे। शमशेर जी ने एक बार धीमे से कहा था कि मुक्तिबोध की मृत्यु में ही उनके पुनर्जीवन की (हिंदी की दुनिया में) चाबी मौजूद है। जब मैंने इसका आशय जानना चाहा तो वे बोले, 'वी आल शेयर हिज़ आफ़्टरलाइफ़।'

मुक्तिबोध के जीवन की विडंबना दो मर्मभेदी घटनाओं के ज़रिये सामने आती है। जब 11 सितंबर 1964 के दिन अखिल भारतीय आयुर्विज्ञान संस्थान में उनकी मृत्यु हुई तो अंत्येष्टि से पहले उनके शव को दिल्ली में उसी शख़्स के सरकारी आवास पर लाकर रखा गया जिसने अंतरंग मित्र होते हुए उनके ख़िलाफ़ मुख़बिरी की थी। कुछ ही दिन बाद उनकी याद में दिल्ली में पहली गोष्ठी उनके मित्रों और प्रशंसकों ने की, वह भी उसी आदमी के आवास पर हुई! अफ़सोस की बात यह है कि किसी को भी यह आपत्तिजनक न लगा। उस आदमी के दामन का दाग़ किसी को दिखायी न दिया! न तब, न बाद में। दूसरा वाक़या मक़बूल फ़िदा हुसेन से जुड़ा है। हुसेन मुक्तिबोध की अंतिम यात्रा में शरीक थे। वे उनके मित्रों के मित्र थे और मुक्तिबोध के महत्व से कुछ हद तक वाक़िफ़ थे। शवयात्रा में चलते हुए उनके दिल में ख़याल आया कि इतना बड़ा लेखक और बुद्धिजीवी कितने अभाव, उपेक्षा और लगभग गुमनामी की हालत में दुनिया से रुख़सत हो रहा है, और हम उसके लिए कुछ न कर सके। उन्होंने वहीं अपने जूते छोड़ दिये और तमाम रास्ते श्मशान तक नंगे पांव चले। हुसेन का कहना था, 'मुझे लगा कि इतना तो मैं कम-अज़-कम कर ही सकता हूं।' उनके नंगे पांव चलने में पश्चात्ताप, शोक और अक़ीदत का मिला-जुला ज़ज्बा था। हुसेन साहब ने खुद मुझसे कहा कि जिस चीज़ को (यानी नंगे पैर चलने को) उनकी एक जानी-पहचानी 'अदा' कहा जाता है, उसकी शुरुआत मुक्तिबोध की मौत के सदमे से हुई थी। ये दो मामूली घटनाएं मुझे नेहरू युग की गहरी नैतिक फांक का प्रतिनिधि रूपक लगती हैं।

H H H

आज विभिन्न प्रकार के सैद्धांतिक दूर-दूर ही से मुक्तिबोध को रहस्यवादी, खंडित चेतना का चितेरा इत्यादि कहते रहते हैं, या कुछ ज़्यादा निर्लज्ज तत्व बार-बार उनकी पारिवारिक पृष्ठभूमि (महाराष्ट्रियन ब्राह्मण) में ही उनकी मूल सृजनात्मक चेतना का उत्स देखते हैं और उन्हें वामपंथियों से 'मुक्त' करके अपना लेना चाहते हैं। उधर वामपंथ के कई पहरेदारों ने भी (ख़ासकर रामविलास शर्मा और उनके अनुयायियों ने) मुक्तिबोध को 'डिसओन' किया हुआ है। मुक्तिबोध के इस अपहरण, 'लिबरेशन' या

बरख़ास्तगी की योजना का दिलचस्प पक्ष यह है कि मुक्तिबोध के घर पर कोई पहरा तो है नहीं, द्वार खुले हैं और मुक्तिबोध वहां मौजूद हैं □ संगत को तैयार। सवाल यह है कि क्या मुक्तिबोध के ये अपहरणकर्ता उनकी बग़ल में बैठने को तैयार हैं? क्या उनकी सोहबत इन्हें गवारा होगी?

हिंदी के साहित्यिक दक्षिणपंथी और उनकी देखादेखी कुछ उदारवादी मुक्तिबोध पर पुनर्विचार की बात किया करते हैं। विचारशील लोगों को विचार अथवा 'पुनर्विचार' के लिए किसी ऐलान या आयोजन की ज़रूरत नहीं होनी चाहिए। विचार अपने में एक जारी सिलसिला है जो इंसान की ज़ेहनी फ़िज़ा और बौद्धिक कार्यव्यापार को आंदोलित किये रहता है। हर नये विचार, अकुलाहट या आकलन को पुनर्विचार कहा भी नहीं जाता। यह अधकचरापन और ख़ामख़याली है। अनुभव, प्रयोग, दिमाग़ी मेहनत, और संवाद की मंज़िलों से गुज़रकर और अपने वक़्त के हालात से मानूस होकर, उनसे गहरी जद्दोजहद करते हुए कभी कभी लोगों का सामूहिक आलोचनात्मक श्रम और रचना-कर्म अपने कुल जमा (कुमुलेटिव) असर से पुनर्विचार की ज़मीन तैयार करता है। साहित्य और कलाओं की दुनिया में बड़े परिवर्तन साल में दो बार, खुद से और इतनी आसानी से, नहीं आते। मुक्तिबोध पर 'पुनर्विचार' एक संदेहास्पद अकुलाहट का नतीजा लगती है। कुछ लोग विचार से पहले पुनर्विचार के लिए बेताब हैं। सौवां साल (2017) पूरा हो रहा है। यानी अगले तीन-चार साल मुक्तिबोध पर सघन 'पुनर्विचार' के साल होंगे। चूंकि उसी साल रूसी क्रांति की सौवीं सालगिरह भी पड़ रही है, तो लाज़िम है कि यह एक दोहरा पुनर्विचार हो। इन पुनर्विचारकों के विचार वही हैं जो वे दशकों से □ शीतयुद्ध काल से □ बताते आ रहे हैं, वे बस नये सिरे से धावा बोलने की तैयारी कर रहे हैं। उन्हें लगता है परिस्थिति अब ज़्यादा अनुकूल है। कोशिश है कि फिर से मरहूम पर दावा पेश किया जाये और मुक्तिबोध जन्म शताब्दी वर्ष के आते आते भारतीय वाम-परंपरा के इस महान विचारक, कवि और लेखक की स्मृति पर नरम दक्षिण-अति दक्षिण गठबंधन के तहत एक भगवा-श्वेत दुरंगा फहरा दिया जाये। प्रतिगामिता कभी उम्मीद का दामन नहीं छोड़ती। उसे भगत सिंह की 'घर वापसी' चाहिए और गजानन माधव मुक्तिबोध की भी। भारत में पूंजी हर जगह अपनी ताक़त दिखा रही है। दूसरी ही तरह के 'पुनर्विचार' के युग में हम आ गये हैं। पिछले संसदीय चुनाव में सिक्काबंद हिंदुत्ववादी राजनीतिक गठबंधन की जीत के बाद उनके सांस्कृतिक प्रवक्ताओं ने सार्वजनिक मंचों से बोलकर भी और लिखकर भी ऐलान कर दिया है कि शिक्षा, संस्कृति, नागरिक आचार और अधिकार व्यवस्था, लोगों के रंग-ढंग और जीवन शैली हर चीज़ पर पुनर्विचार और उसके आमूलचूल पुनर्गठन का वक़्त आ गया है, और यह कि अब उन्हें जनादेश प्राप्त है। यह पुनर्विचार नहीं, समाज के फ़ासिस्ट पुनर्गठन की मांग और धमकी है। मुक्तिबोध का वाक़या भी अजीब है। उनके मरणोपरांत जिन लोगों ने उनके साहित्यिक उद्धार का ज़िम्मा लिया, उनके हाथ से वे मरहूम बहुत जल्दी छूट निकले। उनमें से जो उद्धारक बचे रह गये हैं आज तक हाथ मलते हैं। अब नरेंद्र मोदी के शासनकाल में फ़िज़ा साज़गार हुई है। उन्हें अपनी 'जागीर' वापस चाहिए।

मो. : 09868126587

मुक्तिबोध को कैसे पढ़ें?

प्रियदर्शन

मुक्तिबोध को मैंने क़ायदे से कभी नहीं पढ़ा, लेकिन बेक़ायदा इतनी बार पढ़ा कि वे बहुत अपने-से लगते हैं। ऐसे बेक़ायदा पठन-पाठन की दुर्घटना मेरे अध्ययन के संदर्भ में दूसरे लेखकों को भी झेलनी पड़ी है, लेकिन मुक्तिबोध को लेकर यह इसलिए विशिष्ट हो उठती है कि इसकी वजह से मुक्तिबोध के जो कुछ 'नियत' पाठ हैं, उनसे मैं अछूता या अप्रभावित तो नहीं, लेकिन कुछ मुक्त रह सका। कई बार मेरा इस बात पर ध्यान जाता है कि मुक्तिबोध को जानने-समझने के दो बड़े रूपक ऐसे बन चुके हैं जो जाने-अनजाने हमारी समूची सोच को प्रभावित करते हैं। एक तो अक्सर मुक्तिबोध को 'अंधेरे में' के आलोक में पढ़ा जाता है जो शायद बहुत ग़लत भी नहीं है। कई लोग यह मानते हैं कि मुक्तिबोध का समग्र लेखन जैसे इस 'अंधेरे में' तक पहुंचने की एक यात्रा रहा है, या फिर उनकी ढेर सारी कविताओं को, जिनमें 'चांद का मुंह टेढ़ा है', 'ब्रह्मराक्षस' या फिर 'भूल-ग़लती' जैसी बार-बार दुहराई जाने वाली कविताएं भी हैं, जिन्हें 'अंधेरे में' की पूर्वपीठिका की तरह पढ़ा जा सकता है। इस विचार ने मुक्तिबोध के बहुत जटिल काव्य संसार को समझने की जो आलोचकीय दृष्टि विकसित की है, उसका अपना एक अनुपेक्षणीय महत्व है, लेकिन इसने साथ-साथ इन कविताओं का एक 'सरल पाठ' भी तैयार कर दिया है जिसे शायद मुक्तिबोध भी किंचित संशय से देखते। दूसरी बात यह हुई है कि मुक्तिबोध के विपुल लेखन संसार के जो दूसरे पक्ष हैं, वे कुछ छूटते चले गये हैं।

'अंधेरे में' के अलावा मुक्तिबोध का दूसरा रूपक जाने-अनजाने उनकी उस तस्वीर से बनता है जो उनकी छह खंडों में प्रकाशित *मुक्तिबोध रचनावली* के कवर पर है। और शायद प्रतिनिधि कविताओं के कवर पर भी। काफ़ी कृशकाय और अकालवृद्ध से दिख रहे, एक तीली से बीड़ी सुलगाते मुक्तिबोध इतनी बार हमारी निगाहों से गुज़रे हैं कि कई बार हम यह भूल से जाते हैं कि कोई युवा मुक्तिबोध भी रहे होंगे। फिर कहना होगा कि यह तस्वीर बहुत मानीख़ेज है□मुक्तिबोध की बीहड़ता को अपनी तरह का एक अर्थ प्रदान करती है, लेकिन इस क्रम में उनकी कई दूसरी छवियां ओझल हो जाती हैं।

जबकि मुक्तिबोध का मेरा पाठ, शायद अपने अधूरेपन की वजह से, मुक्तिबोध की आलोचना की तनी हुई रस्सियों के पार 'अंधेरे में' के वृत्त के बाहर मिलने वाली रोशनियों में कई बार ज़्यादा रमता है। मसलन, मुझे उनकी एक कविता 'बहुत दिनों से' बार-बार जैसे आमंत्रित करती है कि उसे पढ़ा जाये□ 'मैं बहुत दिनों से बहुत दिनों से / बहुत-बहुत सी बातें तुमसे चाह रहा था कहना / और कि साथ-साथ यों साथ-साथ / फिर बहना बहना बहना / मेघों की आवाज़ों से / कुहरे की भाषाओं से / रंगों के उद्भासों

से ज्यों नभ का कोना कोना / है बोल रहा धरती से / जी खोल रहा धरती से / त्यों चाह रहा कहना / उपमा संकेतों से / रूपक मौन प्रतीकों से / मैं बहुत दिनों से बहुत दिनों से / बहुत-बहुत सी बातें तुमसे चाह रहा था कहना! / जैसे मैदानों को आसमान / कुहरे की मेघों की भाषा त्याग / बिचारा आसमान कुछ / रूप बदल कर रंग बदल कर कहे।'

यह सच है कि ऐसा निरभ्र आसमान मुक्तिबोध के यहां हमेशा नही मिलता□कोमलता की ऐसी निष्कंटक व्याप्ति उनमें दुर्लभ है, लेकिन वह है, इसकी पहचान होनी चाहिए। इसी तरह 'मुझे क़दम क़दम पर' आस्था और भरोसे की ऐसी कविता प्रतीत होती है जिसको बार-बार पढ़ने की इच्छा होती है- 'मुझे क़दम-क़दम पर / चौराहे मिलते हैं / बांहें फैलाएं!!... मुझे भ्रम होता है कि प्रत्येक पत्थर में / चमकता हीरा है / हर एक छाती में / आत्मा अधीरा है / प्रत्येक सुस्मित में विमल सदानीरा है / मुझे भ्रम होता है कि प्रत्येक वाणी में / महाकाव्य पीड़ा है / पल भर मैं सबमें से गुज़रना चाहता हूं..।'

मेरा यह कतई प्रस्ताव नहीं है कि मुक्तिबोध को उनकी इन्हीं कविताओं के आईने में पढ़ा जाये, बस इतना है कि अगर मुक्तिबोध को उनकी समग्रता में देखा जाये तो शायद उन अंधेरों की ज़्यादा बेहतर निजी और सार्वजनिक शिनाख्त संभव हो जिन्होंने मुक्तिबोध को इस तरह घेर लिया था कि जीवन और रचना दोनों में उनसे वे मुक्त नहीं हो पाये।

निस्संदेह, इस काम में हमारी कुछ मदद उनका वह विपुल गद्य लेखन कर सकता है जो शायद उनके कवि व्यक्तित्व के आगे फिर से कुछ अलक्षित रह गया है। मुक्तिबोध की कहानियां पढ़ते हुए ख़याल आता है कि जिसे हम नयी कहानी के नाम से पहचानते हैं, उसके बीज ही नहीं, प्रारंभिक प्रस्फुटन भी मुक्तिबोध की कहानियों में प्रचुरता से मिलते हैं। बिल्कुल 20-22 बरस की उम्र में लिखी गयी उनकी कहानियां रिश्तों के द्वंद्व को इस परिपक्वता और साहस से पकड़ती हैं कि हैरानी होती है। अपने एक मित्र के प्रति अपनी बहन के उदार रवैये की वजह से कहीं अवचेतन में बसी ईर्ष्या को 'वह' नाम की उनकी कहानी बेजोड़ ढंग से सामने रखती है। इसी तरह 'मैत्री की मांग' नामक कहानी की शादीशुदा नायिका अपने पति से प्रेम करते हुए भी अचानक मिले एक प्रबुद्ध शख़्स के प्रति लगभग आसक्त हो उठती है□हालांकि अंततः जब वह जा रहा होता है तो घर में अपने को क़ैद कर लेती है। यह कहानी मुक्तिबोध ने चालीस के दशक के उस दौर में लिखी थी जब महिलाओं के मर्यादित व्यवहार के आदर्श कहानियों के विषय हुआ करते थे। निस्संदेह, कई अधूरी छूटी और कुछ पूरी हो पायी इन कहानियों में अपनी जटिलता है, लेकिन यहां एक अलग मुक्तिबोध दिखायी पड़ते हैं जो कविता के बीहड़ में घुसकर, अंतरात्मा के गह्वरों में उतर कर अपनी अभिव्यक्ति खोजते हुए लगभग ख़ुद की समिधा देते मुक्तिबोध से अलग हैं।

इसी तरह उनके वैचारिक लेखन की भी कई परतें हैं। वे साहित्य, समाज, राजनीति और जीवन पर जितनी गहनता से विचार करते हैं, जिस तरह विश्व साहित्य की चर्चा करते हैं, वह आश्चर्य में डालने वाला है। समय और साहित्य के अंतःसंबंधों पर जैसे वे बार-बार विचार करते हैं, छायावादी कविता की श्रेष्ठता की धारणा के प्रति वे संशयशील दिखायी पड़ते हैं और उनका वैचारिक मोह उन प्रगतिशील कविताओं के पक्ष में ज़्यादा दिखायी पडता है जो जनता के बीच कहीं ज़्यादा बेहतर तादात्म्य बिठा पाती हैं। दिलचस्प यह है कि कविताओं में वे जितने एकाकी दिखते हैं, इन लेखों में उतने ही संवादप्रिय नज़र आते हैं। अक्सर उनके लेख किसी बातचीत, किसी बहस, मित्र से किसी चर्चा के उल्लेख के साथ शुरू

होते हैं और फिर किसी गहन विषय से जा जुड़ते हैं। *कामायनी* का वे नया पाठ करते हैं और श्रद्धावाद को घनघोर व्यक्तिवाद बताते हुए इसे जनता को बरगलाने का एक औज़ार मानते हैं जिसे पतनशील पूंजीवाद इस्तेमाल करता है। अनायास इतने बरस बाद अचानक हम पाते हैं कि मुक्तिबोध ने जिस सच्चाई की ओर इशारा किया था, वह हमारी राजनीति का बिल्कुल तात्कालिक सत्य है□जनता को बरगलाने के लिए व्यक्तिवाद और श्रद्धावाद का इस्तेमाल।

बहरहाल, यह मुक्तिबोध का मूल्यांकन नहीं है, बस इस ओर इशारा है कि मुक्तिबोध के समग्र मूल्यांकन के लिए जो दृष्टि ज़रूरी है, वह उनके काव्य संसार से बाहर जाकर उनके वैचारिक क्षितिजों के अनुसंधान से भी समृद्ध होगी। मुक्तिबोध में बहुत गहरा अंधेरा है, बहुत गहरी यातना है, बहुत तीव्र मानवीय छटपटाहट है, इन सबसे मुक़ाबला कर सकने का अगाध साहस भी है, बहुत गहरी कोमलता भी है और ऐसी अचूक दृष्टि है जो कभी-कभी बिल्कुल बेधक हो उठती है। उनकी पूरी रचनाशीलता सूक्तियों से जैसे भरी है, लेकिन वे बाज़ार को उन सूक्तियों का इस्तेमाल करने नहीं देते। कीर्ति व्यवसायियों के खेल उन्हें मालूम हैं और उन जैसा कवि ही 'देख कीर्ति के नितंब इठलाते' जैसी कविता लिख सकता है।

दरअसल, जिस तरह मुक्तिबोध को पढ़ना हमेशा अधूरा छूट जाता है, उसी तरह उन पर लिखना भी अधूरा ही रह जाता है। उनकी कविता का, बल्कि पूरी रचनाशीलता का जो घर है, उसमें इतने दरवाज़े हैं, इतनी खिड़कियां हैं, उससे इतनी गलियां खुलती हैं कि आप कुछ को देख पाते हैं और कुछ को याद करते हैं कि उसे देखना छूट ही गया। आप फिर से पलटते हैं और पाते हैं कि दरवाज़े कुछ और हो गये, खिड़कियां कुछ और हो गयीं। नहीं, मुक्तिबोध इसे किसी तिलिस्म से नहीं साधते, उनके यहां जैसे कविता लिखे जाने या पढ़े जाने के बाद भी ख़त्म नहीं होती, वह चलती रहती है, रूप बदलती रहती है। उसे आप जब चाहें, पढ़ सकते हैं□इस भरोसे के साथ कि कुछ नया ज़रूर मिलेगा।

ई-4, जनसत्ता सोसाइटी
सेक्टर-9, वसुंधरा
ग़ाज़ियाबाद
फोन : 9811901398

पत्रकार मुक्तिबोध : कुछ फुटकर टिप्पणियां

राजेंद्र शर्मा

मुक्तिबोध की कविताओं और कहानियों से गुज़रने के लंबे अभ्यास के बाद अचानक पत्रकार मुक्तिबोध से भेंट इस क़दर हैरान करती है कि यकायक कुछ कहना मुश्किल हो जाता है। कविताओं और कहानियों की दुनिया□और वह भी मुक्तिबोध की कविताओं और कहानियों की दुनिया□और एक पत्रकार की दुनिया में क्या रिश्ता हो सकता है? हां! उस असंबंध के संबंध की बात दूसरी है जो बहुत बार पेशे से पत्रकार लेखकों के 'लेखन' की दो दुनियाओं के बीच देखने को मिलता है। एक ओर लेखन होता है और दूसरी ओर लेखन से रोटी कमाने से भिन्न, रोटी के लिए लेखन। खैर! मुक्तिबोध के लेखन की इन दो दुनियाओं के बीच कम-से-कम ऐसा असंबंध का संबंध हर्गिज़ नहीं है। उल्टे अपनी सारी भिन्नताओं के बावजूद, इन दोनों दुनियाओं में एक ज़बर्दस्त आवाजाही है। और मुक्तिबोध के यहां तो बाक़ायदा इस आवाजाही के लिए एक पुल ही बना हुआ है। यह पुल है, मुक्तिबोध का साहित्यिक-सांस्कृतिक आलोचनात्मक लेखन। यह कहने में अतिशयोक्ति नहीं होगी कि मुक्तिबोध का पत्रकारीय लेखन उनकी सामाजिक आलोचना का ही समकालीन व्यवहार है।

I

यहां शुरू में ही एक चीज़ स्पष्ट कर देना ज़रूरी है। मुक्तिबोध की पत्रकारिता वास्तविक है। यह सिर्फ़ नाम के वास्ते पत्रकारिता और वास्तव में साहित्यिक लेखन का मामला नहीं है। यह साहित्यिक पत्रकारिता का मामला तो हर्गिज़ नहीं है। यह बाक़ायदा पत्रकारिता है, जिसके केंद्र में समकालीन घटना-विकास हैं। बेशक, यह बहुत ही अर्थपूर्ण है कि पत्रकारीय लेखक के रूप में (*मुक्तिबोध रचनावली*□खंड-6, प्रथम संस्करण, 1980 में) उपलब्ध, मुक्तिबोध के पचास से ज़्यादा लेखों-टिप्पणियों में से मुश्किल से आधा दर्ज़न का संबंध मूलतः साहित्यिक-सांस्कृतिक चिंताओं से होगा, जबकि तीन दर्ज़न से कुछ ही कम अंतरराष्ट्रीय घटनाक्रम, समस्याओं तथा रुझानों के गहरे विश्लेषण पर केंद्रित हैं। हां, एक दर्ज़न के क़रीब टिप्पणियां ज़रूर ऐसी हैं जिन्हें राष्ट्रीय राजनीतिक-आर्थिक घटना-विकास पर केंद्रित कहा जा सकता है। लेकिन इनमें से भी अधिकांश, कोई सामान्य भावोद्गार न होकर ठोस समकालीन घटना-विकास से सबंधित हैं। बेशक, ये सभी टिप्पणियां, मंझले या लंबे आकार के लेखों के रूप में ही हैं। इस माने में इन्हें रिपोर्टिंग की पत्रकारिता से भिन्न, संपादकीय पत्रकारिता का फल कहा जा सकता है। याद रहे कि मुक्तिबोध ने कुछ वर्षों तक बाक़ायदा *नया ख़ून* के संपादक की ज़िम्मेदारी भी संभाली थी और यह उनकी

इकलौती संपादकीय ज़िम्मेदारी नहीं थी।

बहरहाल, अंतरराष्ट्रीय और राष्ट्रीय, दोनों ही तरह के विषयों पर मुक्तिबोध के इस पत्रकारीय लेखन में दृष्टि का जैसा पैनापन है और विश्लेषण की जैसी गहराई है, वह हैरान करने वाली है। नेमिचंद्र जैन ने (ग्रंथावली की भूमिका में) बिल्कुल सही कहा है कि मुक्तिबोध के जैसे, 'मनमौजी कवि-साहित्यकार के लिए हर सप्ताह अंतरराष्ट्रीय घटनाओं अथवा देश की राजनीतिक, आर्थिक समस्याओं पर इतने आधिकारिक और अध्ययनपूर्ण ढंग से टिप्पणी करना बहुत आसान काम नहीं रहा होगा।' बहरहाल, इस मुश्किल काम को मुक्तिबोध बरसों तक और लगातार करते रहे थे, हालांकि उनके पत्रकारीय लेखन का सबसे उर्वर दौर साठ के दशक के मध्य का दौर ही है, जब नागपुर से प्रकाशित साप्ताहिकों, *नया खून* और *सारथी* में मुक्तिबोध लगातार लिख रहे थे। वास्तव में मुक्तिबोध का यह पत्रकारीय लेखन इस अर्थ में हिंदी लेखकों की पत्रकारिता में एक प्रकार से सम्माननीय अपवाद ही माना जायेगा कि हिंदी लेखकों की पत्रकारिता आम तौर पर सामाजिक विज्ञानों की दुनिया में अपने समय में हो रहे विकासों से, उनकी चिंताओं तथा प्रश्नों से और उनसे जुड़े समकालीन दुनिया के अध्ययन से, बहुत हद तक अछूती ही बनी रही है। वास्तव में, हिंदी पत्रकारिता में सभी स्तरों पर परंपरागत रूप से लेखकों के बोलबाले को देखते हुए, इसका अर्थ यह भी है कि आम तौर पर हिंदी पत्रकारिता की दुनिया भी बहुत हद तक ज्ञान-विज्ञान के इस समकालीन उद्यम से अछूती ही बनी रही है। इसी का नतीजा है कि हिंदी में न सिर्फ़ सामाजिक विज्ञानों में मौलिक लेखन-चिंतन का भारी अकाल रहा है बल्कि पत्रकारिता के ज़रिये इस अकाल का हिंदी को बरतने वालों के आम समूह के बीच भी प्रक्षेपण तथा प्रसार किया गया है। मुक्तिबोध की पत्रकारिता इस 'सामान्य' को चुनौती देती नज़र आती है।

वैसे यहां इतना जोड़ना शायद अप्रासंगिक नहीं होगा कि अस्सी के दशक से हिंदी पत्रकारिता ने कथित रूप से पत्रकारिता के रूप में अपना जो 'आपा' हासिल किया है, उसमें कथित 'साहित्यिकता' को पत्रकारिता से देशनिकाला देने की प्रक्रिया में, वास्तव में मक्खी से निजात पाने के लिए दूध को ही नाली में उंडेल दिया गया है। साहित्यिकता अगर पत्रकारिता में भावुकता लाती थी, जिसका अतिरेक तथ्यों को ढांप लेता था, तो विशेष रूप से हिंदी के संदर्भ में और राष्ट्रीय आंदोलन से चली आती लेखन तथा पत्रकारिता के गहरे संबंध की परंपरा के संदर्भ में, यह साहित्यिकता पत्रकारिता को मूल्यों का आधार भी देती थी, जिनमें एक सबसे महत्त्वपूर्ण मूल्य जन या लोक के साथ जुड़ाव, उसकी चिंता का भी था। भावुकता के साथ-साथ मूल्य-आधार से भी मुक्त होकर हिंदी पत्रकारिता कहां पहुंची है और किस तरफ़ जा रही है, यह कहने की ज़रूरत नहीं होनी चाहिए।

मुक्तिबोध की पत्रकारिता इस सबसे बिल्कुल अलग खड़ी दिखायी देती है, क्योंकि उनके लिए पत्रकारिता उसी बृहत्तर बौद्धिक उद्यम का एक पहलू है जिसके अन्य पहलू मुक्तिबोध के ही रचनात्मक लेखन तथा साहित्यिक-सांस्कृतिक आलोचनात्मक लेखन से बने हैं। मुक्तिबोध का यह बौद्धिक उद्यम जिन मूल्यों से, जिन चिंताओं से और जिन प्रक्रियाओं से संचालित है, उन सबकी उपस्थिति, ज़ाहिर है कि अपनी ही विशिष्टता के साथ, मुक्तिबोध के पत्रकारीय लेखन में भी मिलेगी। ऐसा नहीं है कि मुक्तिबोध का पत्रकारीय लेखन आर्थिक दबाव से सर्वथा मुक्त रहा हो। उल्टे मुक्तिबोध के पत्रों पर एक नज़र डालने से ही इसका अंदाज़ा लग जाता है कि उनका लेखन, जिसमें पत्रकारिता भी शामिल है, कैसे भारी आर्थिक दबाव में तथा अभावों के बीच हो रहा था। इसके बावजूद, मुक्तिबोध जैसे प्रकाशन के ज़रिये

अर्जन की भारी मजबूरी के बावजूद और अक्सर प्रकाशकों के असावधान चुनाव के बावजूद, अपनी किताबों को इन दबावों से प्रभावित नहीं होने देते हैं, वही उनके पत्रकारीय लेखन के साथ भी है। इसीलिए मुक्तिबोध की रेडिकल विश्वदृष्टि तथा उसके आधार में मौजूद असाधारण रूप से विकसित इतिहास दृष्टि से लेकर उनकी ट्रेड मार्क स्वयं से ज़िरह की मूल विचार-पद्धति तक, मुक्तिबोध का समूचा विचार संसार उनके पत्रकारीय लेखन में भी देखने को मिलता है, लेकिन अपनी विशिष्टता के साथ।

इस विशिष्टता का संबंध इस तथ्य से है कि मुक्तिबोध कोई आइवरी टॉवर पर बैठे बुद्धिजीवी नहीं हैं। वास्तव में, जैसा कि मुक्तिबोध के सभी पाठक जानते हैं, मुक्तिबोध ऐसी बौद्धिक-साहित्यिक मुद्रा से गहरी नफ़रत करते हैं। उनके समूचे लेखन में लोगों से जुड़ने की गहरी तड़प है, उसके लिए गहरा आत्मसंघर्ष है। जन से सीधे संबोधन अपने पत्रकारीय लेखन में मुक्तिबोध संभव भी कर पाये हैं। अपने विचारों की रेल-पेल के बावजूद, इन लेखों की भाषा तथा वस्तु का अपेक्षाकृत सहज होना इसी का पता देता है। इसमें अभ्यास के साथ निरंतर परिष्कार भी देखने को मिलता है। दरअसल, यह कहना ग़लत नहीं होगा कि मुक्तिबोध पत्रकारीय लेखन को विशेष रूप से लोगों से सीधे संबोधित होने का ज़रिया मानते हैं और ऐसे काम की तरह लेते हैं जिसका महत्त्व और किसी काम से कम नहीं है, शायद रचनात्मक लेखन से भी नहीं। यह उनके लेखन में एक ओर संप्रेषणीयता पैदा करता है, तो दूसरी ओर गहराई भी। यही गहराई अगर अंतरराष्ट्रीय-राष्ट्रीय प्रश्नों पर उनके लेखन में असाधारण 'आधिकारिकता और अध्ययनपूर्णता' के रूप में दिखायी देती है, तो सामाजिक-सांस्कृतिक प्रश्नों पर उनके लेखन में वैचारिक सघनता के रूप में भी दिखायी देती है।

II

अंतरराष्ट्रीय घटना-विकास पर मुक्तिबोध की पत्रकारीय टिप्पणियां, जिनमें अधिकांश 1954 से 1957 के बीच एक प्रकार के अंतरराष्ट्रीय विषयों के साप्ताहिक स्तंभ के रूप में मुख्यतः *सारथी* में प्रकाशित हुई हैं, उस दौर की अधिकांश महत्त्वपूर्ण और ख़ासतौर पर तीसरी दुनिया के एक देश के नाते भारत के लिए महत्त्वपूर्ण घटनाओं का व्यापक कवरेज़ तो प्रस्तुत करती ही हैं, इन घटनाओं को समझने की गहरी अंतर्दृष्टि भी सामने लाती हैं, जो साम्राज्यवाद-विरोध और तीसरी दुनिया या विकासशील दुनिया के हितों के प्रति प्रतिबद्धता तथा समाजवादी देशों के प्रति सहानुभूति के उत्प्रेरणों से संचालित है। ठीक इसीलिए, चाहे हिंद-चीन का मसला हो या स्वेज संकट या अल्जीरिया का मसला या अरब देशों का मसला या एशियाई तथा अफ़्रीकी देशों की एकजुटता का सवाल, हरेक मामले में मुक्तिबोध अविचल तीसरी दुनिया की जनता के पक्ष में खड़े होते हैं, हालांकि इसके साथ ही वे असाधारण बारीकी से इनमें से हरेक मामले में एक ओर साम्राज्यवादी दांव-पेंच तथा दूसरी ओर साम्राज्यवादी ताक़तों की आपसी खींच-तान की भी पड़ताल करते हैं। स्वाभाविक रूप से इस सबके बीच वे इसे विशेष रूप से सकारात्मक मानते हैं कि 'आज दुनिया में तटस्थ देशों का महत्त्व और प्रभाव स्थापित हो गया है। इन बढ़ते हुए, विकसित होते हुए, नवस्वाधीन देशों से अच्छे ताल्लुक़ात कायम कर के रूस और चीन ने बाजी मार ली है।' ('अमरीका को दो ओर से खींचा जा रहा है', *सारथी*, 16 दिसंबर 1956) यही वह ताक़त है जिसे मुक्तिबोध धीरे-धीरे दुनिया में निर्णायक होती जाती ताक़त के रूप में देखते हैं। कहने की ज़रूरत नहीं है कि तब तमाम प्रगतिकामी दुनिया की यही समझ थी और कई दशकों तक यही एक प्रकार से सच्चाई थी, यह दूसरी

बात है कि इतिहास के अपेक्षाकृत लंबे दौर में ये पूर्वानुमान साम्राज्यवाद तथा पूंजीवाद की ताक़त को कम करके आंकने वाले साबित हुए। वैसे 'इतिहास में अननुमानित' (*सारथी*, 27 जनवरी 1957) जैसी अपनी टिप्पणी के ज़रिये मुक्तिबोध तभी इसकी याद भी दिला रहे थे कि इतिहास को बनाने वाली प्रक्रियाएं इतनी जटिल हैं कि सही मुख्य प्रवृत्तियों के आधार पर ठीक-ठीक पूर्वानुमान करना भी जोख़िम का काम है।

III

अंतरराष्ट्रीय फलक पर ही मुक्तिबोध की दो टिप्पणियां अलग से ध्यान खींचती हैं। इनका संबंध समाजवादी दुनिया में उस समय चल रही बहसों से है। 'कम्युनिज्म़ का संक्रमण काल' (*सारथी*, 1 जुलाई 1956) यूगोस्लाविया तथा अन्य पूर्वी योरपीय कम्युनिस्ट देशों से उभरे समाजवादी व्यवस्था के रूसी मॉडल के विरोध के स्वर और इटली के कम्युनिस्ट नेता तोग्लियाती द्वारा रूस में स्वीकृत हुई स्टालिन की ध्वंसात्मक आलोचनाओं के संदर्भ में रूसी कम्युनिस्ट व्यवस्था में ही कोई बुनियादी कमी होने का सवाल उठाये जाने के संदर्भ में लिखा गया है। इसके साथ ही मुक्तिबोध चीन के रूस से अपेक्षाकृत अलग रास्ता अपनाये जाने का पहलू भी जोड़ देते हैं। इस संदर्भ में मुक्तिबोध जहां एक पत्रकार की तरह इस बहस के घटनाक्रम को दर्ज करते हैं, वहीं यह भी दर्ज करते हैं कि 'आज यूगोस्लाविया तथा अन्य नये कम्युनिस्ट देशों में ऐतिहासिक तथा भौगोलिक कारणों से भले ही थोड़े-बहुत भेद पाये जायें, किंतु ये मूलभूत नहीं हैं। उनमें मूलभूत समाज विकास संबंधी एकता है।' इतना ही नहीं, वे अपने पाठकों को आश्वस्त भी करते हैं। इन बहसों का अर्थ यह नहीं है कि 'रूसी प्रभाव समाप्त कर कम्युनिस्ट देश कम्युनिज्म़ त्यागकर पूंजीवादी हो जायेंगे। इसका अर्थ इतना ही है कि प्रोलितेरियन डिक्टेटरशिप का स्वरूप (जो मार्क्सवाद की बुनियादी धारणा है) परिवर्तन की प्रक्रिया से गुज़रने की कोशिश करेगा।'

लेकिन, विचारक मुक्तिबोध इतने पर नहीं रुकते हैं। वह ख़ुद तोग्लियाती के मूल प्रश्न का उत्तर देने का उद्यम करते हुए, पहले तो यह रेखांकित करते हैं कि स्टालिन के 'देश में कम्युनिस्ट पार्टी की तानाशाही और कम्युनिस्ट पार्टी में अपनी व्यक्तिगत तानाशाही क़ायम' करने के बावजूद, यह वास्तव में तत्कालीन असाधारण परिस्थितियों का ही तक़ाज़ा था। लेकिन, परिस्थितियां बदलने के साथ, ये तक़ाज़े ख़त्म हो गये, किंतु संबंधित ढांचे बने रहे या बनाये रखे गये और यही समस्या की जड़ है। मुक्तिबोध लिखते हैं 'मूल दोष यह उत्पन्न हुआ कि पार्टी तथा सरकारी संगठन के कुछ महत्त्वपूर्ण यंत्र बग़ैर ज़रूरत के क़ायम रखे गये। (एक ज़माना था जब उनकी ज़रूरत थी।)' अंत में मुक्तिबोध यह भी जोड़ते हैं कि 'मार्क्सवादी सिद्धांतों के अनुसार कम्युनिस्ट पार्टी में तानाशाही नहीं चल सकती। पार्टी की तानाशाही की संगीनों का मुंह उन तत्त्वों की तरफ़ होगा जो कम्युनिस्ट क्रांति को उलटने की कोशिश करेंगे, न कि साधारण जनता की तरफ़।'

इसी क्रम में दूसरी टिप्पणी है, 'साम्यवादी राष्ट्रों की नयी समस्या' (*सारथी*, 28 अक्टूबर 1956)। चार महीने पहले की अपनी टिप्पणी से आगे बढ़कर मुक्तिबोध पूर्वी योरप के देशों से उठी बहस को समाजवाद और जनतंत्र के रिश्ते की बहस की तरह देखते हैं। लेकिन, यहां भी मुक्तिबोध अपनी पैनी द्वंद्वात्मक दृष्टि से यह रेखांकित करना नहीं भूलते हैं कि यह बहस भी बदली हुई परिस्थितियों ने संभव बनायी है। 'विश्व शांति ने सामाजिक परिवर्तनों का रास्ता साफ़ कर दिया है तथा अभेद और एकता

के स्थान पर इकाइयों के भेद, भिन्नता, पृथकता के स्वाधीन विकास की प्रक्रिया तेज़ कर दी है...।' वे यह भी जोड़ते हैं कि 'भेद-अभेद के इस रिश्ते को न समझने के कारण, पूर्वी योरप के कम्युनिस्ट देश तथा रूस में मतभेद पैदा हो गये हैं।'

इसी क्रम में मुक्तिबोध यह रेखांकित करते हैं कि 'कम्युनिस्ट दुनिया में 'समाजवाद के अलग-अलग रूप और उसे प्राप्त करने के अलग-अलग मार्ग हो सकते हैं' वाला सिद्धांत स्तालिन के ज़माने से ही स्वीकृत रहा है' और यह भी कि 'मार्क्सवाद के अनुसार समाजवाद की बुनियादी बातों में, खेती तथा उद्योगों का समाजीकरण और राष्ट्र के विकास के लिए बहुत आर्थिक आयोजन के काम शामिल हैं।' और ये बुनियादी बातें भी लक्ष्य हैं जो 'देशों-देशों की अपनी-अपनी परिस्थितियों तथा विकासावस्थाओं की आवश्यकताओं' के हिसाब से ठोस रूप से तय होंगी। 'इन विभिन्न विकास दशाओं के अनुसार समायोजन के निर्धारित लक्ष्य पूरे करने के लिए विभिन्न कार्यक्रमों, संगठनों और संस्थाओं का जन्म तथा विकास होगा। इन कार्यक्रमों, संगठनों, संस्थाओं तथा संगठनों की विभिन्नता को यदि आप समाजवाद के भिन्न-भिन्न रूप कह दें तो कोई हानि नहीं, लाभ ही लाभ है।'

इस पूरे प्रसंग में तीन बातें ख़ासतौर पर ध्यान खींचती हैं। पहली तो यह कि समाजवादी देशों तथा कम्युनिज़्म के साथ पत्रकार मुक्तिबोध की स्पष्ट और अविचल सहानुभूति है। दूसरे, विभिन्न पहलुओं से समाजवाद के रूपों की तथा समाजवादी ख़ेमे में विचारों की भिन्नता को मुक्तिबोध किसी आफ़त की तरह नहीं बल्कि अंततः एक सकारात्मक चीज़ के रूप में देखते हैं, जो समाजवादी व्यवस्था को अपनी-अपनी राष्ट्रीय परिस्थितियों के अनुरूप भिन्न-भिन्न राष्ट्रीय रूप देती है और समाजवाद की संकल्पना में जनतंत्र की जगह बनाती है। इस सिलसिले में मुक्तिबोध यह भी रेखांकित करते हैं कि समाजवाद की बुनियादी विशेषताएं क्या हैं, क्योंकि यही है जो उसे समाजवाद बनाता है। वे बलपूर्वक रेखांकित करते हैं- 'देश-काल-परिस्थिति के अनुसार समाजवाद की रचना भी भिन्न-भिन्न प्रकार की हो सकती है। किंतु महत्त्वपूर्ण बात यह है कि यह भिन्नता उस बुनियादी एकता और अभेद पर आधारित है, जिसके कारण समाजवाद समाजवाद है न कि पूंजीवाद या सामंतवाद।' तीसरे, एक बुनियादी तरीक़े से द्वंद्वात्मक तथा इसलिए सही ऐतिहासिक दृष्टि अपनाते हुए मुक्तिबोध न सिर्फ़ समाजवाद के रूपों की भेद और अभेद की द्वंद्वात्मकता को रेखांकित करते हैं बल्कि यह भी ध्यान दिलाते हैं कि कैसे एक समय के तक़ाज़ों से उत्पन्न संस्था तथा यंत्र, समय बदलने पर न सिर्फ़ अनुपयोगी हो जाते हैं बल्कि नकारात्मक प्रभाव भी डालने लगते हैं। मुक्तिबोध के अनुसार, विश्व युद्ध की परिस्थितियों के बाद सोवियत संघ में जनतांत्रिक तक़ाज़ों का दमन इसी का उदाहरण था।

इसी सिलसिले में यह भी जोड़ दें कि समाजवाद के उक्त मानदंडों पर ही कसकर मुक्तिबोध ख़ुद भारत में नेहरू सरकार के 'समाजवादी रास्ते' के दावों को अपनी कई टिप्पणियों में प्रश्नांकित करते हैं। इस सिलसिले में, 'अंग्रेज गये, किंतु इतनी अंग्रेज़ी पूंजी क्यों' (*सारथी,* 3 अक्टूबर 1954) तथा 'समाजवादी समाज या अमरीकी-ब्रिटिश पूंजी की बाढ़'(*नया ख़ून,* 1955) विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण हैं। विदेशी पूंजी के शिकंजे को मुक्तिबोध साफ़ तौर पर आर्थिक आज़ादी के अभाव या नकार की तरह देखते हैं। लेकिन मुक्तिबोध की यह आलोचना सिर्फ़ अमरीकी-अंग्रेज़ी पूंजी तक ही सीमित नहीं है। वे भारत के समाजवाद के रास्ते पर बढ़ने न बढ़ने की कसौटी भी इसी को मानते हैं कि सामाजिक या सार्वजनिक पूंजी और निजी पूंजी के बीच किस तरह का संतुलन है और इससे भी महत्त्वपूर्ण यह कि यह संतुलन

किसके पक्ष में झुक रहा है। 'साम्यवादी राष्ट्रों की नयी समस्या' पर विचार के क्रम में मुक्तिबोध बेशक, भारत में सार्वजनिक क्षेत्र को लेकर अतिरिक्त रूप से आशावादी नज़र आते हैं। 'भारत में सामाजिक□जिसे हम सार्वजनिक कहते हैं□क्षेत्र के अंतर्गत मूल उद्योगों का विकास किया जा रहा है और निजी पूंजी का क्षेत्र तथा उसकी हदें तय कर दी गयी हैं। यद्यपि इस समय तुलनात्मक दृष्टि से, अपने यहां निजी पूंजी का वज़न सामाजिक पूंजी से बड़ा है। किंतु दूसरी पंचवर्षीय योजना की समाप्ति के बाद, तीसरे आयोजन की शुरूआत के साथ, एक ऐसी हालत पैदा हो जायेगी जब निजी पूंजी को सार्वजनिक पूंजी में क्रमशः विलीन होते जाने के रास्ते खुल जायेंगे।' लेकिन इस आशावादी अनुमान के साथ मुक्तिबोध यह प्रोफेटिक इशारा भी कर देते हैं कि 'असल में आर्थिक आयोजन का राष्ट्रीय सिद्धांत **समाजवाद की स्थापना** की तरफ़ ही ले जाता है, बशर्ते कि राष्ट्रीय संकल्प और प्रण बीच में ही न टूटें।' (बल हमारा)

दुर्भाग्य से राष्ट्रीय संकल्प और प्रण बीच में ही टूट गये। यह दूसरी बात है कि शिक्षकों की एक सभा में दिया गया मुक्तिबोध का भाषण (*राष्ट्रवाणी*, जनवरी-फरवरी 1965 में प्रकाशित अंश) बताता है कि नेहरू के समाजवादी प्रयास में अंत तक उनका भरोसा बना हुआ था। मुक्तिबोध के शब्द थे- 'पंडित जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में देश समाजवादी निर्माण की ओर चल पड़ा है' और यह भी कि 'जो लोग यह सोचते हैं कि उस प्रवृत्ति को ख़त्म कर सकते हैं, वे बड़े भारी भ्रम में हैं।' लेकिन, समाजवादी निर्माण की इस प्रवृत्ति पर मुक्तिबोध का भरोसा भी जन चेतना पर ही उनका भरोसा है- 'देश ही नहीं, संपूर्ण जगत में जनता जाग्रत हो उठी है और अपनी चेतना के स्तर के अनुसार स्वयं अपने मुक्ति मार्ग पर चल पड़ी है।'

IV

अन्य सामाजिक-सांस्कृतिक प्रश्नों पर मुक्तिबोध की पत्रकारीय टिप्पणियों में भारी विविधता तो है ही, इनमें से अनेक में ख़ास मुक्तिबोधीय गहराई भी है, जो बहुत बार पत्रकारीय रूप की सीमाओं को तोड़ती नज़र आती है। मिसाल के तौर पर, *नया ख़ून* में प्रकाशित संपादकीय टिप्पणी, 'दीपमालिका' बाक़ायदा एलेगरी जैसी बन गयी है, तो 'हुएन सांग की डायरी' (*नया ख़ून*, 21 फरवरी 1958) तो एक तरह से हुएन सांग की 'कहानी' ही है। उधर, 'सांस्कृतिक-आध्यात्मिक जीवन पर संकट'(*नया ख़ून*, 28 जून 1957) तो जैसे *एक साहित्यिक की डायरी* की अंतहीन बहसों में से ही एक है, हालांकि कथित अध्यात्मवाद बनाम आधुनिकता की इस बहस में मुक्तिबोध स्पष्ट रूप से, वर्तमान समाज व्यवस्था की आलोचना के अर्थ में, आधुनिकता के पक्ष में खड़े नज़र आते हैं। इस तरह की टिप्पणियां मुक्तिबोध के पत्रकार और कथाकार के बीच पुल बनाती नज़र आती हैं और यही काम उनकी दूसरी कई टिप्पणियों में यहां-वहां बिखरे अनुभवाश्रित आख्यान के टुकड़े करते हैं।

बहरहाल, 'नौजवान का रास्ता' (वास्तव में 1952 में *नया ख़ून* में प्रकाशित इस अधूरी संपादकीय टिप्पणी को यह शीर्षक *मुक्तिबोध रचनावली* के संपादक ने दिया है) और 'ज़िन्दगी के नये तक़ाज़े और सामाजिक त्योहार' (*नया ख़ून*, 18 सितंबर 1953) जैसी टिप्पणियां मुक्तिबोध की सामाजिक दृष्टि के पैनेपन तथा गहराई की ओर बरबस ध्यान खींचती हैं। आज़ादी के फौरन बाद की परिस्थितियों में नौजवानों के लिए रास्ता इंगित करते हुए मुक्तिबोध सिर्फ़ युवाओं की संभावनाओं का गान करने या उन्हें समाज के लिए काम करने का उपदेश देने पर नहीं रुक जाते हैं। ऐसे मामलों में सुनाई पड़ने वाले आम

स्वरों से बिल्कुल हटकर मुक्तिबोध नौजवानों के लिए 'आत्मालोचना' की अपरिहार्यता पर ज़ोर देते हैं और इसके अभाव को युवाओं के प्रयासों की गंभीर सीमा के रूप में रेखांकित करते हैं। '...शोषण व्यवस्था की निंदा तथा प्रतिक्रियावादियों के विरुद्ध आलोचना करने के साथ-ही-साथ यह हमारा आदि कर्तव्य हो जाता है कि हम आत्म-आलोचन के हथियार से ख़ुद पर नश्तर लगाकर, वे सब कमज़ोरियां दूर करें जो हमारे उत्तरदायित्व की पूर्ति के मार्ग में बाधक हो रही हैं या हो सकती हैं।' ज़ाहिर है कि नौजवानों को आत्मालोचना की सीख देने के लिए, ख़ुद निर्मम आत्मालोचना करने वाले मुक्तिबोध से ज़्यादा उपयुक्त दूसरा कोई नहीं हो सकता था।

नौजवानों के लिए जो आदर्श मुक्तिबोध प्रस्तुत करते हैं, उनकी कविताओं की ही तरह पहली नज़र में कठिन लगने वाला किंतु मुकम्मल है। 'नौजवानी का कौन सा चित्र हमारे सामने रहना चाहिए' का ख़ुद मुक्तिबोध का जवाब इस प्रकार है- 'तर्कसंगत शुद्ध विचार-सरणि और जिज्ञासा, तथ्यों को पहचानने, उनको संगठित कर उनसे निष्कर्ष निकालने की शक्तिय उज्ज्वल आदर्शवाद बेईमानी, दोमुंही बातें, उत्तरदायित्वहीनता, कामचोरी, मौखिक आदर्शवाद, घमंड, अहंकार आदि का अभाव ज्ञान के सामने, सत्य के सामने, हार्दिकता और मार्मिकता के सामने, प्रेम और त्याग के सामने, निरंतर नम्रता और विनयय मानव के सतत संघर्षमय जीवन में आस्थाय बुराइयों, बाधाओं, व्यवधानों, जनता के शत्रुओं पर मनुष्य की स्वाभाविक, प्रकृतिजन्य शुद्ध हृदय (विजय-टि0) में विश्वास जनता के उद्धार में श्रद्धा उनके संघर्षों की सफलता में आध्यात्मिक विश्वास जनता की सृजनशील ऐतिहासिक शक्तियों की विजय का स्वप्नय अपने अनुभवों से, दूसरों के तजुर्बों से, हमेशा सीखते रहने का जागरूक प्रयास और बेखटके और बेशरमाये अपनी ग़लतियों को सब के सामने स्वीकार करने की नम्र महानता दूसरों की गलतियों तथा दुर्गुणों के□बशर्ते वे बहुत हानिकारक न हों□सहानुभूतिपूर्ण, ईमानदार विश्लेषण का उदारतापूर्ण उत्तरदायित्वय साहसपूर्ण और निश्चयात्मक कदम उठाने की योग्यता तथा व्यक्तिगत जीवन का संगठन आदि-आदि बातें ऐसी हैं जिन्हें और भी बढ़ाया जा सकता है।'

'ज़िंदगी के नये तक़ाज़े और सामाजिक त्योहार' (*नया ख़ून*, 18 सितंबर 1953) में एक इससे भिन्न क्षेत्र में किंतु वैसी ही गहरी अंतर्दृष्टि नज़र आती है। यह क्षेत्र है, ग़रीबों के वास्तविक वंचनापूर्ण जीवन का और उस जीवन के बीच देखने को मिलने वाले सामाजिक त्योहारों व अन्य सांस्कृतिक रूपों के अर्थ का। मुक्तिबोध एक ओर तो, मिसाल के तौर पर, ग़रीबों के परिवारों की औरतों के अपने परिवार की कुशलता के लिए 'माता' के जुलूस को 'ग़रीबों की संस्कृति के प्रकट स्वरूप' के उदाहरण के रूप में इंगित करते हैं और रेखांकित करते हैं- 'आख़िर, वे क्या करें!! देवी-देवताओं को भी न मनाएं!! उनके अज्ञान और अशिक्षा पर छींटाकशी करके फायदा क्या है! अपना दुख भुलाने के लिए उनके पास, मैं सच कहता हूं, सिवा उनके ईश्वर के और कोई रास्ता उनके लिए खुला छोड़ा नहीं गया है।... और मां का दिल तब किसी ईश्वर की कृपा के लिए गाने लगता है। और मातृ-हृदया औरतें जिनके चेहरों पर स्त्रीत्व का कोई आकर्षण नहीं है, केवल उस जीवन के दुःख का पीला पलस्तर पड़ा हुआ है, सड़कों और गलियों में गाती हुई निकलती हैं। यह उनकी संस्कृति है, हमारी संस्कृति नहीं।'

अखाड़े के अस्त्रों के जुलूस, बाघों के निकलने जैसे अन्य उदाहरणों को व्याख्यायित करते हुए मुक्तिबोध निष्कर्ष रखते हैं 'निश्चय ही यह ग़रीबों की संस्कृति है। ये उनके सांस्कृतिक कार्यक्रम हैं। हमें भले ही वे न रुचें, उनकी अंधेरी ज़िंदगी के ये ही सर्वोच्च क्षण हैं।' लेकिन, इसके बावजूद मुक्तिबोध

एक क्षण को भी इन अभिव्यक्तियों का न तो महिमामंडन करते हैं और न उन्हें अछूता और अपने मूल रूप में ही बनाये रखने का उनका कोई आग्रह है। उल्टे यह बिल्कुल स्पष्ट है कि 'उनके सांस्कृतिक कार्यक्रमों में सुधार होना चाहिए। सांस्कृतिक रूप से उनके पास उत्तम मानसिक खाद्य पहुंचने की ज़रूरत है।' और यह भी कि 'केवल सांस्कृतिक कार्यक्रमों से वह बात पैदा नहीं की जा सकती जो कि ज़िंदगी की परिस्थितियों के बदल देने से होती है। किंतु सांस्कृतिक कार्यक्रमों का अपना महत्व तो है।' इसी संदर्भ में वे एक 'राष्ट्रीय सामाजिक-सांस्कृतिक त्योहार' के रूप में गणेशोत्सव के सम-सामयिक विकृतीकरण की आलोचना करते हैं, जिससे उसका 'वह पुराना सामाजिक सत्य अब नष्ट हो गया है', और 'नये युग के अनुसार इसमें नये परिवर्तन आवश्यक' मानते हैं। यह भी ग़ौरतलब है कि मुक्तिबोध सांस्कृतिक अभिव्यक्तियों के स्तर पर, इस क्षेत्र में नेतृत्व की स्थिति में रहे मध्य वर्ग और ग़रीब जनता के बीच वर्गीय विभाजन को अपरिहार्य या सदा-सत्य नहीं मानते हैं। उल्टे उनके अनुसार, 'आवश्यकता इस बात की है कि हम (मध्यवर्गीय जिनके पास मुक्तिबोध के अनुसार आज तक 'सांस्कृतिक नेतृत्व रहा' है□टि.) नयी सामाजिक आवश्यकताओं के अनुसार, जनता के हित की दृष्टि से, अपने में और अपने सांस्कृतिक कार्यक्रमों में परिवर्तन करें।'

दूसरी ओर, 'संयुक्त महाराष्ट्र का निर्माण एकदम ज़रूरी' (*नया खून*, 7 जून 1957) टिप्पणी जितनी इस राजनीतिक-भाषायी-सांस्कृतिक मुद्दे पर स्पष्ट तथा मुखर है, उतनी ही जातीयता के प्रश्न पर गहरी अंतर्दृष्टियों से भरी हुई है। विशेष रूप से मराठी जातीयता की भावना के रूप ग्रहण करने को जिस तरह मुक्तिबोध मध्यकाल के संत साहित्य और मराठी भाषा के लोक प्रसार से जोड़ कर देखते हैं, वह सांस्कृतिक इतिहास की पैनी दृष्टि का सूचक है। मुक्तिबोध विशेष रूप से यह रेखांकित करते हैं कि 'इस महाराष्ट्र भावना के विकास में दमित, पीड़ित और कुचली हुई जातियों का, तथा ब्राह्मणों और क्षत्रियों का महान योगदान है, क्योंकि इन सभी जातियों में से संत उत्पन्न हुए (उत्तरी भारत की संत परंपरा इससे भिन्न निचली जातियों की ही है□टि.) जिन्होंने अपनी अदम्य वाणी से महाराष्ट्रीय हृदय में उद्यत प्रेरणा तथा रस का संचार किया। इसी को संतों के ही शब्दों में 'महाराष्ट्र धर्म' कहते हैं। इस धर्म के सभी पक्ष हैं□आध्यात्मिक, सांस्कृतिक, सामाजिक, राजनीतिक, इत्यादि।' यह दूसरी बात है कि इस परिघटना के 'अखिल भारतीय राष्ट्रवाद' के उदय से पहले की होने को उचित ही रेखांकित करने के बावजूद, मुक्तिबोध महाराष्ट्र के 'विदेशी केंद्रीय सत्ता से जूझने वाले सिर्फ़ तीन क्षेत्रों' में भी विशिष्ट होने को रेखांकित करना ज़रूरी समझते हैं, हालांकि उनकी नज़र में इस विशिष्टता का सार 'हीन जातियों को उनके पराक्रम के हिसाब से उनका आदर' किये जाने में ही छुपा है।

अखिल भारतीय राष्ट्रवाद से भिन्न भारत में जातीयताओं के प्रश्न और वंचित जातियों के प्रश्न के प्रति जैसी सजगता तथा संवेदनशीलता मुक्तिबोध संयुक्त महाराष्ट्र संबंधी टिप्पणी में दिखाते हैं, वैसी ही संवेदनशीलता हिंदी के केंद्रीय राजभाषा बनने के दावे के संदर्भ में उनकी टिप्पणी, 'सन पैंसठ तक हिंदी केंद्रीय राजभाषा बन सकती है' (*नया खून*, 10 जनवरी 1958) में दिखायी देती है। मुक्तिबोध जहां इस प्रयास के संदर्भ में गैर-हिंदीभाषियों की दिक़्क़तों तथा उनके विरोध को भी गहरी सहानुभूति की नज़र से देखते हैं, इस विरोध पर हिंदी जगत की प्रतिक्रिया के संदर्भ में यह ध्यान दिलाना ज़रूरी समझते हैं कि हिंदी का यह विरोध हिंदी जगत का विरोध नहीं है। इतना ही नहीं, इस मुद्दे पर प्रायः नज़र आने वाली भावुकता को नकारते हुए मुक्तिबोध यह भी याद दिलाना ज़रूरी समझते हैं कि 'केंद्रीय भाषा हिंदी

बनायी जाये या नहीं, इस बहस में उनकी भावनाएं भले ही आहत हों, किंतु वास्तविकता यह है कि भाषा उनकी होने के फलस्वरूप वे इस बात के निर्णायक नहीं हो जाते कि केंद्रीय अथवा अंतरराज्यीय भाषा हिंदी ही होनी चाहिए। यह निर्णय तो निस्सन्देह पूरा देश करेगा।' हालांकि इसके साथ ही मुक्तिबोध यह भी रेखांकित करते हैं कि वास्तव में हिंदी के पक्ष में उक्त निर्णय तो हो चुका है और अब तो सवाल उसके 'सर्वत्र क्रियान्वयन' का ही था। लेकिन इस संदर्भ में मुक्तिबोध यह आगाह करना ज़रूरी समझते हैं कि 'हिंदी को राजभाषा का वास्तविक रूप तभी दिया जा सकता है, जब क़दम-ब-क़दम और मंज़िद-दर-मंज़िल आगे बढ़ा जाये। क़दम-ब-क़दम, मंज़िल-दर-मंज़िल□ये शब्द महत्त्वपूर्ण हैं। और मेरा यह विचार है कि यदि इस जगह घोटाला किया गया और एक पटरी से काम नहीं किया गया, तो मामला बिगड़ जायेगा।' भाषा के ही प्रश्न पर एक और ज़रूरी अंतर्दृष्टि देते हुए मुक्तिबोध अगर एक ओर इसकी मांग करते हैं कि 'राज-काज के मामलों में हिंदी को अत्यंत प्रधान बना दिया जाये और अंग्रेज़ी को गौण बना दिया जाये', तो दूसरी ओर 'विश्व के ज्ञान-विज्ञान की प्राप्ति के लिए' अन्य प्रमुख भाषाओं समेत अंग्रेज़ी की ज़रूरत को स्वीकार करते हुए वे कहते हैं, 'आज जब भारत में अंग्रेज़ी का व्यापक प्रचार है तो उसे कम करने की ज़रूरत नहीं, उसे बढ़ाने की ज़रूरत है।'

इस प्रसंग को मुकम्मल करने के लिए अंत में चलते-चलाते हम 'अंग्रेज़ी के जूते में हिंदी को फिट करनेवाले ये भाषाई रहनुमा' (*नया खून,* 11 सितंबर 1953), 'सिंहासनों पर वृद्धों के मनोरंजक योगासन' (*नया खून,* 12 जुलाई 1957) तथा 'साहित्य के काठमांडू का नया राजा' (*नया खून* में प्रकाशित संपादकीय) की ओर ध्यान खींचना चाहेंगे, जहां भाषा, साहित्य तथा विशेष रूप से साहित्यिक मठाधीशों की चर्चा करते हुए मुक्तिबोध, अपने सामान्य स्वभाव से अलग, हंसते नहीं तो कम से कम मुस्कराते, हंसी उड़ाते और व्यंग्य के तीर आजमाते नज़र आते हैं। इस तरह मुक्तिबोध की पत्रकारिता उनकी मानवीय तस्वीर को भी पूरा करती है, जिसका एक हिस्सा उनके रचनात्मक लेखन में कुछ छूटा-सा लगता है।

फोन : 9818097260

महास्वप्न के झुटपुटे में 'स्त्री' (संदर्भ : मुक्तिबोध)

अनामिका

मुक्तिबोध की *डायरी* और उनकी चिट्ठियां ध्यान से पढ़ने पर एक बात तो स्पष्ट हो ही जाती है कि उनका पूरा जीवन एक महास्वप्न की छाया में बीता और दो संवेदनशील स्त्रियों के झिलमिल सान्निध्य में, जिनमें एक तो उनकी पत्नी शांता ही थीं और दूसरी थी शोधार्थी नातालिया जो 1932 में क्रोशिया के छोटे-से साइबेरियन गांव में पैदा हुई थी। उसके पिता लाल फ़ौज के फ़ौजी थे और मां चिकित्सक। नौ वर्ष की उम्र में जब उसकी पहली कविता प्रकाशित हुई थी, उसका परिवार ओमास्क के बड़े शहर में बस चुका था। उसके बचपन की कशमकश और उसकी शुरुआती कविता का ज़िक्र करते हुए विष्णुचंद्र शर्मा जो सही या कल्पित हवाले देते हैं उनके अनुसार, मुक्तिबोध उससे हुई कई अंतरंग बातों की झलकियां देते हैं :

> स्तालिनग्राद युद्ध पर मैंने एक कविता लिखी थी। आपकी कविता पढ़ते समय मुझे उसकी याद आ गयी जो मेरे अध्यापक ने उस वक़्त मेरी कॉपी से उतारकर अख़बार में भेज दी थी...आपके प्रतीक 'जनता की शक्ति का दरख़्त' मैं आज भी अपने भीतर महसूस कर रही हूं। मैंने भी अपनी कविता के पहले बंद में अपने देशाभिमानी हृदय से नाज़ियों को कोसा था। दूसरे बंद में मैंने अपनी अवस्था की सीमा पर अफ़सोस किया था और यह विश्वास पैदा किया था कि मैं जल्दी ही 'बड़ी' हो जाऊंगी। उस समय मैं महसूस करती थी कि जब मैं बड़ी हो जाऊंगी, नाज़ियों की शामत आ जायेगी...
>
> यह तय था कि अखबार ने मेरी कविता साहित्यिक खूबियों की वजह से नहीं, इस कारण प्रकाशित की थी कि इस लड़की की नियति, जिसने कविता लिखी थी, उस दौर में काफ़ी अजीब थी। ...
>
> लाखों सोवियत लड़के-लड़कियों के पिता, भाई और मांएं भी 'सीधी कार्यवाही' में जुटे हुए थे। युद्ध साइबेरिया से काफ़ी दूर लड़ा जा रहा था... कोई एक दिन ऐसा नहीं बीतता था जब धूसर रंग के चौकोर कागज़ वाले लिफ़ाफ़े परिवारों को नहीं मिलते। पतला काग़ज़, एकदम भारहीन जो किसी के हाथों पर वज़न की तरह पड़ा होता... वे 'मृत्युपत्र' की तरह जाने जाते थे। उनमें घोषणा होती थी कि (तुम्हारा पुत्र/पति/भाई) लाल फ़ौज के योद्धा की मृत्यु को प्राप्त हुआ।

विष्णुचंद्र शर्मा के अनुसार, इस संवेदनशील युवती के बचपन की तकलीफ़ों में गोता लगाते हुए जिस क्षण मुक्तिबोध ने 'बातचीत की गर्मी' में उसका हाथ अपने हाथों में लिया, वह उनकी अपनी भी आर्थिक और मानसिक अस्तव्यस्तता का समय था। वे लगातार विश्वसाहित्य पढ़ते रहते और तरह-तरह की

कल्पनाओं का ताना-बाना भीतर लगातार बुनता चला जाता :

> बातचीत की गर्मी में मैंने नातालिया का हाथ अपने हाथ में थाम लिया। कल्पना में मैं युद्ध के दौरान हर परिवार में एक रिपोर्टर की हैसियत से घूमता रहा।

और तादात्म्य का आलम यह है कि इसके बाद नातालिया की तरफ़ से वे सोचने लगते हैं कि युद्ध उसके सपनों, उसके खेलों, उसके सप्ताहांतों और अन्य छुट्टियों में कैसी जलती सांसें उसमें भरता होगा, 'ब्लैक आउट' के दौरान कैसे उसकी खिड़कियों से झांकता होगा और उसके फूलों की क्यारियों में जहां आलू उगाये जा रहे थे। सोवियत रूस की क्रांति के बाद की रक्षात्मक लड़ाई का अंतर्राष्ट्रीय धरातल उन्हें एक साझा ज़मीन दे गया था और उन्हें लगता था कि सोवियत संघ के परिवारों से मृतक, जवान, खूबसूरत, मुस्कुराते लोग अब भी उनकी ओर देख रहे हैं... एक घनी उम्मीद में। आगे एक ख़ास तड़प के साथ वे कहते हैं :

> हमारे यहां आधुनिक सभ्यता में गहरी ख़ामोशी है, नातालिया। सब सभ्य अमरीका के लघु मानव बनते जा रहे हैं - लघु मानव जो राजनीति में, साहित्य, संस्कृति यानी जीवन के विस्तार में क्रांतिकारी गुणों को छद्म प्रवंचना समझता है। ...हम-तुम उसके लिए सड़क-छाप हैं बस।... इसकी दिग्विजय की सीमा इन्हें नौकरशाह बनाती है, सेठाश्रयी सुविधा जुटाती है, पूंजीवादी सत्ता का बड़ा डाकू बने रहना सिखाती है। नारद की तरह इतिहास में अभी अपना मुंह देखने का उन्हें अवसर नहीं मिला। उनकी सबसे बड़ी क्रांति है देहवाद। यौनाचार ही इनका लोकाचार है। अज्ञेय का 'नदी का द्वीप' और यशपाल का 'मनुष्य के रूप'☐ दोनों में नारी एक ललित पहेली है बस। (*मुक्तिबोध की आत्मकथा,* विष्णुचंद्र शर्मा)

उसके बाद वे नेमि बाबू को लिखे कुछ पत्रों में अपने कुछ अधूरे प्रेम-प्रसंगों की 'शव-परीक्षा' करते हुए खुद को भी बख़्शते नहीं। यह हवाला भी विष्णुचंद्र शर्मा जी देते हैं :

> स्त्रियां आयीं ☐ पहली, जिसमें मैं प्रेमी के रूप में अनुरक्त न था। वह मेरे प्रभाव में थी ... मैं और मेरी पत्नी उससे अनुरक्त थे और वह हमारे घर को अपना समझती थी, (फिर अचानक उसने मुंह मोड़ लिया।) दूसरी, भोले आनंद के समान आयी, पर जब मैंने अपनी भावनाव्यक्त की ☐ वह बौखला उठी और अपने को हुतात्मा समझती हुई वातावरण में विलीन हो गयी। ... प्रेम से मेरे दुखी जीवन में ठहराव आया। मुझमें. .. नारी के व्यक्तित्व की सुराग खोजने की व्यग्रता बढ़ी... बार-बार मेरी कविताओं में एक आपदा नारी (woe woman) आती है। बार-बार मैं उससे अतिरिक्त अनिच्छुक प्रेमी की तरह उलझता हूं।

आगे जो वे लिखते हैं, उसका सारांश यह कि प्रेम सर्जनात्मक ऊर्जा के बीज चटकाता है, अकर्मण्यता की गहरी नींद से जगाता है, महत्तर सामाजिक दायित्वों की ओर प्रेरित भी करता है। पर महाजनी सभ्यता की मोलतोलवादी वृत्ति इस चांद का मुंह भी 'टेढ़ा' कर जाती है। होना तो यह चाहिए कि प्रेम में आवेग चुक भी जाये तो सदाशयता नहीं चुके, स्नेह-सम्मान बना रहे और एक-दूसरे के सम्यक् विकास के सहकारितामूलक प्रयत्न भी क़ायम रहें, पर ऐसा होता नहीं; और ऐसा क्यों नहीं होता ☐ इसके मनोवैज्ञानिक पक्ष से ज़्यादा, इसके आर्थिक और सामाजिक पक्ष की ओर मुक्तिबोध की नज़र ज़्यादा है। अपने स्त्री-पात्रों या अपने आसपास की स्त्रियों पर इससे ज़्यादा तो मुक्तिबोध कुछ नहीं कहते, पर बच्चन और अज्ञेय की स्त्रीदृष्टि पर बाक़ायदा लिखते हैं। विष्णुचंद्र शर्मा बताते हैं :

वासना और वेदना के अंतरंग अनुभव में बच्चन अपने आदमी को आत्मबद्ध रखते हैं। उनकी कविता में एक भी युवती, नारी, मां, अभया या सुनंदा-सा विद्रोह नहीं करती है। बच्चन का आदमी आत्मसंघर्ष में नारी की आज़ादी का हिस्सेदार दोस्त नहीं बनाता है। (अज्ञेय का 'आदमी' बनाता है) पर अज्ञेय के 'आदमी' की वेदना की अधिकता, कष्टों तथा संकटों की बारंबारिता उनके मनुष्य को व्यापक नहीं बनाती है। (*मुक्तिबोध की आत्मकथा*, पृ. 362)

प्रसाद की *कामायनी* और स्त्री-चेतना पर उन्होंने प्रसिद्ध लेख ही लिखे, पर उस पर आने के पहले मैं उनकी विष्णुचंद्र शर्मा रचित *'आत्मकथा'* के दो प्रसंग उठाना चाहती हूं जहां 'पत्नी' और 'मां' के प्रति ज़िम्मेदारियां पूरी न कर पाने का दंश उन्हें एक अत्यंत संवेदनशील पुरुष के रूप में सामने लाता है।

पत्नी से जुड़ा प्रसंग यह कि बेरोज़गारी के दिन हैं। अनचाहे गर्भ से लदी रोगिणी पत्नी भूखे बच्चों के नाम पर बार-बार उकसाती है कि कहीं तो कोई नौकरी उन्हें पकड़नी चाहिए... गृहकलह के किसी प्रसंग पर देह में आग लगा लेती है... उसके बाद उसके घावों पर बरनॉल मलते हुए वे जिस आत्ममंथन से गुज़रते हैं, वह बताता है कि उनके 'अंतःकरण का आयतन' संक्षिप्त नहीं था, था तो विराट् हीः

जब मैं बरनॉल लेकर लौटा तो शांता के पास जा बैठा, उसकी अपलक, न देखती हुई आंखों में मैंने आंखें डाल दीं। उसके गाल छुए। और जब मैंने पाया कि उसकी आंखों में चेतना मुसकुरा उठी है, उसके होंठ भी किसी नम्र, दीन, दयनीय स्थिति में तिरछे हो रहे हैं, मेरे हृदय में एकाएक अपने ही भाग्य पर बड़ी ही दया आयी। दया शायद इसलिए कि मेरे भाग्य में यह बदा था कि मेरे आसपास के लोग अपने जीवित इतिहास के किसी उपन्यास के केवल पात्र हों, जो लेखक के अत्यंत निकट होते हैं, और फिर भी दूर, वे मेरे अपने होते हुए भी केवल छायात्मक होते हैं... (खिड़की के बाहर) मुझे शहर ही शहर, गांव ही गांव, सड़कें ही सड़कें, गलियां दिखार्यी दीं जिनमें भीतर से उठते हुए (पत्नी के) शब्द मेरे पास आकर कहने लगे ☐ 'तुम मुझे छोड़कर मत जाया करो।'

...नन्हा बालक अभी भी मां के फैले हुए पैरों के बीच में खेल रहा है। दिवाकर, मेरा मंझला बच्चा, अपनी जेब में से चाक के टुकड़े गिन रहा है। रमेश, मेरा बड़ा लड़का, घर की हालत और स्कूल-दफ़्तर का समय सोचकर थाली में अरहर की दाल बीन रहा है।

...मेरा मन बेहद के मैदान में चला गया। इन सब लोगों का प्यार मैं अपने में नहीं संभाल सकता। मेरा दिल मिट्टी का घड़ा है, उसमें ज़्यादा भरेगा तो वह टूट जायेगा।''

विष्णुचंद्र शर्मा रचित *आत्मकथा* में एक प्रसंग ठंड से सिकुड़ती विवर्ण मां का भी है। वह एक कप चाय और मांगती है, दूध बस इतना बचा है कि एक चाय बन जाये। पत्नी भी दो दिन की भूखी है। उसने एक भी चाय नहीं पी। दुविधा में मुक्तिबोध को और कुछ नहीं सूझता तो मां को गोदी उठाकर वे नाचने लगते हैं। इसका वर्णन बहुत ही बेधक और मार्मिक है। दुविधाग्रस्त मजबूर बेटे का बीमार मां को गोदी में भरकर यों नाच जाना हम एक विराट् कॉस्मिक प्रतीक की तरह पढ़ सकते हैं जो मुक्तिबोध के गत्यात्मक बिंबों में एक अनुपम नक्षत्रीय आभा भर देता है ☐ ग्रहपथ से छिटका कोई तारा सृष्टि के घनीभूत आवेग में नाचता चला जा रहा हो जैसे :

मेरे अंतर, मेरे जीवन के सरलयान /तू जब से चला, रहा बेघर,
तन गृह में हो पर मन बाहर.../...धुआंते खंडहरों में/ दबे हुए बच्चों की/
गर्भिणी माता की/ वृद्धों की रूंधी हुई ज़िंदगी की चीख़... लड़ता था हर घर/

लड़ते थे पत्थर/ दहाड़ते अग्नि गोल शब्दों-से/ करता था ज़हरीला जाज्वल्य/
बहस-मुबाहिसा/ शहर की हवाओं में चारों ओर जवाबी/
धधकते पंखों की ज्वाल रही उड़ती/ दमकते उत्तर तड़ाक से गूंजते।

आत्मकथा के मुक्तिबोध की यादों में लगातार स्तालिनग्राद युद्ध आ धमकता। वे उसकी ज्वालाओं को 'पहली आज़ाद आत्मा की कलंगी' कहते, उसी की फ़ैंटेसी में विचरण करते हुए सोचते : 'अकेले में किसे मुक्ति मिली है, नातालिया? न मुझे, न लंदन के मज़दूर को, न फ्रांस के गुरिल्ला युवजन को।'

उनका पूरा काव्यवितान एक ही बड़ी और महान कविता के अलग-अलग टुकड़े अगर जान पड़ता है तो इसका भी कारण एक सतत् घूर्णन है - उल्का-पिंडों का सतत् घूर्णन - जो नयी-नयी उल्काओं में टूटता रहता है, 'प्रकट होकर विकट होता' :

संकल्पधर्मा चेतना का रक्तप्लावित स्वर,
हमारे ही हृदय का गुप्त स्वर्णाक्षर,
प्रकट होकर विकट हो जायेगा।

...जनता का लौह दंड
नात्सी का ब्रह्मांड फोड़कर
उल्का-दल वेग से
हवा में घूमकर
मानवीय दिशाओं को चूमकर
अंधेरे की पार्वत्य नदियों पर
किरणों के पुल-सा
गगन में छा गया...
यूरोपीय राख और
एशियायी ख़ाक से
जनता की शक्ति का दरख़्त उठा है एक।

इस दरख़्त की छाया में स्त्री-पुरुष कुछ देर हाथ में हाथ डाले तानाशाही, पूंजीवादी और सामंतशाही ताक़तों से मानवता की मुक्ति का स्वप्न साथ-साथ देखते हैं, फिर उन्हीं उल्का-पिंडों की तरह अलग-अलग दिशाओं में टूट गिरते हैं। यह एक सिलसिला है जिसका कहीं अंत नहीं। स्त्री बृहत्तर स्वप्न के संधान की प्रेरक शक्ति है तो 'तुम मुझे छोड़कर मत जाया करो' की करुण गुहार लगाती विचलनकारी शक्ति भी :

> शांता का सुडौल शरीर बेडौल हो गया है। रंग पीला। कालिदास ने गर्भिणी नारी को अनाज की भरी बालों के समान पीली पड़कर भी सुंदर कहा है। प्रभात शशि-युक्त शर्वरी के समान लोध्रपांडु मुखवाली सुदक्षिणा का चित्र बहुत हद तक शांता का ही सौंदर्य है।' (*मुक्तिबोध की आत्मकथा*, विष्णुचंद्र शर्मा, 87)

गर्भिणी श्रद्धा और स्वप्नद्रष्टा इड़ा-सनातन पुरुष-मन इन दोनों के बीच वैसे ही डोलता रहता है जैसे आत्म-क्रांति (गांधी) और सार्वजनिक क्रांति (मार्क्स) के आदर्शों के बीच मुक्तिबोध उन दिनों डोल रहे थे□प्रसाद और दोस्ताएवस्की से अपनी भूमिका पर जिरह करते हुए।

इस बिंदु पर, चलते-चलते, हम मुक्तिबोध की आलोचना में व्याप्त स्त्रीदृष्टि पर थोड़ी बात करते

हैं। *कामायनी* वाले लेख में मुक्तिबोध जो कहते हैं, उसका सारांश यह कि अपने पांवों पर खड़ी, बुद्धिप्रवण और स्वतंत्रचेता (इड़ा-समान) आधुनिक स्त्री के लिए प्रसाद के मन में उतना ही आकर्षण है जितना मनु के मन में, पर उसका सतत साहचर्य और उसकी प्रखर तेजस्विता□दोनों के लिए उतनी ही बड़ी चुनौती है। चुनौती थोड़ी देर के लिए अच्छी लगती है, उसके बाद उससे मन थकने लगता हैः छायावादी संस्कारों वाले पुरुष के लिए यह ऊब सहज है; किंतु आश्चर्य इस बात का है कि मुक्तिबोध जैसा आधुनिक पुरुष श्रद्धा या कामायनी जैसी कमनीय और अहंमुक्त स्त्री के बौद्धिक परामर्श भी बहुत देर तक बर्दाश्त नहीं कर पाता और इन कांता-सम्मित उपदेशों से घबराकर मनु की ओर से सोचता हुआ लिखता है :

> श्रद्धा को भी यह मालूम होना चाहिए कि कोई पति अपनी स्त्री से लंबी नसीहतें रोज़-बरोज़ नहीं सुन सकता. ..श्रद्धा मनु को उसकी पशुहत्या के विरुद्ध लगातार पाठ पढ़ाती रही।... जिन बातों की ओर निरंतर वह आकर्षित था, उन्हीं पर श्रद्धा अपनी आदर्शवादी शब्दावली से आक्रमण करती थी। (अगर प्रसाद जी मनु को थोड़ा और बुद्धिमान बनाते तो वह भी आदर्शवादी बात कर सकता था) फल इसका यह हुआ कि मनु ने श्रद्धा-परित्याग किया।
>
> (*कामायनी : एक पुनर्विचार, रचनावली-4, पृ. 272*)

इसके आगे हम आसानी से यह जोड़ सकते हैं कि...'मनु ने श्रद्धा-परित्याग किया अधिक व्यक्तित्ववान इड़ा से मिला और इस प्रकार 'ताड़ से गिरे, खजूर पे अटके' वाली लीला संपन्न हुई।' उद्धृत अनुच्छेद में कोष्ठक में दी गयी पंक्ति ध्यातव्व है : 'यदि प्रसाद जी मनु को थोड़ा और बुद्धिमान बनाते, वह भी आदर्शवादी बात कर सकता था।' 'ओ मेरे आदर्शवादी मन, ओ मेरे सिद्धांतवादी मन' के रचयिता इतना तो मानते हैं कि आदर्शवादी महीन कताई बुद्धिमान या इड़ावान व्यक्ति के लिए ही संभव है। श्रद्धा भी आदर्शवादी बातों की महीन कताई कर लेती है, इसलिए वह स्वयं इड़ावती या बुद्धिमती है। तभी वह अपनी संतान का हाथ सखी इड़ा के हाथ में थमाने का दुष्कर निर्णय लेती है। इस निर्णय के पीछे शायद उसका पुराना अनुभव भी काम रहा हो□मनु का मन उससे पहले-पहल तभी ऊबा था जब वह गर्भवती हुई थी। कम बुद्धिमान पुरुष, कम कल्पनाशील भी होते हैं, इसलिए अकेलापन उन्हें खाने दौड़ता है। लगतार एक विकल स्त्री-दृष्टि उन्हें और बस उन्हें ही देखती रहे तो उनके अहं का पेट भरता है वरना लगते हैं वे छान-पगहा तुराने। एक ग्राम्या का सहज विवेक श्रद्धा में है, इसलिए 'पिया मोर बालक हम तरुनी' भाव से वह अपने अल्पबुद्धि पुरुष को किसी तरह पार-घाट लगा ही देती है। इड़ा आधुनिका नागरी है, यह व्यवहार-बुद्धि उसमें उतनी नहीं कि पुरुष को बांधकर कैसे रखा जाये; और आधुनिक मनुष्य की तरह उसके लिए भी 'और भी ग़म है ज़माने में मुहब्बत के सिवा, राहतें और भी हैं, वस्ल की राहत के सिवा।' उसने अपनी दुनिया बड़ी कर ली है, इसलिए प्रेम उसके जीवन का केंद्र नहीं रहा□प्रेम उसके लिए भी जीवन की एक घटना है, जीवन नहीं। इसे अपने ढंग से मुक्तिबोध भी रेखांकित करते हैं :

> इड़ा का व्यक्तित्व सामाजिक-सार्वजनिक महत्व से विन्यस्त है, जबकि श्रद्धा के पास कोई अपना सार्वजनिक जीवन नहीं है। ...आदर्शवादी अनुभूतियों की सारी संपन्नता हृदय में धारण करते हुए भी श्रद्धा सिर्फ़ प्राइवेट इंडिविजुअल है।... (वही, पृ. 304) इड़ा का व्यक्तित्व कर्मप्रधान, निर्माणप्रधान और गत्यात्मक है। इड़ा वैविध्यमय जीवन के उच्चतर विकास और प्रसार में विचरण करती हुई आधुनिक सभ्यता की विषमताओं पर खेद प्रकट करती है, आत्मालोचना करती है। इड़ा की आत्मालोचना में आत्मभर्त्सना का विष नहीं है। (वही, पृ. 305)

यहां तक तो बात समझ में आती है, यह भी समझ में आता है कि मुक्तिबोध आधुनिक मनोविज्ञान द्वारा प्रस्तावित तीन तरह के व्यक्तित्वों (ए-पर्सनैलिटी, डी-पर्सनैलिटी और ट्रांस्पर्सनैलिटी) में से दो (प्रथम और तीसरे) के लक्षण इड़ा और श्रद्धा पर घटित कर रहे हैं किंतु ज़्यादा ध्यान उनका भी प्रसाद की तरह ही 'कामायनी' या श्रद्धा पर है, और फिर एक बार वे श्रद्धा से इस बात पर अपनी असहमति व्यक्त करते हैं कि वह समझाती बहुत है :

> पता नहीं, गांधार देश की यह भ्रमणशील घुमंतू स्त्री कैसे खूंटावादी हो गयी। यदि मनु का स्वभाव व्यक्तिवादी न भी होता, अहंवादी न भी होता तो भी साहसशील व्यापक जीवन की लालसा रखनेवाला मनु और स्थित्यात्मक, आत्मनिर्भर, आत्म-संतुष्ट तथा संक्षिप्त जीवन में विश्व-मैत्री बोध करने वाली यह स्त्री श्रद्धा□इन दोनों के बीच टकराहट को कोई नहीं रोक सकता था ...(वही, पृ. 306)

दूसरी ही सांस में वे कहते हैं :

> इस टकराहट को तभी टाला जा सकता था जब दोनों एक-दूसरे की नुक़्ताचीनी न करते हुए स्वभावों को समझते, और सामान्य विवेक और सामान्य जीवन-ज्ञान के आधार पर एक-दूसरे से समझौता करते। लेक्चरबाज़ी या डांट-फटकार से तो बनता काम भी बिगड़ जाता है। (वही, पृ. 307)

सामाजिक-राजनीतिक-आर्थिक संरचनाओं में कोई समझौता, कोई मध्यबिंदु नहीं चुनने वाला मार्क्सवादी पारिवारिक जीवन में इसी मध्यबिंदु का पक्ष रेखांकित करता हुआ हर बिखराव का दोष अंततः बोलनेवाली स्त्री पर ही डालकर निश्चिंत हो जाता है।... आगे जाकर इड़ा की तेजस्विता को भी 'वर्ग-वैषम्यग्रस्त शोषणमूलक पूंजीवादी' से एकाकार करते हुए 'संभावनाशील' मनु के पतन का एक कारक वे उसे भी मानते हैं पर मनु ऐसे ललबबुआ तो नहीं, उनके पतन का सारा दोष जब जायेगा, किसी स्त्री के सिर ही जायेगा □ मनु 'वास्तविक लोकनेता' वे इसलिए थोड़े ही न बने तो कि श्रद्धा और इड़ा साथ मिलकर न चल पायीं।

श्रद्धा और इड़ा का सामंजस्यपूर्ण सह-अस्तित्व किसी भी जीवन, किसी भी कृति में हृदय-बुद्धिसाहचर्य (unified sensibility) का वह सुनहरा शून्य रचती है जिसे मुक्तिबोध संवेदनात्मक ज्ञान कहते हैं। सुभद्राजी के काव्य-कर्म में इसकी उपस्थिति मन-बुद्धि-परिस्थिति-मनःस्थिति की एक अटूट शृंखला कैसे रचती है, इसका सम्यक् चित्रण करते हुए मुक्तिबोध एक उपयुक्त काव्य-निकष सामने रखते हैं। इस अटूट शृंखला में स्त्रीवादी आलोचना के तरणशील 'बहुल मैं' (multiple I) की आहट सुनायी दे, यह असंभव नहीं :

> सुभद्राजी की भावुकता कोरी भावुकता नहीं है, बाह्यजीवन पर संवेदनात्मक मानसिक प्रतिक्रियाएं हैं। यही कारण है कि उनकी कविताओं में भाव मानव-संबंध से, मानव-संबंध विशेष परिस्थिति से, विशेष परिस्थिति सामाजिक राष्ट्रीय परिस्थिति से एक अटूट संबंध-शृंखला से बंधी हुई है। (*रचनावली*-5, पृ. 392)

तो आलोचना के आश्रय हम कह सकते हैं कि मुक्तिबोध का स्त्री-चिंतन भी 'अंधेरे में' से धीरे-धीरे बाहर आने की प्रक्रिया में दिखायी देता है। पिकासो के 'मदर विद अ चाइल्ड' या 'सीता' के चरित्र विश्लेषण से इतना तो स्पष्ट है कि उनका मन उत्सुक और सजग मन था, वे एक यात्रा पर थे, वे समझना चाहते थे, उस युग के लिए यही बहुत था।

कॉनरैड और बेकेट की तरह मुक्तिबोध ने भी अर्जित भाषा में 'सर्जना' और 'आलोचना'□ दोनों

साधीं और हिंदी आलोचना को (पाश्चात्य आलोचना-शैली से स्पंदित) पाठ-सजग दार्शनिक खांचा दिया; सिद्ध आलोचनात्मक पदों के सुंदर अनुवाद चलन में ले आने का श्रेय भी उन्हें जाता है : एलियट के 'felt thought' या 'unified sensibility' के व्याख्यात्मक अनुवाद* 'ज्ञानात्मक संवेदना', 'संवेदनात्मक ज्ञान' तो इस तरह हिंदी में प्रचलित हुए कि आज तक की समीक्षाओं में इनकी गूंज सुनायी देती है। फ़ैंटेसी को यथार्थ की मुंहलगी बेटी और कलाकारों को 'आत्मा का जासूस' सिद्ध करते हुए इन्होंने यह भी रेखांकित किया कि रूपक प्रखर कवि-आलोचकों के हाथ में आलोचना के पुरअसर औजार भी हो सकते हैं।

जिस दार्शनिक प्रमेय-सजग लेंस से मुक्तिबोध ने हिंदी के मूर्धन्य रचनाकारों की मनःसामाजिक परतें खोली हैं, वह मार्क्सवाद-प्रणीत 'वर्ग का लेंस' है, पर 'वर्ण' और लिंगाधारित पूर्वग्रहों की सजग पड़ताल से सर्वथा शून्य उनकी दृष्टि नहीं थी। 'मैं तुम लोगों से दूर हूं', कविता में सारी दुनिया की बेहतर सफ़ाई के लिए एक 'मेहतर' की अवगाहना हुई है। साथ-साथ मेहतर पिता की भूखी मुनिया का भी मारक चित्र है। सुविधा-संपन्न घरों के ठाठ-बाट के आगे शर्मिंदा पिता का अपराध-बोध 'सरोज-स्मृति' के साधनहीन पिता के अपराध-बोध से कितना अलग है, कितना मिलता-जुलता □ इस पर अलग से एक ऐसा आलेख लिखा जा सकता है जो वर्ग में समाहित वर्ण-चेतना या वर्ण में समाहित वर्ग-चेतना का सही आकलन करे।

आलेख के अंत में 'एक अंतर्कथा' नामक उनकी कविता के आंतरिक तनाव का ज़िक्र करूंगी जिसमें स्त्री 'मां' के रूप में आती है। संवाद मां-बेटे के बीच में है जो फ़ैंटेसी में चलता है। मां दायित्व की एक बड़ी-सी टोकरी सर पर उठाये जंगल (सभ्यता के जंगल) में लकड़ियां बीनती चल रही है। लड़का संकोच में है, दुविधा में है, उसकी चाल तिरछी है, फिर भी वह हर टहनी-डंठल से सपना बीनता हुआ मां के पीछे चल रहा है क्योंकि मां कहती है कि टोकरी में बंद आग खुलने को है। मां (इतिहास-बोध या परंपरा-बोध) कहती है कि सारी कचास, सुविधा-भोग की सारी वृत्ति छांटते चलना, तब जाकर पंचाग्नि धधककर जलेगी। लड़का बीड़ी पीने की तलब भी आत्मसंशोधन के नाम पर त्याग देता है। तभी उसे सामने आग्नेय सेमल के फूलों से लदा पेड़ दिखायी देता है और 'लाल रोशनी' की छटा उसे एक अलग तरह के तनाव में डाल देती है :

> मैं विचरण करता-सा हूं एक फ़ैंटेसी में
> यह निश्चित है कि फ़ैंटेसी कल वास्तव होगी।

ग़ौरतलब बात यह है कि हर बार मुक्तिबोध के सर्जनात्मक तनाव का कैटेलेटिक एजेंट बनकर कोई-न-कोई स्त्री ही आगे-पीछे या साथ चली है उनके : मां के रूप में हो या प्रिया के रूप में।

---

* टी एस एलियट के आलोचनात्मक लेखन में कहीं भी वे अवधारणाएं नहीं मिलतीं, जिनका 'अनुवाद' मुक्तिबोध ने 'संवेदनात्मक ज्ञान' और 'ज्ञानात्मक संवेदन' के रूप में करके हिंदी में चला दिया हो। टी एस एलियट ने मेटाफ़िज़िकल कवियों पर लिखे अपने निबंध में Dissociation of sensibility की ज़रूर बात की है। वे शब्द जो लेखिका ने अंग्रेज़ी में इस संदर्भ में दिये हैं, वे कहीं भी टी एस एलियट ने इस्तेमाल नहीं किये हैं।□**संपादक**

मुक्तिबोध का भारत : यथार्थ और स्वप्न की कशमकश

बसंत त्रिपाठी

राष्ट्र अपनी दीर्घजीवी भौगोलिक स्थिरता (लेकिन अंतिम नहीं) के बावजूद एक स्थिर इकाई नहीं है। विचारधारात्मक स्तर पर इसमें सतत परिवर्तन होता रहता है। विचारधारात्मक और भावनात्मक परिवर्तन हमेशा जन-समुदाय के हित में नहीं होते। कई बार तो वे घोर जन-समुदाय-विरोधी होते हैं। इसलिए राष्ट्र को हमेशा अर्जित और मार्जित करना पड़ता है, वह भी बाक़ायदा विवेक और ऐतिहासिकता के साथ। अन्यथा राष्ट्र की अवधारणा को विकृत करने की शक्तियां हमेशा सतह के नीचे गुपचुप कार्रवाई में रत रहती हैं। यदि विवेकवादी विचारधारात्मक शक्तियां कमज़ोर हुईं तो प्रतिगामी शक्तियां इतनी तेज़ी से राष्ट्र को हथियाती हैं कि एकबारगी सन्न जैसी स्थिति निर्मित हो जाती है। मौजूदा दौर इसका सबसे बड़ा उदाहरण है। और यह केवल भारत की समस्या नहीं है, वैश्विक समस्या बन चुकी है। इसलिए राष्ट्र और साहित्य को नये सिरे से बार-बार समझना पड़ता है। यहां मैं यही करने की कोशिश कर रहा हूं और इसके केंद्र में मुक्तिबोध की कविता है।

आधुनिक काल के आरंभ से ही और विशेषकर आज़ादी के आंदोलन के चरम पर पहुंचने के दौरान एक राष्ट्र के रूप में भारत भारतीय चिंतकों, सर्जकों और राजनीतिज्ञों के लिए सतत अनुसंधान और स्वप्न का विषय रहा है। रवीन्द्रनाथ, महात्मा गांधी, जवाहरलाल नेहरू, प्रेमचंद, दिनकर से लेकर बाद के सभी रचनाकारों-चिंतकों में भारत-दृष्टि किसी न किसी रूप में उपस्थित है। चाहे वह आदर्श रूप में हो, यथार्थ रूप में हो अथवा निरा यूटोपिया या रूमानी हो। लेकिन राष्ट्रवादी धारा से अलग, आज़ादी के बाद के कवियों में प्रत्यक्ष तौर पर यदि किसी कवि ने अपनी कविता और अन्य कृतियों में भी, भारत की इतनी अधिक चर्चा की है तो वे मुक्तिबोध ही हैं। मुक्तिबोध राष्ट्रवादी नहीं थे, मार्क्सवादी थे। वे राष्ट्र को एक भावुक भौगोलिक या सांस्कृतिक प्रतीक में रूपांतरित करके नहीं समझते थे।

मुक्तिबोध तीन भिन्न-भिन्न विधाओं में भारत की अपनी समझ को अभिव्यक्त करते हैं। एक उनका पत्रकार रूप है, दूसरा उनका इतिहासकार और आलोचक रूप है और तीसरा उनका कवि रूप है। नागपुर में रहते और 'नया खून' में लिखते हुए उन्होंने जिस भारत की चर्चा की है, वह अधिकतर अमेरिकी और यूरोपीय साम्राज्यवादी षड्यंत्रों और दमन-नीति के बरक्स एशियायी प्रतिरोध का समावेशी रूप है जिसका भारत प्रतिनिधित्व कर रहा है। साम्राज्यवादी देशों की नज़र में एशियाई अशांति उनके निजी हितों के लिए कितनी ज़रूरी थी, उसका अत्यंत विस्तृत विश्लेषण मुक्तिबोध करते हैं। इसमें भारत की कूटनीति और विदेश नीति का जो आकलन उन्होंने किया है, वह आज भी राजनीतिज्ञों के काम का है, बशर्ते उनमें

पढ़ने की ज़रा भी इच्छा-शक्ति हो। यह विश्लेषण मुक्तिबोध ने अपने नाम के साथ भी लिखा है और छद्म नाम से भी। *भारत : इतिहास और संस्कृति* तथा उनके आलोचनात्मक निबंधों में भारत का एक अन्य रूप है, जिसे उन्होंने इतिहास और तत्कालीन लेखन का विश्लेषण करते हुए पाया है। लेकिन उनका कवि रूप जिस भारत को रखता है, वह उक्त दोनों ही रूपों से अलग और विशिष्ट है। यद्यपि मुक्तिबोध विधाओं के पृथक्कीकरण का पालन करने वाले रचनाकारों में नहीं हैं। वे लगातार उनका मिश्रण करते हैं, चाहे वह मिश्रण कितना भी असंगत और बेमेल क्यों न हो जाये। 'ज़माने का चेहरा' कविता इसका उदाहरण है। शायद इसीलिए बेहतर और सुगठित विन्यास के बावजूद यह अधूरी ही रह गयी। इस कविता के अंतिम हिस्से और 1955-57 के दौरान की पत्रकारिता में, भाषा के अलावा, कोई आधारभूत अंतर नहीं है। इस कविता से गुज़रते हुए महसूस होता है कि मुक्तिबोध के लिए भारत किसी भी राष्ट्रवादी की तरह वायवीय नहीं था बल्कि ज़्यादा यथार्थवादी था। हालांकि उनकी काव्य-भाषा देखते हुए लगता है कि वे आरंभ में जिस भारत को लेकर मुग्ध हैं, वह क्रांति की अवश्यंभाविता से भरा हुआ है।

मुक्तिबोध का भारत क्रांति की आकांक्षा से उत्प्रेरित है। वह भौगोलिक सीमाओं से घिरा हुआ राष्ट्र होते हुए भी अपनी अंतरराष्ट्रीयता के प्रति उत्सुक है। शायद इसलिए उन्होंने स्वतंत्र रूप से केवल रवींद्रनाथ ठाकुर पर ही कविता लिखी। द्वितीय विश्वयुद्ध के अंत-अंत में लिखी हुई यह कविता है जिसमें मुक्तिबोध **विश्व-मातृ-उदर** के गर्भ से **नवल-ज्योति-बाल** की **प्रसूति-वेदना** को महसूस करते हैं और रवीन्द्रनाथ को बड़े भ्राता रूप में संबोधित करते हुए कहते हैं कि 'आज मैं तुम्हारा कार्य कर रहा मुक्त' और ऐसा आदर भी□ओ रबिन्द्रनाथ / तव अनुज प्रणत तव हिमाद्रि-वक्ष देख / वह तुम्हारा मुक्तिबोध। यह कविता रवीन्द्रनाथ पर श्रद्धांजलि स्वरूप नहीं लिखी हुई है। इसमें अंतरराष्ट्रीय घटनाक्रमों के फलस्वरूप उभर रहे भारत के दायित्वों से ख़ुद को जोड़ने की इच्छा है। और इस इच्छा को प्रतिज्ञा में रूपांतरित करने के लिए जिस भव्य मूर्ति के समक्ष ख़ुद से वादा करना था, वह मूर्ति रवीन्द्रनाथ के अलावा और किसकी हो सकती थी?

मुक्तिबोध का काव्य-मन आरंभ में रूमानियत से भरा था, इसका अलग से भाष्य करना यहां आवश्यक नहीं है। लेकिन 1940 का दशक बीतते-बीतते उनमें यथार्थवादी रुझान दिखायी पड़ने लगता है। उनका रूमानी मन पहली बार 'क्षिप्रा-धारा' कविता में यथार्थ के दृश्यों पर थिर होता है। लेकिन वे रोमान से पूरी तरह मुक्त नहीं होते। *तारसप्तक* में संकलित उनकी कविता 'खोल आंखें' रोमान और यथार्थ के बीच उनमें किस तरह का संघर्ष चल रहा था, उसे जानने के लिहाज से महत्त्वपूर्ण है। वे लिखते हैं :

> जिस देश प्राणों की जलन में
> एक नूतन स्वप्न का संचार हो
> ओ मेरे हृदय, उस ज्वलन की भूमि में बिछ जा स्वयं ही
> औ' तड़पकर उस निराले देश में तू खोल आंखें। (पृष्ठ-111, मु.र.खंड-1)

मुक्तिबोध का देश असंख्य स्वप्नों का झिलमिलाता कोलाज है। जिसमें स्वप्न बहुत रोमानी नहीं होगा, वह कभी पीड़ा की तीव्रता को भी महसूस नहीं करेगा। आख़िर देश को स्वप्निल आशा के रोमान में देखने का क्या कारण हो सकता था? देश की जलन में एक नूतन स्वप्न का संचार हो रहा था और कवि ख़ुद को उससे जुड़ने की समझ देता है। यहां दो पदों को खोलना ज़रूरी है □ 'देश की जलन' और 'नूतन

स्वप्न'। इस पर अपनी ओर से कुछ न कहकर मुक्तिबोध की शब्दावली में ही इसे देखते हैं। 1940 के अपने लिखे निबंध 'आधुनिक हिंदी साहित्य और नवयुग की समस्याएं' में वे लिखते हैं □ 'जब हम मान चुके हैं कि हमारे राजनैतिक और सामाजिक अंगों का बहिष्कार करना अपने हाथ और पैरों को तोड़ देना है, तो हमें यह मान लेने में देरी न करनी चाहिए कि व्यक्तिगत या समूहगत भावनाओं से उठकर एक राष्ट्रात्मा भी होती है, जिसका शक्तिमान होना हमारी जीवनधारा के लिए निहायत ज़रूरी है। हम तब तक पूरी तरह से उन्नत नहीं हैं, जब तक कि दूसरे आदमी भी हमारे समान उन्नत न हो जायें. .. इस समय युग में निश्चित परिवर्तन है। 'जीवन धारा' अब आगे बढ़ना चाहती है। पहले जब युग परिवर्तन हुआ, तब हम उपनिषत्काल के हिंदुस्तान और मंसूर और जलालुद्दीन रूमी के मध्य एशिया में गये थे, लेकिन आज हमारी दृष्टि भविष्य के सितारे पर है। भविष्य के हिंदुस्तान पर है। और अगर आज हमारी कला की धारा राष्ट्रात्मा से अलग होकर अपना मार्ग खोजती है, तो उसका रेगिस्तान में गुम हो जाना अपरिहार्य है।' (पृष्ठ-21, खण्ड-5)

जीवनधारा आगे बढ़ना चाहती है, यानी मध्यकाल से मुक्ति आवश्यक है। यानी मध्यकालीन परिस्थितियों में घुटते रहना ही जलन है और स्वप्न है उस विराट विश्वात्मा से जुड़ने की इच्छा, जिसका निर्माण आज़ादी के संघर्ष और वैश्विक प्रतिरोध के क्रम में सतत विकसित हो रहा था। इसी क्रम में वे बहुत निर्मम बात भी कहते हैं □ 'हमें अपनी परंपरा को नहीं देखना है। परंपराएं हमारी बुरी आदतें हैं, उनसे हटकर भविष्य निर्माण करना चाहिए।' (उप.) परंपराओं से यहां तात्पर्य मध्यकाल की पतनशील परंपरा ही है। राष्ट्रवादी राजनीति में ही जिस उग्रता के विकास की संभावना प्रबल हो रही थी और उसके लक्षण भी दिखने लगे थे, उसके प्रति मुक्तिबोध बेपरवाह नहीं थे, जो बाद में आसन्न ख़तरे की तरह अक्सर उनकी कविताओं में आता है। फिलहाल वे किस भारत के आकांक्षी थे, उसे देखते हैं।

'ओ विराट स्वप्नो' कविता में वे भारत में क्रांति की प्रबल संभावनाओं का स्वागत करते हुए कहते हैं :

ओ विराट स्वप्नो तुम देखो
केवल एक तुम्हारे कारण
अंगारे हो गये कमल से सुंदर कोमल,
लाल स्फुलिंग नवल किंशुक के फूल हो गये,
मेरे भारत के वृक्षों ने
ज्वालाओं के नये सुनहले कंकण पहने माला पहनी
कूल नदी के लाल हो गये।
देश-देश प्रज्ज्वलित सुनहली क्रूर भव्य दावा में जलता
यह मानव हो गया फैलकर
महान व्यापक।
केवल एक तुम्हारे कारण।

मुक्तिबोध का भारत विपन्न है लेकिन संघर्षशील है। उनके भारत का एक पक्ष यदि पूंजीवादी शोषण का क्रूर चक्र है तो दूसरा पक्ष उसका प्रतिकार करता हुआ श्रमशील-संघर्षशील जन है। उनकी आस इसी पर टिकी है। 'सूरज के वंशधर' (पृष्ठ-300, खंड-1) कविता में कहते हैं :

भारतीय अंधेरी गहरी-गहरी गलियों में आजकल
भयानक सर्दी की काली-काली रातें हैं
उनके किनारों पर
ज्वालाएं, लाल-लाल धधकते जल रहे
विद्रोह के अंगार

सर्दी की जो काली-काली रातें हैं, उन्हें आगे विस्तार देते हुए कहते हैं कि उनका लंगोटीधारी हिंदुस्तान सूखी हुई जांघों की लंबी-लंबी अस्थियां हिलाता हुआ चलता है, रास्ते पर बिखरे हुए चावल के दानों को लपककर बीनता है, रोते हुए बच्चों को कंधे पर बिठाये हुए ज़िंदगी को जीता है और अपने ही पुत्र का शव उठाये श्मशान की ओर बिलखते हुए जाता है। लेकिन फिर भी यह पराभूत नहीं हुआ है। इसी भारत के लोगों के साथ रहने की घोषणा उन्होंने पहले ही 'खोल आंखें' कविता में कर दी थी। इस प्रण को वे ऐन आज़ादी से पूर्व भी दुहराते हैं :

ऐ हिंदुस्तानी फटेहाल ज़िंदादिल ज़िंदगी
तेरे साथ तेरा यह बंदा नित रहेगा

(गुलामी की ज़ंज़ीरें टूट जायेंगी, पृष्ठ-180, 1)

इस भारत को वे बाद में लगातार असफल होते हुए देखते हैं। (यदि वे आज ज़िंदा होते तो न मालूम किस तरह की कविताएं लिखते।) क्या यही कारण नहीं है कि मुक्तिबोध की कविता में अंधेरे की उपस्थिति लगातार बढ़ती गयी? जो लोग मुक्तिबोध को रहस्य, अंधेरा और फंतासी का कवि मानते हैं, उन्हें इस पर विचार करना चाहिए कि ऐसा क्यों हुआ। उनकी आरंभिक कविताएं तो रोमान, प्रेम और स्वप्नमय-सौंदर्य की कविताएं हैं, तो फिर उसकी जगह वीभत्स मंथन ने क्यों ले लिया? वे अकेले ऐसे कवि हैं जो इतने विस्तृत रूप में निर्माण के स्वप्नों के स्थगन को निर्माताओं की उदासीनता और चाटुकारों की अवसरवादिता में देखते हैं। एक ओर राजनीतिक और पूंजीवादी अवसरवाद था तो दूसरी ओर मध्यकालीन कर्मकांडीय लिप्साओं का प्रत्यावर्तन भी था। ध्यान रखना चाहिए कि मुक्तिबोध गांधी हत्या के बाद से लेकर 1958 तक नागपुर में रहे। उन्होंने राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की गतिविधियों को अन्य लोगों की अपेक्षा ज़्यादा नज़दीक से देखा था।

'ज़माने का चेहरा' कविता का ऊपर ज़िक्र हुआ है। मुक्तिबोध की भारत-दृष्टि को समझने के लिहाज से यह ज़रूरी कविता है। वे भारत की तलाश इतिहास के फ्रेम में ही नहीं करते, वैश्विक राजनीति में भारत को अर्जित करते हैं। द्वितीय विश्वयुद्ध में भारत की सहभागिता प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों ही स्तर पर थी। यह कविता लिखते हुए मुक्तिबोध ने भारत के पक्ष को बेहतर तरीक़े से समझा है। द्वितीय विश्वयुद्ध पर ढेरों कविताएं लिखी गयी हैं। लेकिन यह कविता इस मायने में अलग है कि इसमें पड़ोस की निर्मला का दुख भी है और अंग्रेज सैनिकों द्वारा महाराष्ट्र के दूर-दराज के इलाक़े चिमूर और आष्टी में स्त्रियों से किये गये बलात्कार का भी ज़िक्र है। युद्ध के पश्चात अमरीकी साम्राज्य जिस ताक़त के साथ उभर रहा था, उस पर वे नज़र गड़ाये हुए थे, नागार्जुन और केदारनाथ अग्रवाल की ही तरह। अमरीकी साम्राज्यवाद की बढ़ती आकांक्षाओं को वे 'ज़माने का चेहरा' कविता में यों दर्ज करते हैं :

साम्राज्यवादियों के
पैसों की संस्कृति
भारतीय आकृतियों में बंधकर
दिल्ली को
वाशिंगटन व लंदन का उपनगर
बनाने पर तुली है !!
भारतीय धनतंत्री जनतंत्री बुद्धिवादी स्वेच्छा से उसी का ही कुली है !!
भारतीय संस्कृति के खंडेरों में जीवंत कीर्ति की
विदीर्ण मूर्तियों
के लतियाए भालों पर
स्तंभों के शीश पर
मंदिरों के शृंगों पर
बैठे ये जन-द्वेषी घुग्घू ये घनघोर
चीखते हैं रात-दिन !! (पृष्ठ-77/1)

मुक्तिबोध की दृष्टि के सम्मुख जो भारत था, वह दोहरे संकट से घिरता जा रहा था। एक तरफ़ तो साम्राज्यवादी शक्तियों के चरागाह में बदलने की संभावनाएं प्रबल हो रही थीं, तो दूसरी ओर मध्यकालीन जर्जर सांस्कृतिक अवशिष्ट के राजनीतिक मंसूबे लगातार ताक़तवर हो रहे थे। 'एक के बाद एक' कविता का गिद्ध और उसकी घोषणा एक ऐसा ही उभार है :

गिद्ध ने भी कई-कई गिरि-शिखर-घाटियों की
समुद्घाटना की
कि फैली हुई धूप में सूखती अस्थियों के मनोहर शिखर-अंचलों पर सिमट कर नये धूम की साधना की
व राष्ट्रीय कर्त्तव्य का बोध करवा
महोत्सव-समारोह-उपलक्ष्य, उसने लगाया वहीं एक बिरवा !!
ठाठ से फिर कहा गिद्ध ने
मैं स्वयं-सिद्ध हूं
तो कणों में, कणों के कणों में औ' मधुर सनसनी
आत्मा के भीतरी
कोष के ब्रह्म के ठाठ उन्मनी व्यग्र अनुभूति या वेदना बन गयी वह मधुर सनसनी
हज़ारों व लाखों
पुराने सड़े जीर्ण खोखे
हृदय में मृदंग ध्वनित हो उठे। (पृष्ठ-86/2)

गिद्ध की इस गर्वोक्ति में क्या आज के स्वयंभू महानायकों की घोषणाएं सुनायी नहीं पड़तीं? गिद्ध की गर्वोक्ति में पवित्रतावाद की आक्रामक राजनीति का दर्प कितना घुला हुआ है, यह आसानी से देखा जा सकता है। पवित्रतावाद अक्सर नैतिकता की लाश पर चढ़कर ही अपना विस्तार करता है। जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व के बावजूद भारत संकट में घिर रहा था। दरअसल नेहरू ख़ुद निरुपाय थे। मुक्तिबोध

ने *नया खून* के अपने लेखों में नेहरू की अरब नीतियों, उनके पंचशील के सिद्धांतों की प्रशंसा की है। यूरोप और अमेरिका की अरब नीति को भारत सहित एशिया के लिए ख़तरा कहा है।

नागपुर में रहते हुए मुक्तिबोध की भारत-दृष्टि में जो परिवर्तन होता है, उसके वस्तुगत कारण थे। 'ज़िंदगी का रास्ता' उनकी 1950 में लिखी हुई एक कविता है। वे जिस आक्रामक राष्ट्रवाद के समक्ष विवेक को अशक्त-सा पा रहे थे, वह राष्ट्र अपनी विकास-धारा के लिए मेहनतकश तबके को छोड़कर निरंतर आगे बढ़ने के लिए तैयार खड़ा था। कविता में रामू नाम का एक मामूली 'नगण्य टीचर' इस आक्रामक राष्ट्र को महसूस करता है। इस कविता के दूसरे परिच्छेद में मुक्तिबोध ने इस नयी तरह के बन रहे राष्ट्र की ख़ौफ़नाक तस्वीर खींची है। आज 2017 में खड़े होकर 'ज़िंदगी का रास्ता' कविता को देखते हैं तो लगता है कि मुक्तिबोध सबसे अधिक समकालीन कवि हैं। यद्यपि उनकी काव्य-भाषा कतई समकालीन नहीं है। बेहद दुरूह, संश्लिष्ट और परस्पर उलझे हुए चित्र। संस्कृत-निष्ठ शब्दावली और हिंदू-बहुल प्रतीक। इतिहास, पुराण, स्मृति, समकालीन जीवन-संदर्भों और उससे उपजी वृत्तियों का एक भयंकर मिश्रण। किसी को यह काल्पनिक चित्र भी लग सकता है। कोई इसे सिजियोफ्रेनिक मन की अति-रंजित कल्पना भी कह सकता है। ऐसी कल्पना जैसी कभी लू शुन ने 'पागल की डायरी' लिखते हुए की थी। लेकिन देश के भविष्य में ये सारी चीज़ें यदि घटित होती हुई न दिखतीं तो ऐसा कहना लाज़िमी होता। मुक्तिबोध ने जो कल्पनाएं की थीं, वह भविष्य में सच होते दिखती हैं। और आज तो सौ फ़ीसदी सच है। वे लिखते हैं:

रास्ते पर चलते हुए रामू का मन
अपने से ही कहता है कि... पूंजीवादी ह्रास के
सियाहपोश देहवाले गेरुए चेहरे के भैरव ह्रास के
इस भयानक काल में
दिन का उजाला काले धुएं के आसमान में से आया हुआ प्रतीत होता है,
मुर्दा अप्राकृतिक धुंधला प्रकाश ही तो
ज्ञान कहलाता है
यशःलोलुप व्यक्ति की तेजोमयी सत्ता
आधुनिक आदमखोर रावण के घर पर
भिश्तीगिरी करती है,
पूंजीवादी उल्लू के साहित्यिक पट्ठे
राजनैतिक रात में
ऊंचे किसी छप्पर का आसरा लिए हुए
(रात) चीखा करते हैं (पृष्ठ-262/1)

आधुनिकता ने यदि इतनी विपत्तियां, इतनी मुश्किलें दी थीं तो उसका प्रतिकार करने की वैचारिक चेतना भी दी थी। रामू समकालीन यथार्थ को देखते हुए यद्यपि परेशान है लेकिन खुद को दिलासा देते हुए विश्वास रखने की नसीहत भी देता है :

इतने सब कष्टों की
(लीलने को फैलती हुई)

काली-नीली जीभों के बावजूद,
ज़िंदगी के विपर्यासों, वैषम्यों, अभावों के
कि दैत्याकार मर्कटों के व्यंग्यमय
(खिड़की में से झांक मुंह-चिढ़ाते-से)
भयानक
जंगली आंख, नकटी नाक वाले स्याह
चेहरे के बावजूद
आधुनिक जीवन यह महान है
जन-जन के उरों में आज
संघर्ष का, साहस का सुनहला गान है
जन-जन के हृदय में आज नया सूरज उगा है
कि जिसके संस्पर्शों में
खिले हैं धरती की ज्वालाओं के नभचुंबी शतदल
चमकते हैं गभीर युगांतरकारी
शक्तियों के अंगारी सितारे
मानवीय संघर्ष के (काव्य के) सहारे। (पृष्ठ-274-275/1)

इसी तरह जनशक्ति के उभार को आशा-भरी, विश्वास-भरी नज़रों से देखने वाली अजेय आस्था की कविता है 'मेरे मित्र, सहचर'। 1951 में लिखी गयी यह उनकी एकमात्र कविता है जिसमें संशय नहीं है। आद्यंत आस्था से भरी हुई कविता है यह। हिरावल दस्ते की अग्रिम पंक्ति में रहने वालों के सम्मान में लिखी हुई कविता है यह। इस कविता में भारतीय संघर्षशील योद्धाओं को वैश्विक मोर्चे के सहचर रूप में देखा गया है। मुक्तिबोध की राष्ट्र-संबंधी अवधारणा को समझने के लिए इस कविता के आरंभ एवं अंत को देखना काफ़ी होगा।

आरंभ :
मेरे मित्र, सहचर
भारतीय गली के अंधेरे किसी कोने में
ज़िंदगी के दर्दों के केंद्र के चारों ओर
घूमते हैं विचारों के तेजःपुंज ग्रह-गोल
विप्लवी दृष्टि की उल्काएं, तारादल
कृतियों के स्वप्नों के,
भव्य जन-संघर्षों के प्रदीप्त तेजोमेघ
मस्तक में घूमते हैं ज्वालामण्डल प्रतिपल। (पृष्ठ-310/1)

अंत :
बीसवीं सदी के सन इक्यावन के साल में
ज़िंदगियों की धज्जियों की पताकाएं बदरंग
टूटी हुई गैलरी से फूटी हुई भीत से
उखड़ी हुई चौखट की खिड़की से, द्वार से

लहराती हुईं आज, फड़कती हुईं आज
क्रोध भरे इशारों में करती हैं निवेदन
कहां से उठेगा कल धुंधुआते धुएं के
ज्वालामय मेघों का प्रभंजन मेरे मित्र, सहचर
जिनको तू सोचता था गुप्त न रह जायें,
ओझल न रहें तुझसे तेरे ही अभिप्राय !! (पृष्ठ-322/1)

लेकिन राजनांदगांव में जीवन में अपेक्षाकृत स्थायित्व के बाद मुक्तिबोध की कविताओं और कहानियों में जो बदलाव हुआ, वह अलग विश्लेषण की मांग करता है। मुक्तिबोध में अंतर्द्वन्द्व का स्वर बढ़ता जाता है। वे स्व-धिक्कार भाव से भरते जाते हैं। अपने बहाने बुद्धिजीवियों की चीर-फाड़ की निर्ममता का स्वर बेचैन करता है। मुझे लगता है कि वे जिस स्वप्न को अवश्यंभावी मानकर श्रमशील जनता की ताक़त को अतिरिक्त मुग्धता के साथ देख रहे थे, उस संभावनाशील स्वप्न की यथार्थ से टक्कर हो गयी थी। और बनता हुआ संभावनाशील राष्ट्र उन्हें बिखरता हुआ-सा लगने लगा था। उनकी संकल्पनाओं का राष्ट्र कहीं गुम-सा हो रहा था। इसका कारण उन्हें नेतृत्वकारी बुद्धिजीवियों का अवसरवाद भी लगता था। इसी दौर में उन्होंने सर्वाधिक बेचैनी भरी कविताएं लिखीं। इन्हीं कविताओं के आधार पर उन्हें खंडित, आत्म-धिक्कारी, अस्तित्ववाद और अंतर्द्वन्द्व से पीड़ित कवि तक कहा गया। यह आधा सच है। पूरा सच यह है कि मुक्तिबोध आरंभ से ही भारत को अजेय आस्था के साथ देखते रहे थे। और अब चलकर यह आस्था छीजने लगी थी। इसमें वे बुद्धिजीवियों को भी दोषी मानते हैं। 'अंधेरे में' कविता के उस विराट जुलूस को कौन भूल सकता है। हिंदी कविता में उस जुलूस को सबसे ज़्यादा याद किया गया है। हिंदी के एक सामान्य पाठक के मानस में भी उसके बिंब मौजूद हैं, इसलिए यहां उसे दुहराउंगा नहीं। लेकिन इतना ज़रूर कहूंगा कि मुक्तिबोध के चिंतन का केंद्र शिफ़्ट हो रहा था। उनकी सर्जना फंतासी-परक और अमूर्त तक होने लगी थी। यद्यपि इसी दौर में उन्होंने अपनी सर्वाधिक प्रसिद्ध कविताएं लिखीं। उनके चिंतन का केंद्र क्यों शिफ़्ट हो रहा था, इसे उनकी कविता की शब्दावली में ही देखें :

असल तो यह है कि
कोई अर्थ मर गया देखते-देखते
लेकिन वह
ज़िंदगी का नक्शा पेश कर गया (एक रग का राग, पृष्ठ-162/2)

यदि मुक्तिबोध के इसी तर्क को विस्तार दूं तो कहना होगा कि जो अर्थ मर गया था, वे उसका पोस्टमार्टम करते हैं। और पाते क्या हैं? :

इस सल्तनत में
हर आदमी उचककर चढ़ जाना चाहता है,
धक्का देते हुए बढ़ जाना चाहता है,
हर एक को अपनी-अपनी
पड़ी हुई है। (हर चीज़ जब अपनी, पृष्ठ-272/2)

मुक्तिबोध की भारत-दृष्टि कैसे लगातार छीजती जा रही थी, इसे समझने के लिए 'चकमक की चिनगारी' कविता का उल्लेख भी ज़रूरी है :

मेरे सामने हैं प्रश्न,
क्या होगा कहां किस भांति,
मेरे देश भारत में, पुरानी हाय में से
किस तरह से आग भभकेगी,
उड़ेंगी किस तरह भक से
हमारे वक्ष पर लेटी हुई
विकराल चट्टानें व इस पूरी क्रिया में से
उभरकर भव्य होंगे, कौन से मानव-गुण? (पृष्ठ-240/2)

इसी कविता में आगे वे भारत की अत्यंत बेचैन तस्वीर खड़ी करते हैं :

प्रतीकों और बिंबों के
असंवृत रूप में भी
हमारी ज़िंदगी है यह।
जहां पर धूल के भरे गरम फैलाव पर, पसरती लहराती चादरें
बेथाह सपनों की।
जहां पर पत्थरों के सिर,
ग़रीबी के उपेक्षित श्याम चेहरों की
दिलाते याद।
टूटी गाड़ियों के सांवले चक्के
दिखें तो मूर्त होते आज के धक्के
भयानक बदनसीबी के।
जहां सूखे बबूलों की कंटीली पांत
भरती है हृदय में धुंध, डूबा दुःख,
भूखे बालकों के श्याम चेहरों साथ
मैं भी घूमता हूं शुष्क,
आती याद मेरे देश भारत की। (पृष्ठ-243/2)

इसी में आगे एक सवाल पूछते हैं कि 'मेरे सभ्य नगरों और ग्रामों में सभी मानव/ सुखी, सुंदर और शोषण-मुक्त कब होंगे?'

यदि इस आधार पर कहें कि मुक्तिबोध आज़ाद भारत के सबसे अधिक बेचैन कवि हैं तो कोई अतिशयोक्ति न होगी। उनकी बेचैनी का कारण व्यक्तिगत होते हुए भी सार्वजनीन था। उनकी बेचैनी में पराभूत हो रहे राष्ट्र की सच्चाइयां थीं। ऐसी सच्चाइयां, जिनकी ओर से वे आंख मूंद लेते तो शायद कुछ और समय तक जीते। कुछ और साहित्य रचते। यदि वे भारत को अतिरिक्त मुग्धता के साथ न देखते, जन-शक्तियों के उभार को इतनी आस्था के साथ न देखते और उसकी पराजय और उसमें अवसरवादी बुद्धिजीवियों की आत्मग्रस्तता की उपेक्षा कर देते तो शायद इतने उलझाव-भरे विस्तृत रूपक और बिंब उनकी कविताओं में न होते। उनका संघर्षरत भारत के विस्तृत समुदाय से निहायत निजी और

कल्पनाशील (काल्पनिक नहीं) संबंध था। जिस भारत को उन्होंने अर्जित किया था, उसे लगातार खोते चले गये। जिस फटेहाल ज़िंदादिल ज़िंदगी के साथ नित रहने का वादा उन्होंने आज़ादी के पूर्व किया था, उसके साथ रहे तो आजीवन ही। उसके श्रमशील तबके को कई बार जीतते हुए भी देखा। लेकिन बाद के अनुभव कुछ दूसरे ही थे। ऐसे में मुक्तिबोध के भारत को बार-बार परखने और उसे मार्जित करने की ज़रूरत हम सबकी है। क्या यह अच्छा न होगा कि जैसे कभी मुक्तिबोध ने 'रबिंद्रनाथ' कविता लिखते हुए उस भव्य मूर्ति के समक्ष ख़ुद से एक वादा किया था, वैसे ही हम भारत की इस सबसे बेचैन मूर्ति के समक्ष ख़ुद से एक वादा करें? है तो यह रोमेंटिक खयाल। लेकिन नृशंसताओं से मुक़ाबला करने के लिए यथार्थवादी होने के साथ थोड़ा यूटोपियन होने में कोई ख़ास हर्ज़ नहीं है।

62, वैभव नगर दिघोरी, उमरेड रोड, नागपुर-440034
मो : 09850313062

मुक्तिबोध और उनकी प्रासंगिकता

प्रांजल धर

गजानन माधव मुक्तिबोध हिंदी साहित्य के अत्यंत प्रभावशाली रचनाकार हैं। छायावादोत्तर काल के बहुचर्चित कवि मुक्तिबोध की कविताओं में एक गहरी कसक और तीव्र वेदना तो है ही, तीक्ष्ण संघर्ष और द्वंद्व की अद्वितीय और जीवंत स्थितियां भी उनमें मौजूद हैं। आसपास के परिवेश के प्रति उनमें ग़ज़ब की सतर्कता है, वंचना और शोषण की दयनीय स्थितियों के लिए उनके हृदय में ज़बरदस्त संवेदना है और समाज की विकृतियों के प्रति उनके मस्तिष्क में गहरा क्षोभ है। उनकी रचनाशीलता का वैविध्य साहित्य की विधाओं में ही नहीं दिखता, वह उनकी कविताओं में रचे बसे चित्रों और बिंबों में भी दिखता है। उन्होंने कहानियां लिखी हैं, कविताएं रची हैं, संपादन किया है, लेख लिखे हैं, और पुस्तकें भी लिखी हैं। साहित्य और शास्त्रों की गहरी समझ रखने वाले मुक्तिबोध ने समीक्षा के क्षेत्र में भी अपना योगदान दिया है। वर्ष की हथेली पर से वर्ष पर वर्ष फिसलते गये और आज आधी शताब्दी से भी अधिक समय बीत गया, जब मुक्तिबोध ने इस संसार से विदा ली थी। परंतु इतना समय गुज़रने के बावजूद मुक्तिबोध आज भी उतने ही प्रासंगिक हैं। व्यवस्था की जिन विसंगतियों और विडंबनाओं पर उन्होंने चोट की, जिन विद्रूपताओं पर उन्होंने खिन्नता प्रकट की तथा जिन वंचनाओं और पीड़ाओं पर उन्होंने अफ़सोस ज़ाहिर किया, क्या वे आज बिल्कुल समाप्त हो गयीं हैं? भूमंडलीकरण और तकनीकी प्रगति से युक्त वर्तमान समय में भी क्या समाज तमाम विरोधी चित्रों को पेश नहीं करता?

सच्चाई यह है कि जिन गंभीर सवालों पर मुक्तिबोध ने गहन चिंतन किया, वे सवाल आज भी न सिर्फ़ मौजूद हैं बल्कि बार-बार दरवाज़ा पीट रहें हैं। उत्तरआधुनिकता जीवन के नये अर्थों को गढ़ने में लगी है और विखंडनवाद 'पाठ' के निर्धारित अर्थ को ही विस्थापित कर देने पर उतारू है। समाज और सरकार की तमाम खुशफ़हमियां दूर हुई हैं, और कई भ्रम भी ध्वस्त हो चुके हैं। लेकिन मुक्तिबोध और उनकी रचनाएं आज भी न सिर्फ़ प्रासंगिक हैं, बल्कि पाठक को बहुत कुछ सोचने पर भी मजबूर कर दिया करती हैं।

मुक्तिबोध का समय गतिशीलता व संक्रमण का समय है। वैश्विक दर्शन के रूप में मार्क्सवाद उनके समय तक पर्याप्त रूप से प्रतिष्ठित हो चुका था और अंतर्राष्ट्रीय मानचित्र पर रूसी क्रांति की महान घटना घटित हो चुकी थी। उपनिवेश राष्ट्रों का स्वाधीनता आंदोलन अपने चरम पर था, और कई स्थानों पर वह विजयी भी हो चुका था। मुक्तिबोध ने भारत की स्वाधीनता के साथ-साथ उसकी पराधीनता के

दौर में भी अपनी रचनाएं लिखी हैं। भारतीय राजनीति में गांधी और वैश्विक राजनीति में स्टालिन के प्रभाव के साथ-साथ वह इस देश की स्वतंत्रता के भी साक्षी थे। 'लाल सलाम' और 'दमकती दामिनी' जैसी कविताएं अगर पिछली सदी के चालीस के दशक की हैं तो 'अंधेरे में' और 'ब्रह्मराक्षस' जैसी अन्य कविताएं काफ़ी बाद की हैं। उनकी प्रारंभिक कविताओं में यथार्थबोध के साथ-साथ ऊर्जा और क्रांति की कल्पना बड़ी मोहक व आकर्षक है। लेकिन इसका यह तात्पर्य बिल्कुल नहीं है कि उनकी परवर्ती कविताएं ऊर्जाहीन या साधारण हैं। कोमलता और कठोरता, आशा और निराशा तथा बेचैनी और छटपटाहट की कितनी ही स्थितियां उनकी कविताओं में उपस्थित हैं। कुछ उदाहरणों से यह बात भली-भांति समझी जा सकती है :

(1) ज़िंदगी नशा बन घुमड़ी है
ज़िंदगी नशे-सी छायी है
नव-वधुका बन / यह बुद्धिमती
ऐसी तेरे घर आयी है।

('जब प्रश्नचिन्ह बौखला उठे' से)

(2) नामंजूर,
उसको ज़िंदगी की शर्म की-सी शर्त
नामंजूर,
हठ इनकार का सिर तान ...खुद-मुख़्तार।

('भूल-ग़लती' से)

(3) नंगी-सी नारियों के / उघरे हुए अंगों के
विभिन्न पोज़ों में / लेटी थी चांदनी
सफ़ेद / अंडरवियर-सी, आधुनिक प्रतीकों में
फैली थी / चांदनी।

('चांद का मुंह टेढ़ा है' से)

(4) कविता में कहने की आदत नहीं पर कह दूं
वर्तमान समाज में चल नहीं सकता।
पूंजी से जुड़ा हुआ हृदय बदल नहीं सकता

('अंधेरे में' से)

(5) बेचैन चील।
उस जैसा मैं पर्यटनशील / प्यासा-प्यासा,
देखता रहूंगा एक दमकती हुई झील

('बेचैन चील' से)

(6) अब अभिव्यक्ति के सारे ख़तरे / उठाने ही होंगे
तोड़ने ही होंगे मठ और गढ़ सब।
पहुंचना होगा दुर्गम पहाडों के उस पार

('अंधेरे में' से)

(7) दस्यु पराक्रम / शोषण-पाप का परंपरा-क्रम
वक्षासीन है, / जिसके कि होने में गहन अंशदान

स्वयं तुम्हारा। / इसीलिए जब तक उसकी स्थिति है,
मुक्ति न तुमको।

('चंबल की घाटी में' से)

(8) एक भयंकर तुमुल नाद है / आत्मद्वंद्व का, जनसंगर का।
व्यक्ति जूझता, समाज लड़ता / काल कांपता।

('प्रथम छंद' से)

मुक्तिबोध समतामूलक समाज की रचना पर बल देते हैं। ऐसा राज्य और समाज जिसमें शोषण नहीं होगा, ग़ैरबराबरी की बातें नहीं होंगी और जिसके भीतर अमीर और ग़रीब□सभी को बराबर प्रतिष्ठा व सम्मान हासिल होगा। राज्य के अत्याचारपरक चरित्र के प्रति वे आशंकित हैं। इसलिए फ़ासीवाद की आशंका हमेशा उनके मन पर छायी रहती है, उन्हें बेचैन किये रहती है : 'मेरा सिर गरम है, / इसीलिए भरम है'। आशंका के चलते उन्हें ख़तरे दीखते हैं □ विचार और लेखन की स्वतंत्रता पर ख़तरे और इतिहास के क्षेत्र में पूर्वाग्रहयुक्त दृष्टिकोण के दख़ल के ख़तरे। लेकिन यह सब अकारण नहीं है। उनकी पुस्तक, *भारत : इतिहास और संस्कृति* पर प्रतिबंध लगने के कारण उन्हें काफ़ी धक्का पहुंचा था। एक पत्रकार की हैसियत से भी उनके अनुभव कड़वे रहे। इस संबंध में 'मै शुद्ध आर्य रक्त' उनका एक प्रासंगिक लेख है जिसमें उन्होंने दक्षिणपंथी ताक़तों द्वारा लगाये गये आरोपों का जवाब दिया था। आर्यवाद या हिटलर की अवैज्ञानिक विचारधारा जैसी चीज़ों को सिरे से ख़ारिज करते हुए वे साहस का परिचय देते हैं, और ऐसी संस्थाओं और संरचनाओं का प्रचंड विरोध करते हैं जो अन्याय और शोषण को बल प्रदान करती हैं। श्रमजीवी वर्ग के साथ वे एकाकार हो जाना चाहते हैं : 'आवेष्टित परस्पर हो गये / कर्मण्य□क्षिप्रा तीर पर। / ...कोई नहीं थे हम तुम्हारे किंतु / सहचर हो गयें'। जिस श्रमिक और सर्वहारावर्ग की कारुणिक स्थिति, आमानवीय यातना और सापेक्ष वंचना को देखकर मुक्तिबोध का कवि-हृदय बेताब और व्याकुल हो उठता है, क्या उसकी हालत में आज कुछ सुधार हुआ है?

आज भी भारत में ही नहीं, बल्कि पूरे संसार में ऐसे असंगठित और निर्धन श्रमिकों की अच्छी ख़ासी तादाद है, जिन्हें अपने हितों की कोई जानकारी तक नहीं है। ये बड़ी-बड़ी चलायमान पूंजियों से युक्त प्रबंधन व्यवस्था की दया के सिर्फ़ याचक भर हैं और गुडगांव या गोहाना जैसी अक्सर होने वाली घटनाओं में निर्मम पूंजी की क्रूर लाठियां सहने को मजबूर भर हैं। आज भी उड़ीसा के कलिंगनगर जैसे मामलों में आदिवासियों के साथ यह व्यवस्था कितना न्याय कर पाती है? जहां तक इतिहास के प्रति पक्षतापूर्ण रवैये या नज़रिये की बात है, तो इसके उदाहरण भी कम नहीं हैं। संसार के इस सबसे बड़े लोकतंत्र में इतिहास और इतिहास-लेखन के प्रति दृष्टिकोण इतना अस्थिर, विरोधी और भंगुर है कि सरकारें बदलने के साथ ही इतिहास की पाठ्यपुस्तकों को भी बदल डालने का प्रयास किया जाता है। इस प्रयास में निष्पक्षता या न्यायप्रियता कितनी है या यह कितना उचित-अनुचित है, यह एक अलग प्रश्न है। यह बहुत सुखद है कि एक कवि के कोमल मन के इन परिवर्तनकामी विचारों पर हमारे समय के महत्वपूर्ण कवि लीलाधर मंडलोई ने लगातार लिखा है और अभी भी नितांत नये दृष्टिकोण से रच रहे हैं।

मुक्तिबोध का रचना संसार बहुरंगी भी है और विशाल भी है। उनकी कुछ कविताएं, जैसे 'चंबल की घाटी में', 'ज़माने का चेहरा', 'एक नीली आग', 'एक स्वप्न कथा', 'भूल-ग़लती', 'भविष्य-धारा', 'ओ काव्यात्मन् फणिधर', 'एक टीले और डाकू की कहानी', 'कल जो हमने चर्चा की थी', 'मुझे याद आते

हैं', 'मैं उनका ही होता', 'चांद का मुंह टेढ़ा है', 'अंधेरे में', और 'ब्रह्मराक्षस', उनकी बहुत प्रसिध्द कविताओं मे से हैं, वहीं दूसरी ओर 'गुंथे तुमसे', 'बिंधे तुमसे', 'बैचेन चील', 'चुप रहो मुझे सब कहने दो', और 'प्रथम छंद', आदि बहुत रोचक और प्रभावशाली कविताओं में गिनी जाती हैं। इधर कुछ वर्षों में नितांत मौलिक नज़रिये से लीलाधर मंडलोई ने इन पर अपने संपादकीयों में विचार किया है। इनमें से कई कविताएं छोटी हैं और कई कविताएं लंबी। मुक्तिबोध के अनुसार वे परस्पर उलझे और गुंफित यथार्थ को अभिव्यक्त करने की कोशिश करते हैं। इस जटिल यथार्थ को शब्दों में अभिव्यक्त करना काफ़ी चुनौतीपूर्ण काम है। कवि पंकज सिंह कहा करते थे कि यह चुनौती तब और भी बड़ी हो जाती है जब यथार्थ गुंफित होने के साथ-साथ गतिशील भी होता है। अभिव्यक्ति के इसी सहज प्रयास में कविताएं स्वतः लंबी होती चली जाती हैं।

कहा जाता है कि मुक्तिबोध की सभी कविताएं वास्तव में उस एक बहुत लंबी कविता के विभिन्न अंग हैं, जो उनके मनोमष्तिष्क में थीं। प्रख्यात नारीवादी कवयित्री सविता सिंह कहती हैं कि लंबी कविताएं असल में सभ्यता की जटिलतम समस्याओं का समाधान खोजने की कोशिश करती हैं। कविताओं के अलावा मुक्तिबोध ने कहानियां भी लिखी हैं, मसलन- 'ब्रह्मराक्षस का शिष्य', 'क्लॉड ईथरली', 'पंक्षी और दीपक' और 'विपात्र' आदि। *काठ का सपना,* उनका एक जाना-माना कहानी संग्रह है, जिस पर हमारे समकालीन कवि-आलोचक जितेंद्र श्रीवास्तव ने एक बार बहुत उम्दा व्याख्यान दिया था। इन सबके अतिरिक्त मुक्तिबोध के कुछ लेख और निबंध, जैसे-'लंबी कविता का अंत', 'समीक्षा की समस्याएं', 'समाज और साहित्य', और 'मैं शुद्ध आर्य रक्त' बहुत प्रभावशाली हैं।

प्रारंभ से ही उनकी कविताएं साहित्यकारों और विद्वानों के बीच चर्चाओं और बहसों का विषय रहीं हैं, ठीक उसी तरह, जिस तरह डेरेक वाल्काट या वाल्ट ह्विटमैन की कविताएं रहीं। लेकिन मुक्तिबोध की कविताओं का प्रभाव साहित्य में इतना ज़्यादा है कि आज भी वे आलोचकों का ध्यान आकृष्ट किये रहती हैं। उनकी कविताओं को लेकर आलोचकों में पर्याप्त मत-वैभिन्य है। कोई उन्हें विभाजित व्यक्तित्व द्वारा रची गयी बताता है तो कोई मनोविदलता यानी सिज़ोफ्रेनिया के शिकार एक मानसिक रोगी की भावुक अभिव्यक्तियां। उनके स्वास्थ्य के बारे में अशोक वाजपेयी का एक लेख पढ़ा था, जिससे काफ़ी कुछ स्पष्ट हुआ था। नंद किशोर नवल ने भी उन पर अच्छा लिखा है। वास्तव में ये तमाम मतभेद मुक्तिबोध की कविताओं की गूढ़ सारगर्भिता और उनकी अनंत अर्थ-संभावनाओं को ही उजागर करते हैं। मुक्तिबोध मार्क्सवाद से प्रभावित हैं, गहन दायित्वबोध का अनुभव करते हैं और समाज के प्रति अपने प्रदेय को लेकर बेहद बेचैन हैं। यह गहरा दायित्वबोध एक ओर उन्हें चिंतनशील व्यक्तित्व का स्वामी बनाता है, तो वहीं दूसरी ओर उनमें हताशा और निराशा के भावों को भी जन्म देता है।

मुक्तिबोध पाते हैं कि बुद्धिजीवी समाज के प्रति असंग हुए जा रहे हैं, कर्तव्यविमुखता का परिचय दे रहे हैं और आत्मकेंद्रित हो चुके हैं : 'बौद्धिक वर्ग है क्रीतदास, / किराये के विचारों का उद्भास'। इन विसंगतियों को देखकर मुक्तिबोध 'अंधेरे में' में कहते हैं : 'रक्तपायी वर्ग से नाभिनाल-बद्ध ये सब लोग / नपुंसक भोग-शिरा-जालों में उलझे'। इन विरोधाभासी स्थितियों को पाकर मुक्तिबोध संत्रास और निरर्थकता-बोध से भर जाते हैं और आत्मभर्त्सना करने लगते हैं जिससे जनता के प्रति उनके अनिवार्य उत्तरदायित्वों की राह में आने वाली बाधाएं हट जाती हैं। भारत के भटके हुए वाम पर पंकज सिंह अक्सर बहुत चिंतित रहा करते थे और द्वंद्वात्मक भौतिकवाद से लेकर ग्राम्शी के अधिरचना-सिद्धांत तक का

सारा घोल मुक्तिबोध की कविताओं की मेरे सामने व्याख्या करते हुए अक्सर उड़ेल दिया करते थे। मुक्तिबोध की दृष्टि इतनी तीक्ष्ण, सूक्ष्म, व्यापक, मर्मभेदी है कि वे हर जगह अपनी कल्पना को साकार होते पाते हैं। किंतु ज्यों ही सच्चाई सामने आती है, उन्हें लगता है कि यह तो भ्रांति थी, भ्रम था :

मुझे भ्रम होता है कि प्रत्येक पत्थर में
चमकता हीरा है,
हर-एक छाती में आत्मा अधीरा है,
प्रत्येक सुस्मित में विमल सदानीरा है,
मुझे भ्रम होता है कि प्रत्येक वाणी में
महाकाव्य पीड़ा है,
पल भर मैं सब में से गुज़रना चाहता हूं।
प्रत्येक उर में से तिर आना चाहता हूं,
इस तरह खुद ही को दिये-दिये फिरता हूं,
अजीब है ज़िंदगी।

('मुझे कदम-कदम पर' से)

इन पंक्तियों में भ्रम के टूट जाने का दुःख भी है और स्वयं को दिये-दिये फिरने की तथाकथित ठगे जाने की कसक भी। यह पाठक को भावुकता और संवेदना से भर देती है। लय और प्रवाह तो बेजोड़ हैं ही, शैल्पिक विधान कितना उत्कृष्ट है! बहुत बार अपनी तीव्र अनुभूतियों को व्यक्त करने के लिए मुक्तिबोध ने फ़ैंटेसी शिल्प की रचना की है और बड़े आकर्षक चित्र खड़े किये हैं। ठीक ही कहा गया है कि इनकी कविताएं बिंबों का महानगर हैं। श्रव्य, दृश्य, स्पर्श, घ्राण, और आस्वाद □ सभी प्रकार के बिंब मुक्तिबोध के यहां अपनी प्रभावशाली उपस्थिति दर्ज कराते हैं।

आधुनिक हिंदी साहित्य बदलते मूल्यों की गहरी पड़ताल से युक्त है। इस 'गहरी' पड़ताल की प्रक्रिया में तथाकथित ख़लीफ़ाओं के अपने-अपने मठ हैं, अनेक मठाधीश हैं। इन्हीं मठों के कारण 'ए राइटर्स पीपुल' में विद्याधर सूरजप्रसाद नॉयपाल को चिंता जतानी पड़ी है कि दुनिया के सबसे बड़े लोकतंत्र के साहित्य का आख़िर अपना कोई स्वायत्त चरित्र क्यों नहीं है! आख़िर क्यों हमारे देश के लोग लल्लो-चप्पो में ही फंसे रह जाया करते हैं? फिर आजकल तो सोशल मीडिया भी है, जो रचना से इतर अन्य चीज़ों के आधार पर मानकों को निर्धारित करने की नाकामयाब कोशिशें करता रहता है। तथाकथित भूमंलीकरण और बाज़ार आज जीवन के सभी पहलुओं और आयामों पर इतने अधिक हावी हो गये हैं कि वे रचनाकार के उद्देश्यों को न सिर्फ़ प्रभावित करते हैं बल्कि निर्धारित भी करने लगे हैं। आज अपनी कृति के ख़िलाफ़ फ़तवों से लेकर मुक़दमों तक की यात्रा करने की चाहत रखने वाला कोई रचनाकार आख़िर क्या संकेत देना चाहता है? रचनाओं में सनसनी के तत्वों को डालकर चकाचौंध या धमाका पेश करने के पीछे आख़िर कौन-सी प्रगतिशीलता है? जब प्रयोगधर्मिता के नाम पर सभी प्रयोगों को वैध ठहराने का ही प्रयास किया जा रहा हो, तब यह बात और भी अधिक प्रसांगिक हो जाती है। लेकिन मुक्तिबोध की प्रगतिशीलता भिन्न क़िस्म की है। वह असली प्रगतिशीलता है। उसमें तात्कालिक स्थितियों का सफल और यथार्थपरक निरूपण तो है ही, यथास्थितिवादी और शोषक संरचनाओं को बदल डालने की दुर्दमनीय इच्छाशक्ति भी है। इस इच्छाशक्ति को जब वे हक़ीक़त का रूप नहीं दे पाते तो तनावग्रस्त और व्यथित हो जाते हैं :

जो है, उससे बेहतर चाहिए,
पूरी दुनिया को साफ़ करने के लिए एक मेहतर चाहिए,
और वह मैं हो नहीं पाता।

मेहतर न हो पाने की वजह से असफलता का एक गहरा भाव उनके मन में उपजता है। लेकिन यह असफलता भी भव्य है क्योंकि लक्ष्य, प्रतिमान और आदर्श बहुत ऊंचे हैं, दायित्वबोध बहुत गहरा है। सामाजिक परिवर्तन के छोटे-छोटे लक्ष्यों को हासिल करके सफलता का राग अलापना एक अलग बात है, जैसाकि दुर्भाग्यवश आजकल खूब हो रहा है। लेकिन मार्क्स की ही तरह क्रांति को सामाजिक परिवर्तन की दाई (मिडवाइफ़) मानने वाले मुक्तिबोध को इन छोटे-छोटे समाजिक परिवर्तनों से कोई विशेष खुशी नहीं है। इसीलिए उनकी कविताओं में काव्य-नायक अक्सर संत्रास और द्वंद्व की जटिल स्थितियों में दिखते हैं और प्रायः असफलता-बोध से व्यथित भी :

बुरे-अच्छे-बीच के संघर्ष / से भी उग्रतर
अच्छे व उससे अधिक अच्छे बीच का संगर
गहन किंचित् सफलता / अति भव्य असफलता।

इस तरीक़े से मुक्तिबोध की कविताओं के काव्य-नायकों का चरित्र अप्रतिम और दुर्लभ बनता है। जिस तरीक़े से नाटकों की दुनिया में बादल सरकार के चरित्र बौद्धिक हैं, गिरीश कर्नाड के ऐतिहासिक हैं, मोहन राकेश के मध्यवर्गीय हैं और विजय तेंदुलकर के साधारण और सड़क के हैं, उसी तरीक़े से मुक्तिबोध के काव्य-नायक भी एक विशेष प्रकार के हैं। मोरक्को की प्रतिष्ठित कवयित्री गिर्जिस शौक्री कहती हैं कि अलग-अलग समयों में अलग-अलग चीज़ें सामने आती हैं। ज़ाहिर है कि उनकी नज़र में भी आज भारत वह नहीं रहा है, जो उनके ही देश के इब्नबतूता के मुहम्मद बिन तुग़लक के शासन के दौरान भारत आगमन के समय भारत था। उन्होंने बाक़ायदा ई-मेल पर ये बातें हमारे भारत की प्रशंसा करते हुए मुझसे व्यक्तिगत रूप से कही हैं। इन सारे संदर्भों में जब हम मुक्तिबोध की रचनाओं को गहन एकांत में जीते हैं तो पाते हैं कि ये रचनाएं इसीलिए कालजयी हैं क्योंकि उनमें मानवता की चेतना है, एक हिंदी कवि की ईमानदार आत्मा का बल है, एक कटिबद्ध पत्रकार द्वारा देखी गयी सच्चाई का निदर्शन है □ महाकवि तुलसी लिखते हैं कि, 'कवि न होउं नहिं चतुर कहावउं/ मति अनुरूप राम गुन गावउं।' कोई लेखक या पत्रकार अपने आसपास की स्थितियों से अप्रभावित नहीं रह सकता। वह एकांत और अमूर्तनता में नहीं जी सकता। एकांत और अमूर्तनता के साथ-साथ शोषण पर लिखते हुए हिंदी कवि असंगघोष ने हिंदी को सचमुच कुछ अच्छी कविताएं दी हैं। असंगघोष का कहना है कि कवि हमेशा अपने समय की प्रगतिशीलता के साथ होता है, और अनिवार्य रूप से मनुष्यता के पक्ष में होता है। सशक्त अनुभूतियों को व्यक्त करने के लिए एक ईमानदार लेखक का हृदय बेचैन हो उठता है, भले ही, लेखन या प्रकाशन के बाद कुछ 'अप्रत्याशित' स्थितियां खड़ी हो जायें। उदाहरण के लिए, हम कबीर और निराला को देख सकते हैं या दुष्यंत कुमार को देख सकते हैं। दुष्यंत कुमार ने लिखा था :

एक बूढ़ा आदमी है मुल्क में या यों कहो-
इस अंधेरी कोठरी में एक रोशनदान है।

कल नुमाइश में मिला वो चीथड़े पहने हुए,
मैंने पूछा नाम तो बोला कि हिंदुस्तान है।

राज्य के अत्याचार के विरुद्ध लिखी गयी इन पंक्तियों की प्रतिक्रिया भी ग़ज़ब की हुई थी। राष्ट्रपति फ़ख़रुद्दीन अली अहमद जब विदेश गये तो बी.बी.सी. के पत्रकारों ने पूछा कि यह कौन-सा शायर है जो इस तरह सरकार के विरोध में और आपातकाल के प्रतिरोध में लिख रहा है? क्या आप इस लेखक को जानते हैं? और उन्हें ऊपर की चार पंक्तियां सुना दी गयीं। अंततः दिल्ली सरकार से इंक्वायरी मध्यप्रदेश सरकार की मार्फ़त आयी, कि लेखक बताये कि ये बूढ़ा आदमी कौन है? आपातकाल के दिनों में दुष्यंत कुमार जैसा लेखक अपने परिवेश और वातावरण से भला अप्रभावित कैसे रह सकता था? प्रेमचंद अगर *गोदान* में होरी के माध्यम से एक आम भारतीय किसान के चौतरफ़ा शोषण और उसकी त्रासद गाथा का चित्रांकन करते हैं तो मुक्तिबोध भी 'भूल-ग़लती' में इतिहास के एक प्रसिद्ध पृष्ठ-फलक को कविता का आधार बनाते हैं। जनता के प्रति गहरा भावनात्मक लगाव ही मुक्तिबोध को प्रेरणा देता है, कि वह बहुत सधा हुआ दायित्वपूर्ण लेखन करें (आजकल की तरह वाला 'लेखन' नहीं), जनता के भव्य और विशाल चित्रों को प्रस्तुत करें। इन भव्य चित्रों में मज़दूर और सर्वहारा गुंथे-बिंधे हैं। 'मुझे याद आते हैं' में मुक्तिबोध द्वारा रचित 'मजूर-लोहार' का चित्र कितना खूबसूरत है : 'निहाई से उठती हुई लाल-लाल/ अंगारी तारिकाएं बरसती हैं जिसके उजाले में कि / एक अति भव्य देह, / प्रचंड पुरुष श्याम/ मुझे दीख पड़ता है'।

समानता को एक बुनियादी मूल्य के रूप में स्थापित करने की मुक्तिबोध की प्रतिबद्धता ग़ौरतलब है : 'मानवता-समता की संस्कृति की बजी नफीरी आज / अरे वहां से जिसको कहते मज़दूरों का राज'। मुक्तिबोध उस फ़ासिस्ट आक्रमण के साक्षी थे जो 'मज़दूरों के राज वाले' सोवियत संघ पर किया गया था। इन्हीं कारणों और प्रभावों के चलते शायद मुक्तिबोध प्रगतिवादी कवियों के साथ-साथ नयी कविता के रचनाकारों में भी अग्रणी हैं। मुक्तिबोध का कल्पित फ़ासिस्ट सत्ता का जुलूस जब आगे बढ़ता है और 'अंधेरे में' का काव्य-नायक जब सैनिकों को अपनी ओर आता हुआ देखता है तो वह भागता है। भागते समय उसके मन में इतना भयंकर भय व्याप्त है कि बरगद का एक पत्ता टूटकर जब उसके ऊपर गिरता है तो वह थरथरा उठता है। भागते-भागते वह गांधी से मिलता है। गांधी ने उपनिवेशवाद का विरोध किया था और फ़ासीवादी ताक़तों की कड़ी निंदा की थी। इसलिए अगर मुक्तिबोध का काव्य-नायक गांधी की ओर भागता है तो इसमें हैरानी की बात नहीं है।

मुक्तिबोध गांधी को जितना प्रासंगिक पाते हैं, उतने ही प्रासंगिक आज मुक्तिबोध स्वयं भी हैं। आज लोग बता रहें हैं कि भारत महाशक्ति बनने वाला है, उसकी अर्थव्यवस्था और उसका सेंसेक्स दोनों ही उछाल खा रहे हैं। लेकिन क्या यह सच नहीं है कि ये सब बातें एक ख़ास तबक़े को ही देखकर कही जा रही हैं? वंचित तो आज भी वंचित ही हैं। बांध बने, ठीक है, लेकिन बहुत सारे लोग तो विस्थापित भी हुए हैं! बात चाहे नर्मदा के बांध की हो या फिर सतपुड़ा के पहाड़ों से निकलने वाली तवा नदी पर बने बांध की। औद्योगीकरण तो हुआ लेकिन तमाम आदिवासियों के घर उजड़ गये। यह स्थिति छत्तीसगढ़ या उड़ीसा में ही नहीं है, झारखंड जैसे दूसरे कई राज्य भी ऐसे हालात के गवाह हैं। जिस ज्ञानहीन संवेदना और संवेदनाहीन ज्ञान से मुक्तिबोध को चिढ़ है वह क्या वर्तमान समय में भी अक्सर दिखायी नहीं पड़ जाता? हमारे देश में क्या आज भी ऐसे असंग बौद्धिक जन नहीं मौजूद हैं जिनको देखकर मुक्तिबोध

अफ़सोस ज़ाहिर करते चले आये थे? ऐसे कितने ही सवाल हैं जो विषमतामूलक विकास की चौखट पर खड़े हैं। लेकिन सवाल महत्वपूर्ण नहीं हैं, महत्वपूर्ण सवालों के संतोषजनक जवाबों को खोजना ज़रूरी है।

कहा जाता है कि मुक्तिबोध की कविताएं सर्वहारा के हित में ज़रूर हैं, लेकिन सर्वहारा के लिए नहीं हैं। ऐसा इसीलिए है क्योंकि उनमें उच्च कोटि की बौद्धिकता है। मुक्तिबोध का काव्य-नायक 'सुमेरी-बेबिलोनी जन-कथाओं से / मधुर वैदिक ऋचाओं तक / व तब से आज तक के सूत्र /छंदस, मंत्र, थियोरम, / सब प्रमेयों तक / कि मार्क्स, एंजेल्स, रसेल, टॉएन्बी.....सभी के सिद्ध अंतों का / नया व्याख्यान करता है'। उसमें आत्मचेतस से विश्वचेतस की ओर बढ़ने की सिर्फ़ ललक ही नहीं है। वह तो पूर्णतः विश्वचेतस हो जाने की दुर्गम यात्रा का साहसिक पथिक है। आज जब वितरणमूलक न्याय पर ढेरों परिचर्चाएं चल रही हों, जॉन राल्स के औचित्य-स्थापन के प्रयास किये जा रहे हों तब साहित्यिक विमर्श की ज़िम्मेदारियां और भी गुरुतर हो जाती हैं। अस्सी के दशक में देरिदा ने मार्क्स और लेनिन के 'टेक्स्ट' को बहुत पेचीदा और जटिल बताया था। इतना जटिल, कि दिमाग़ खा जाये। उनके पाठ के अर्थ से व्यंजित अर्थ को प्राप्त कर लेना एवरेस्ट पर सौ बार चढ़ने उतरने जैसा है। इसीलिए देरिदा ने मार्क्स पर प्रहार करने के लिए पाठ के चले आ रहे अर्थ को ही बदल डालने की सोच ली। लेकिन देरिदा की विखंडनवादी पद्धति का एक अर्थ 'हिडन एजेंडा' या गुप्त एजेंडा या गुप्त राजनीति से है। यह मार्क्स की विचार पद्धति को ही समूल उखाड़ने के संकल्प से युक्त और लबरेज है। सोचने वाली बात है कि ऐसे सवालों का जवाब मुक्तिबोध का काव्य-नायक ही देने में सक्षम हो सकता है, *गोदान* का होरी नहीं! हां, मुक्तिबोध शोषण या दमन के उन जटिल दुष्चक्रों से अनजान नहीं हैं, जिनके चलते होरी जैसे लोग व्यवस्था का शिकार होने को अभिशप्त हैं।

बौद्धिक वर्ग का अपना महत्व है, मुक्तिबोध इसे पहचानते हैं। इसी बौद्धिक वर्ग ने तो देरिदा के ख़िलाफ़ तीव्र विरोध व्यक्त किया, वरना एक बार तो ऐसा प्रतीत होने लगा था कि देरिदा के अलावा संसार में कोई ज्ञानी है ही नहीं! यह कम नहीं है कि सर्वहारा की चिंता स्वयं सर्वहारा से भी अधिक मुक्तिबोध को है। संकल्प और विकल्प के बीच झूलते मुक्तिबोध के मन को देखकर प्रायः लोग कहते हैं कि मुक्तिबोध में संकल्प का अभाव हैः 'अरे भाई, मुझे नहीं चाहिए शिखरों की यात्रा, / मुझे डर लगता है, ऊंचाइयों से / बजने दो सांकल / उठने दो अंधेरे में ध्वनियों के बुलबुले'। लेकिन एक लेखक से यह अपेक्षा करना कि वह 'एक्टिविस्ट' हो जाये, अपने आप में ही उस लेखक के लेखन की शक्ति है, उसकी सफलता है। बौद्धिक वर्ग के 'क्रीतदास' होने को लेकर जिस प्रकार मुक्तिबोध गंभीर हैं, उसी प्रकार उनके पूर्ववर्ती कवि निराला भी हैं। 'कुकुरमुत्ता' में निराला प्रगतिवादी विश्व के उस तबक़े का ही तो विरोध करते हैं जो ओछा और स्तरहीन है। कुकुरमुत्ता के माध्यम से निराला 'कैपीटलिस्ट' के उस पाखंड पर चोट करते हैं जो ज़बरदस्ती अकड़ा घूम रहा है। मार्क्स के शब्दों मे कहा जाये तो ये 'मिथ्या चेतना' के प्रभावों-दुष्प्रभावों की कड़ियां हैं।

सूचना क्रांति, भूमंडलीकरण और पूंजी के मुक्त आदान-प्रदान के वर्तमान दौर में शोषण की उन संरचनाओं पर विचार करना ज़रूरी हो जाता है, जिन पर मुक्तिबोध अपनी खिन्नता प्रकट किया करते थे। पिछले कुछ वर्षों में मीडिया का विस्तार ज़रूर हुआ है, लेकिन क्या इस विस्तार के साथ साथ विचारों और दृष्टिकोणों का वैविध्य भी बढ़ा है? हर्गिज़ नहीं। मीडिया शोषण की संरचनाओं को वैधता प्रदान करने

वाले एक माध्यम के रूप में संदेहों और भ्रांतियों की भीड़ से परे नहीं है। पश्चिमी पूंजीवादी मीडिया बड़ी पूंजी द्वारा संचालित है और शासक वर्ग का एक हिस्सा है। ध्यान रखने की बात है कि शासक वर्ग वही नहीं है जो सत्ता में है, बल्कि वह भी है जो विपक्ष में है। मीडिया का क्या अपना कोई एजेंडा नहीं है?

मीडिया के एजेंडे और आम जनता की आवश्यकताओं के बीच क्या वैसा संबंध है जैसा होना चाहिए? 'फ़ील गुड' के प्रचार पर ज़ोर देने की बात हो या अंतर्राष्ट्रीय महानायक की कार्रवाइयों को उचित ठहराने का प्रयास, मीडिया संभ्रांतवर्गीय दृष्टिकोण से प्रायः ग्रसित ही दिखता चला आ रहा है। प्रसिद्ध विद्वान नोम चोम्स्की ने जब 'मैनुफ़ैक्चरिंग कंसेंट' की बात की थी, तब उनका तात्पर्य यही था कि मीडिया में जो सहमति दिखती है, वह वास्तविक न होकर कृत्रिम रूप से बनायी गयी सहमति होती है। क्या भूमंडलीय यथार्थ पर नियंत्रण करके उसे हित विशेष के अनुरुप संप्रेषित नहीं किया जाता? मुक्तिबोध भी पत्रकार थे और *नया खून* से जुड़े हुए थे। एंप्रेस मिल के मज़दूरों की हड़ताल और गोलीकांड ने उनके मन में इतनी पीड़ा भर दी थी कि उसे वे रूपायित किये बिना रह ही न सके थे। शोषण उन्हें मंजूर ही नहीं था, किसी भी क़ीमत पर! मुक्तिबोध के विशेष संदर्भ में यह बात उल्लेखनीय है कि पत्रकारिता और साहित्य का रिश्ता काफ़ी नज़दीक का रहा है। पत्रकारिता यदि साहित्य की निर्माण भूमि है तो साहित्य भी पत्रकारिता का अलंकार है। ये दोनों ही समाज को प्रभावित करते हैं, समाज का प्रतिनिधित्व करते हैं, और उससे प्रभावित भी होते हैं। दोनों ही लोक कल्याण की कसौटी पर कसे जाते हैं। पर अगर यही लोग खामोश हो जायें तो क्या स्थिति होगी? मुक्तिबोध लिखते हैं :

> सब चुप, साहित्यिक चुप और कविजन निर्वाक्
> चिंतक, शिल्पकार, नर्तक चुप हैं
> उनके ख़्याल से यह सब गप है
> मात्र किंवदंती।

मुक्तिबोध इन सारी बातों का मर्म समझते हैं : 'भव्याकार भवनों के विवरों में छिप गये समाचारपत्रों के पतियों के मूक स्थल' का ज्ञान उन्हें है। जिस बौद्धिक वर्ग को मुक्तिबोध ने 'क्रीतदास' कहा था, उसकी जड़ता में आज कितना बदलाव आया है? शिक्षा का एकमात्र उद्देश्य मात्र परीक्षाएं उत्तीर्ण करके नौकरी पाना रह गया है। यही नहीं, ऐसा करना भी इतनी कठिन प्रक्रिया से गुज़रने जैसा है कि बौद्धिक वर्ग संवेदनहीन हुए बिना रह ही नहीं पाता। उत्तरदायित्व की उस उच्च-भावना का लोप-सा दिखायी पड़ता है, जिसकी तलाश मुक्तिबोध को थी। युवा वर्ग पढ़ाई-लिखाई करके और शहरिया बाबू बनकर उस नौकरशाही का सदस्य बनने को लालायित है जो प्रायः भ्रांतश्रेष्ठत्व के मिथ्याभिमान में डूबी हुई है और जो लगभग संवेदनहीन हो चुकी है।

वर्तमान समय में तो पढ़ाई में इतनी समानता भी नहीं है कि हर युवा लड़के-लड़की को पढ़ाई-लिखाई का एक समान अवसर प्राप्त हो। एक तरफ़ पेट के लिए जूठन और कूड़ा बीनता लाचार बचपन है तो वहीं दूसरी ओर कारपोरेट सेक्टर के खाये-पिये और अघाये नौजवानों की फ़ौज भी जो अपना मोटापा घटाने के लिए जिम में जाती है और तरह-तरह के क़सीदे पढ़ती है। 'जिनके कारण यह हिंदुस्तान हमारा है', उनकी दशा आज भी वैसी की वैसी है। यह विडंबना ही है कि ज्ञान आज ज़िम्मेदारी की नहीं पण्य की वस्तु बना हुआ है। उस समय भी प्रशासन ने मुक्तिबोध की एक पुस्तक को ग़ैरकानूनी घोषित किया था और आज भी प्रशासन की मंशा लगभग वही रहती है। सूचना के अधिकार वाले मामले में नौकरशाही

और प्रशासन की कई ऐसी विसंगतियां सामने आयीं जिनसे ज़ाहिर हुआ कि नौकरशाही पारदर्शिता को पसंद नहीं करती।

मुक्तिबोध जिस वर्गीय चरित्र का तीक्ष्ण अनुभव करते हैं, उसके संबंध में आज क्या स्थिति है? मुक्तिबोध की प्रासंगिकता की बात करते समय भला इस तथ्य की कैसे उपेक्षा की जा सकती है कि ग़रीब और अमीर के बीच की खाई बहुत बढ़ गयी है और बढ़ती ही चली जा रही है, पाश्चात्य पूंजीवादी संस्कृति का विस्तार हुआ है, सांस्कृतिक साम्राज्यवाद और नव-उपनिवेशवाद के नये-नये रूप उभरे हैं और संस्कृति को थोपे जाने के प्रकरण भी सामने आये हैं। मज़दूरों के लिए रोज़गार के अस्थायी, अंशकालिक और अनौपचारिक क्षेत्रों का चलन घटने की बजाय बढ़ा है। पूंजीवाद ने अपने अस्तित्व और अपनी सत्ता को क़ायम रखने के लिए नये-नये तरीक़े ईजाद किये हैं जो ग्राम्शी, ल्यूकॉच या मार्क्स द्वारा सोची गयी स्थितियों के बहुत आगे के चित्र हैं। ये चित्र तीसरी दुनिया से जुड़ते ही हैं।

इन चित्रों को युर्गेन हैबरमास, हर्बर्ट मार्क्यूज़ या एरिक फ्रॉम जैसे समकालीन नव-मार्क्सवादी विश्लेषणों से आसानी से समझा जा सकता है। अगर पिछले समयों में रोज़ा लक्ज़ेमबर्ग ने 'सुधार या क्रांति' का सवाल उठाया और अंतोनियो ग्रामशी ने 'मार्क्सवाद की समस्याएं' प्रस्तुत कीं, तो आज भी समाज और अर्थव्यवस्था कुछ ऐसे ही नये विश्लेषणों की मांग करती है। जिस 'सूचना क्रांति' की बात आज की जा रही है क्या वह सचमुच एक क्रांति है? या फिर वह एक बाक़ायदा नियंत्रित व सुनियोजित परिघटना है? क्रांति से तो आम जनता लाभान्वित होती है, व्यवस्था में उसकी सहभागिता बढ़ती है और उसमें आशाओं-अपेक्षाओं की नयी किरणों का संचार होता है। लेकिन सूचना क्रांति ने तो सूचना-संपन्न और सूचना-विपन्न नामक दो नये वर्गों को जन्म दिया है। यही नहीं, इन वर्गों के बीच की खाई -डिजिटल डिवाइड□भी चौड़ी हुई है। हर्बर्ट शिलर जैसे विद्वानों ने इसे सूचना का एक ऐसा ढांचा बताया है, जो जानकारी देने की बजाय अज्ञान पैदा करता है। भूमंडलीकरण को गिलपिन ने 'विश्व-अर्थव्यवस्था का एकीकरण' कहा था। लेकिन इस 'एकीकरण' की प्रक्रिया में क्या मुक्तिबोध की आम जनता भी शामिल हो सकी है?

सच्चाई यही है कि हार्वे की 'काल-स्थान संकुचन' की धारणा ने उलझनों को सुलझाने की बजाय उन्हें गहरा ही किया है। आज भी एक आम संवेदनशील आदमी चेतन, अवचेतन और अचेतन की उन्हीं फ्रॉयडीय स्थितियों के बीच ज़बरदस्त द्वंद्व में है, जिसे मुक्तिबोध ने रूपायित किया था। यह एक सत्य है कि मार्शल मैक्लूहान के ग्लोबल विलेज की संकल्पना और थियोडोर लेविट की 'भूमंडलीकरण' की अवधारणा के बीच मुक्तिबोध की प्रासंगिकता घटी नहीं है। जब तक 'भीतर के राक्षसी स्वार्थ' साफ़ उभरते रहेंगे तब तक मुक्तिबोध को अप्रासंगिक कहना अनुचित ही नहीं, अन्यायपूर्ण भी होगा।

मो. : 09990665881
Email: pranjaldhar@gmail.com

संकल्पधर्मा चेतना का रक्तप्लावित स्वर

विरुद्ध-विपरीत
('दिमाग़ी गुहांधकार का ओरांग-उटांग' को समझने की कोशिश में कुछ नोट्स)

राजेश जोशी

मुक्तिबोध की कविता में प्रमुख रूप से आये मिथक हमारे प्रचलित जातीय मिथक नहीं हैं। ब्रह्मराक्षस हो, ओरांग-उटांग या बहुत छोटे से संदर्भ में आया अजीगर्त[1] आदि। इसके कई कारण हो सकते हैं। एक प्रमुख कारण भक्तिकाल के बारे में उनकी धारणाएं भी हो सकती हैं, जहां प्रगतिवादी कवियों से उनका रास्ता थोड़ा भिन्न है। निराला और मुक्तिबोध दोनों ही दो भिन्न भाषिक संस्कृतियों के सम्मिलन से बने कवि व्यक्तित्व हैं। इसलिए दोनों में ही कुछ ऐसे अलग हैं जो अन्य हिंदी कवियों में सामान्य रूप से नहीं मिलते। निराला से पहले या बाद में भी सरस्वती जैसा मिथकीय चरित्र हिंदी कविता में नहीं है। राम जैसे जातीय मिथक की कथा भी बांग्ला की *कृतिवास रामायण* के संदर्भ से आती है। नागार्जुन की कविता में भी शक्ति संप्रदाय के मिथकों और कर्मकांडों का राजनीतिक रूपक का बहुत सुंदर उपयोग देखा जा सकता है। मुक्तिबोध के निबंध, 'मध्ययुगीन भक्ति-आंदोलन का एक पहल', से कई तरह की सहमतियां या असहमतियां संभव हैं। मैं वस्तुतः मुक्तिबोध की कविता में आये मिथकों के विशिष्ट होने के कारणों को समझने का प्रयास करना चाहता हूं। इस लेख में मुक्तिबोध शुरू में ही कहते हैं कि 'मेरे मन में बार-बार यह प्रश्न उठता है कि कबीर और निर्गुण पंथ के अन्य कवि तथा दक्षिण के कुछ महाराष्ट्रीय संत तुलसीदास जी की अपेक्षा अधिक आधुनिक क्यों लगते हैं? यहां निर्गुण पंथ और आधुनिकता, दोनों पर ही अतिरिक्त बलाघात है। आधुनिकता का यह आग्रह उनके *सप्तक* के वक्तव्यों में भी देखा जा सकता है। कबीर और उलटबांसियों या निर्गुण संतों की कविता में आने वाले मिथकों और रूपकों पर इस अर्थ में भी विचार किया जाना चाहिए कि उनके स्रोत क्या हैं और उनका स्वरूप किस तरह बनता है, और यह भी कि सगुण कवियों से उनके मिथकों में क्या अलग है?

ओरांग-उटांग उस तरह देखें तो मिथक नहीं है लेकिन वह बंदरों की एक प्रजाति के रूप में कविता

1. **अजीगर्त** एक पौराणिक पात्र है. वह ग़रीबी के कारण अपने एक पुत्र शुनःशेप को राजा के बेटे के बदले में बलि के लिए बेच देता है। इस पर प्रसाद का नाटक, *करुणालय* और मुरलीधर कमलाकांत का नाटक, *शुनःशेप* भी देखा जा सकता है। राधाबल्लभ त्रिपाठी की किताब, *श्रेष्ठ पौराणिक कहानियां* को भी देखा जा सकता है। मुक्तिबोध की कविता 'अंधेरे में' में इसका उल्लेख मिलता है।

में नहीं आता। वह एक मिथक के रूप में आता है। कह सकते हैं कि कविता में उसका मिथकीकरण किया गया है। ओरांग-उटांग के साथ ही मुक्तिबोध के मन में यह शंका भी लगातार बनी हुई है कि 'कहीं प्रत्यक्ष न यक्ष हो'। इस संशय या ऊहापोह का कारण क्या है? कहीं मुक्तिबोध का संशय यह तो नहीं कि पाठक ओरांग उटांग को एक मिथक की तरह न ग्रहण करे और उसे बंदरों की एक प्रजाति में सीमित कर दे? ओरांग-उटांग के बारे में माना जाता है कि वह बहुत बुद्धिमान बानर है और यक्ष को *महाभारत* में क्षुद्र देवता भी कहा गया है लेकिन यही युधिष्ठिर से प्रश्न भी करता है। यक्ष प्रश्न जैसा पद भी उसी से बना होगा। कहीं न कहीं लगता है कि एक आंतरिक सूत्र है जो 'ओरांग-उटांग' और 'ब्रह्मराक्षस', दोनों ही कविताओं को आपस में जोड़ता है। कुछ है जो दोनों कविताओं में समान है। ब्रह्मराक्षस और ओरांग उटांग, दोनों ही कवि के अवचेतन में उपस्थित हैं? लेकिन दोनों कविताओं के अवचेतन के लिए रचा गया लैंडस्केप भिन्न है। ब्रह्मराक्षस के लिए बनाया गया लैंडस्केप बाहरी है। एक परित्यक्त बावड़ी के भीतरी ठंडे अंधेरे में बसी गहराइयां हैं जबकि ओरांग उटांग तो मस्तिष्क के ही भीतर है। मुक्तिबोध किसी भी चरित्र को लाने और उसके आख्यान में प्रवेश करने से पहले जो एक लैंडस्केप रचते हैं, उसकी बनावट में हमेशा ही कई-कई परतें होती हैं। ये परतें कविता के आख्यान की परतों का एक पूर्वाभास करवा देती हैं। अवचेतन की संरचना जितनी जटिल है, बाहरी सच्चाई भी उतनी ही परतोंदार और जटिल है। अंतर के बाह्यकरण और बाह्य के आभ्यंतरीकरण की प्रक्रिया के बीच ही हमें दो जटिलताओं के बीच आवाजाही करनी होती है। मुक्तिबोध की कम ही कविताएं हैं जो उनके इच्छित ढांचे को पूरी तरह प्राप्त कर सकी हैं। ओरांग उटांग एक ऐसी कविता है जो स्ट्रक्चर के स्तर पर भी एक मुकम्मल कविता है।

हर जगह विरुद्ध-विपरीत मौजूद है। विचारधारा के भीतर, और एक अन्य, सघन विचारधारा प्रच्छन्न मौजूद है। कथ्य के भीतर और अनुरोधी विरुद्ध-विपरीत मौजूद है। इस द्वंद्वात्मक प्रक्रिया को समझे बिना मुक्तिबोध की कविता में प्रवेश निषिद्ध है। *एक साहित्यिक की डायरी* में 'अकेलापन और पार्थक्य' निबंध के माध्यम से अपनी रचना प्रक्रिया में भी उन्होंने अपनी दिक्क़त का बयान किया है कि 'मुश्किल यह है कि कविता लिख चुकने के अनंतर, उसी कविता में समायी किंतु उससे वृहत्तर, विशालतर, सुंदरतर कविता अपने स्वरूप का विकास करती हुई उद्घाटित कर देती है : और मैं उस प्रतिमा रूप के प्रति दौड़ पड़ता हूं।' इसे ठीक-ठीक विश्लेषित कर पाना तो मेरे लिए संभव नहीं है लेकिन कई बार मन में यह प्रश्न उठता है कि एक के भीतर दूसरी और उसके भी भीतर तीसरी परत वाली संरचनाएं और शंकाएं और द्वंद्व जैसे मुक्तिबोध के यहां मिलते हैं उससे मिलते जुलते कुछ कम जटिल स्ट्रक्चर दूसरे वामपंथी रचनाकारों में भी देखे जा सकते हैं। क्या इसके मुख्य बीज आज़ादी के बाद की सामाजिक राजनीतिक और सांस्कृतिक स्थितियों में मौजूद थे? क्या हम नेहरू युग की राजनीति की बनावट में कहीं उसे तलाश सकते हैं?

दो

मस्तिष्क के भीतर एक मस्तिष्क
उसके भी अंदर एक और कक्ष
कक्ष के भीतर

एक गुप्त प्रकोष्ठ और
कोठे के सांवले गुहांधकार में
मज़बूत संदूक
दृढ़, भारी-भरकम
और उस संदूक भीतर कोई बंद है
यक्ष
या कि ओरांग-उटांग हाय

इस ओरांग-उटांग के बाहर आ जाने का भय है। यह कोई अन्य नहीं है। अपना ही नग्न मन है। लेकिन डर यह है कि कहीं कोई यह न जान ले कि नग्न और विद्रूप, असत्य शक्ति का प्रतिरूप, प्राकृत ओरांग उटांग यह, मुझ में ही छिपा हुआ है। कवि इसे जानता है पर इसके प्रकट होने से डरता है। क्योंकि यह कुलीनतावादी बहसों का प्रत्याख्यान है। यह विरुद्ध विपरीत ही सारी परेशानियों की जड़ है। यह करीने से सजे हुए संस्कृति प्रभामय अध्ययन गृह में जब बहस उठ खड़ी होती है, कवि विवाद में हिस्सा ले रहा होता है तभी उसे अकस्मात अपने अंदर छिपे हुए इस ओरांग उटांग की बौखलाती हुंकृति ध्वनियां सुनायी देने लगती हैं। इसके ही अगले पैरा में एक और दिलचस्प मोड़ आता है जब यह अपने ही अंदर छिपा हुआ ओरांग उटांग कवि के शब्दों और वाक्यों में घुस जाता है। शब्दों पर बाल उग आते हैं और वाक्यों में ओरांग उटांग के बढ़े हुए नाखून प्रकट होने लगते हैं। अपनी गुच्छेदार मूंछ कविता बन जाती है। अपने ही बड़े-बड़े दांत तर्क बन जाते हैं। वह अपनी ही इस विद्रूप छवि से चौंक जाता है। और इस विद्रूप वेदना से ग्रस्त हो संदूक को बंद कर देता है। विजय कुमार ने लिखा है कि जो भीतरी और ढंका हुआ अंतर्जगत है उसमें झांकने का साहस सब का नहीं होता। इसी लेख में आगे उन्होंने लिखा है कि मुक्तिबोध की यह कविता इन्हीं अंतर्विरोधों से ग्रस्त बौद्धिक व्यक्तित्व के अंतर्जगत का सूक्ष्म एक्स-रे है। (*कविता की संगत*)

तीन

हमारे समय में जनतांत्रिक स्वतंत्रताएं लगाकार कमज़ोर हो रही हैं, सिकुड रही हैं। अभिव्यक्ति की आज़ादी पर संकट बढ़ रहा है। वहां इस खतरनाक ओरांग उटांग के बाहर निकल आने का खतरा कैसे बर्दाश्त किया जा सकता है। उसके वाक्यों के नुकीले नाखूनों और तर्कों के बड़े-बड़े दांतों से आती हुंकार को कैसे बर्दाश्त किया जा सकता है? अचानक संदूक के बंद होते ही कवि पाता है कि उसके हाथ में पिस्तौल बंदूक आ गयी है। अगर ऐसे में ओरांग उटांग बाहर आ जायेगा तो धांय धांय गोली दाग़ दी जायेगी। और ओरांग-उटांग का रक्त सारी दूर फैल जायेगा। घबराकर वह संदूक को बंद कर देता है। वह नहीं चाहता कि यह नग्न रूप बाहर आये। इस प्रकोष्ठ के बाहर...जैसे बढ़ते हुए फ़ासिज़्म के ख़तरों को अनदेखा करते हुए अनेक रचनाकार अनेक कमरों को पार करते हुए....संस्कृति-प्रभामय अध्ययन-गृह में आये दिन प्रवेश कर रहे हैं, कवि भी अदृश्य रूप से उसमें प्रवेश कर चलती हुई बहस में शामिल है। और सोचता है कि विवाद में ग्रस्त कई लोक, कई तल, सत्य के बहाने स्वयं को प्रस्थापित करने में लगे हुए हैं। बुर्जुआ समाज के रचनाकारों के इस दोहरे चरित्र को मुक्तिबोध ने कई बार अपनी कविताओं में अलग-अलग तरह से उठाया है। कवि की जीभ तालु से चिपक गयी है। अक़्ल क्षारयुक्त सी हो गयी

है... और उसकी आंखें बहस कर रहे लोगों के कपड़ों में छिपी हुई रहस्यमय पूंछ को देख लेती हैं। यहीं धूमिल की वह पंक्ति पद याद आ सकती है...

जिसकी पूंछ उठायी मादा पाया है...।
कविता इस संशयात्मक प्रश्न पर ख़त्म होती है कि
कैसे सत्य हैं□
ढांक रखना चाहते हैं बड़े-बड़े नाखून।।
किसके लिए हैं वे बाघनख।।
कौन अभागा वह!!

मुक्तिबोध की यह कविता उनके अंतिम दौर की कविताओं में है। जब वे राजनांदगांव पहुंच चुके थे। उनके साथ के *तार सप्तक* के अनेक कवि जो अपनी प्रतिबद्धता की बड़ी-बड़ी घोषणाएं करते थे, अपनी प्रतिबद्धताओं से बाहर आकर अपना पाला बदल चुके हैं। भूतपूर्व विद्रोही हो चुके हैं। नेहरू युग से मोहभंग की ध्वनियां धीमी-धीमी सुनायी पड़ने लगी हैं। रचनाकारों का चरित्र बदल रहा था और नग्न मन को संदूक में बंद करके ताला डाला जा चुका था।

11 निराला नगर, भदभदा रोड,
भोपाल-462003
मोबाइल : 09424579277

प्रतीकों और बिंबों का असंवृत रूप

चंचल चौहान

मुक्तिबोध ने अपनी एक कविता में लिखा, 'प्रतीकों और बिंबों के असंवृत रूप में भी रह/ हमारी ज़िंदगी है यह'। हिंदी आलोचना का यह दुर्भाग्य है कि उनके इस इशारे को समझने की ज़हमत उठाये बग़ैर उनकी कविताओं के संवेदनात्मक उद्देश्य को मनमाने ढंग से विकृत किया गया। यह विकृतीकरण उनकी मृत्यु के कुछ दिन बाद ही शुरू हो गया था, और अभी तक यानी 2017 तक जब हम उनकी जन्मशती मना रहे हैं, यह विकृतीकरण हो रहा है। प्रारंभिक दौर में डा. रामविलास शर्मा और डा. नामवरसिंह जैसे नामचीन आलोचकों ने दो अलग अलग भाववादी नज़रियों से मुक्तिबोध काव्य के संवेदनात्मक उद्देश्य को विकृत किया। डा. रामविलास शर्मा ने फ्रायड के चेतन, अवचेतन और उपचेतन के अवैज्ञानिक व अतार्किक सिद्धांत से आलोचना के मान गढ़ कर मुक्तिबोध को 'सिज़ोफ्रेनिया' का मरीज़ घोषित कर दिया, उन्हें 'रहस्यवादी', 'अस्तित्ववादी' आदि भी साबित करने की कोशिश की। मुक्तिबोध की निजी ज़िंदगी पर ख़राब ख़राब सी छींटाकशी भी की। डा. नामवर सिंह ने अस्तित्ववादियों के मुहावरे, 'अस्मिता की खोज' को मुक्तिबोध पर चस्पां कर दिया और अमेरिकी नव्य समीक्षा से उठाये गये कुछ शब्द जैसे विसंगति, विडंबना, तनाव, लीलाभाव, क्रीड़ाभाव वग़ैरह यहां वहां जड़ दिये, इस तरह मुक्तिबोध के बहाने अमेरिकी रूपवादी समीक्षा के औजारों को कविता के नये प्रतिमान के रूप में हिंदी में प्रचारित कर दिया। दोनों मूर्धन्य आलोचक एक बिंदु पर ही मिलते हैं, वह बिंदु है मुक्तिबोध को व्यक्तिवादी सिद्ध करना।

यह सिलसिला अभी तक जारी है। मसलन, जाने माने कवि विजेंद्र ने *वागर्थ* पत्रिका के अप्रैल 2017 के अंक में डा. रामविलास शर्मा के ही तर्कों का पिष्टपेषण करते हुए कहा : 'मुक्तिबोध के संघर्ष में 'भौतिकवादी ऐतिहासिक द्वंद्व कहीं नहीं है। और 'वर्ग-संघर्ष' भी कहीं व्यक्त नहीं होता। आत्मसंघर्ष अस्तित्ववादियों का मुहावरा है।...'(पृ. 17) विजेंद्र जी ने ख़ुद इन्हीं पंक्तियों से कुछ ही पहले लिखा, 'एक कवि को कई स्तरों पर संघर्ष करना पड़ता है।' उन संघर्षों में एक संघर्ष बताया, 'ख़ुद के कुलीन और मध्यवर्गीय संस्कारों से।' यह क्या 'आत्मसंघर्ष' नहीं माना जायेगा? इसी तरह मुक्तिबोध में उनके अनुसार 'वर्ग-संघर्ष भी कहीं व्यक्त नहीं होता' तो उसी पृष्ठ पर लिखे एक वाक्य के दायरे से क्या मुक्तिबोध बाहर हैं जिसमें कहा गया है, 'ध्यान रहे, वर्ग-विभाजित समाज में कोई भी लेखक वर्गीय चेतना से मुक्त नहीं हो सकता'(पृ. 17)। विजेंद्र जी मुक्तिबोध की एक प्रसिद्ध कविता, 'अंतःकरण का आयतन' की ये पंक्तियां ठीक से पढ़ लेते तो इस तरह की बहकी बहकी बातें न करते :

धरती के विकासी द्वंद्व-क्रम में एक मेरा छटपटाता वक्ष
स्नेहाश्लेष या संगर कहीं भी हो
कि धरती के विकासी द्वंद्व-क्रम में एक मेरा पक्ष/ मेरा पक्ष, निस्संदेह

(*रचनावली*-2, पृ. 149)

विजेंद्र जी के इस लेख से यह साफ़ पता लगता है कि उन्होंने न तो मुक्तिबोध का लेखन ठीक से पढ़ा है, क्योंकि वह उनके लिए 'दुरूह और जटिल' है, और न मार्क्सवाद और न अस्तित्ववाद। अपने मार्क्सवाद का ज्ञान वे ऐतिहासिक भौतिकवाद को उलटकर 'भौतिकवादी ऐतिहासिक द्वंद्व' लिखने से उजागर करते हैं। आगे भी वे एक वाक्य से अपनी पोलपट्टी खोल देते हैं जब वे हमारा ज्ञान यह कह कर बढ़ाते हैं कि 'इतिहास में भौतिकवादी द्वंद्व-संघर्ष ही मानवीय विकास का सार है।'(वही, पृ.17) यह 'द्वंद्व-संघर्ष' क्या बला है जिसमें 'द्वंद्व' और 'संघर्ष' यानी डबल स्ट्रगल करते हुए इतिहास को दिखाते हैं? क्या विजेंद्र जी यहां अपनी स्थापना में 'वर्ग-संघर्ष' व्यक्त करना नहीं भूल गये? वे रामविलास शर्मा के पदानुगामी बन कर यह फ़तवा जारी करते हैं कि 'मुझे लगता है कि मुक्तिबोध अंत तक अपने को अस्तित्ववाद से मुक्त नहीं कर पाये।'(वही) इस तरह के वक्तव्यों के बाद तुरंत डा. रामविलास शर्मा से सहमत होते हुए मुक्तिबोध को 'रहस्यवादी' सिद्ध करने वाले उनके 'सैडिस्ट' फ़तवे को उद्धृत भी कर देते हैं, 'मुक्तिबोध बाहर की दुनिया में जितना ही मार खाते हैं, उतना ही उनका जादू प्रेम, भावुक और भोला मन रहस्यवाद की तरफ़ तेज़ी से दौड़ता है।' (वही, पृ. 17)

तो, मुक्तिबोध को न समझ पाने की दुर्बलता का शिकार हिंदी का एक आलोचक समूह अब भी उनकी कविताओं के संवेदनात्मक उद्देश्य को विकृत करने लिए उन पर पुरानी बंदूकों और तमंचों से गोली दागता रहता है, जो सिलसिला उनकी मृत्यु के कुछ दिनों बाद ही शुरू हो गया था और अब तक चल रहा है। अफ़सोसनाक बात यह है कि इस 'विचित्र प्रोशेसन' में प्रगतिशील माने जाने वाले कई कवि आलोचक भी शामिल हैं, और प्रगतिवादविरोधी तत्व भी। इन सबमें एक विशेषता कॉमन है। वह है, कवि मुक्तिबोध की कविता के बजाय उनके व्यक्तित्व पर टिप्पणी, एक दंभी छद्म-मनोविश्लेषणशास्त्री की तरह 'मुक्तिबोध का मन' मनमाने ढंग से विश्लेषित करते हुए कुतर्की आलोचना करना। भले ही मुक्तिबोध 'नयी कविता का आत्मसंघर्ष' पर लिखें, आलोचक इसे मुक्तिबोध के मन में 'आत्मसंघर्ष' के रूप में व्याख्यायित कर देते हैं और उसे फिर अपनी तरफ़ से 'अस्तित्ववाद' से जोड़ देते हैं जबकि 'आत्मसंघर्ष' का अस्तित्ववादी दार्शनिक चिंतन में कहीं कोई ज़िक्र नहीं, न हाइडेग्गर की पुस्तक *Being In Time* में और न सार्त्र की *Being and Nothingness* या *Existentialism is a Humanism* में, जो मैंने 1971 में ही मुक्तिबोध पर अपनी पुस्तक, *मुक्तिबोध : प्रतिबद्ध कला के प्रतीक* (1976) लिखने के दौरान पढ़ी थीं। आज इस सच्चाई को कोई भी इंटरनेट पर जाकर देख सकता है जहां अस्तित्ववाद पर विपुल सामग्री मौजूद है।

मुक्तिबोध अकेले मार्क्सवादी लेखक थे जो अपनी रचनाओं और अपने गद्यलेखन में अस्तित्ववादी लटके झटके इस्तेमाल करने वाले शीतयुद्ध के दौर के उन लेखकों के विचारों से संघर्ष कर रहे थे जो सी आइ ए द्वारा संचालित 'कांग्रेस फ़ार कल्चरल फ्रीडम' के बैनर तले मार्क्सवाद पर हमले बोल रहे थे। अज्ञेय की एक कविता में अस्तित्ववाद के सारे लटके झटके अंकित हैं, जिन्हें साहित्यिक स्तर पर उन

दिनों विश्व भर में आधुनितावाद ने अपना लिया था और नयी कविता और नयी कहानी के दौर में कई रचनाकारों ने इन्हें फ़ार्मूले के तौर पर चित्रित करना भी शुरू कर दिया था! देखिए :

> ये ही सब चीज़ें तो प्यार हैं -
> यह अकेलापन, यह अकुलाहट, / यह असमंजस, अचकचाहट / आर्त अनुभव,
> यह खोज, यह द्वैत, यह असहाय / विरह-व्यथा,
> यह अंधकार में जाग कर सहसा पहचानना / कि जो मेरा है वही ममेतर है।

मुक्तिबोध की कविता के वाचक बार बार यह कहते हैं कि 'याद रखो/ कभी अकेले में मुक्ति न मिलती/ यदि वह है तो सबके ही साथ है।' 'कि मुक्ति के रास्ते अकेले में नहीं मिलते।' अपने एक लेख में भी वे बिना लागलपेट अस्तित्ववादी विचारधारा का खंडन करते हैं। वे अज्ञेय सरीखे नये कवियों के बारे में लिखते हैं कि नये कवि को सामूहिकता से चिढ़ है क्योंकि 'पश्चिमी विचारपत्र उसे वैसा ही सिखाते हैं। उसे सिखाया गया है कि सचेत आत्मनिर्णीत विवेकपरक संकल्प से शून्य होकर व्यक्ति अपने को समूह में विलीन कर देता है। इसीलिए, हे जागरूक सचेत महानुभाव, तुम अपने को समूह में विलीन मत करो। दूसरे शब्दों में, जनता समूह है, वह अज्ञ है, अंधकारग्रस्त है, वह जल्दी ही भीड़ बन जाती है। उसका साथ मत दो। तुम सचेत व्यक्तित्वशील प्राण केंद्र हो। उसमें अपने आपको विलीन मत करो।' इस व्यंग्यशैली में वे आत्ममुग्ध नये कवि को बताते हैं कि 'अपने अंतिम निष्कर्ष में यह विचारधारा अत्यंत प्रतिक्रियावादी है, वह जन के प्रति घृणा पर आधारित है, और बुद्धिजीवियों को जनता से अलग करने का उपाय है।'(*रचनावली*-4, पृ. 156-57)

अकेलेपन से प्यार सिखाने वाली अस्तित्ववादी विचारधारा से इस तरह का संघर्ष क्या उस दौर के किसी अन्य प्रगतिवादी कवि या आलोचक में मिलता है? इससे मालूम होता है कि मुक्तिबोध को अस्तित्ववादी बताने वाले लेखकों ने बिना कुछ पढ़े ही फ़तवे जारी किये हैं, उनकी कविताओं के अर्थ को भी विकृत किया है। वे उनके प्रतीक, बिंब, रूपक और उनकी विश्वस्तर की नयी काव्यशैली की कविता को अपनी पिछड़ी समझ की वजह से व्याख्यायित ही नहीं कर पाये। हिंदी में ऐसे अपढ़ और पिछड़ी समझ के लेखकों-आलोचकों की भरमार की वजह से ही लोग आलोचना की दरिद्रता का रोना आये दिन रोते रहते हैं।

मुक्तिबोध ने विश्व में चर्चित अद्यतन दर्शनप्रणालियों और काव्य शैलियों का गहराई से और निज की अर्जित मार्क्सवादी-लेनिनवादी विश्वदृष्टि से आलोचनातमक अध्ययन किया था। साथ ही भारतीय साहित्य, इतिहास और दर्शनों का व हिंदी कविता की परंपरा का भी और अपने समकालीनों की रचनाओं का भी उसी तरह आलोचनात्मक पाठ किया था। अपनी अख़बारनवीसी में भी उनकी यही विश्वदृष्टि बराबर झलकती है जिसका काफ़ी हिस्सा उनकी *रचनावली* के खंड-6 में और बाक़ी 2009 में छपी पुस्तक, *जब प्रश्नचिह्न बौखला उठे,* में संकलित है। यह सब देखकर यह कहना अतिशयोक्ति न होगा कि मुक्तिबोध बीसवीं सदी के भारतीय साहित्य में सर्वोच्च स्थान रखते हैं और यदि इस तरह का काव्यशास्त्रीय, सौंदर्यशास्त्रीय और सैद्धांतिक लेखन उन्होंने अंग्रेज़ी में किया होता तो विश्वसाहित्य की समृद्ध मार्क्सवादी परंपरा में भी उनका महत्वपूर्ण स्थान होता जैसा जार्ज लुकाच, रेमंड विलियम्स, टेरी ईगलटन, फ्रेडरिक जेम्सन और हमारे एजाज़ अहमद आदि को हासिल है।

आज़ादी के दौर में ही हिंदी लेखकों में यह ललक जाग उठी थी कि उन्हें विश्वस्तरीय साहित्य लेखन करके अपनी परंपरा को समृद्ध करना है। इसके संकेत भारतेंदु युग में ही मिलने लगते हैं, आख़िर भारतीय रेनेसां या ज्ञानोदय के पीछे भी यही ललक तो थी। भारतेंदु ने ख़ुद शेक्सपीयर के एक नाटक का अनुवाद (*दुर्लभ बंधु*, 1880) किया था। उसके बाद तो तमाम लेखकों, चिंतकों और बुद्धिजीवियों में यह ललक देखी जा सकती है। आज़ादी के तुरंत बाद जब नया समाज, नया इंसान बनाने के गीत गाये जा रहे थे, हर आंदोलन, हर पत्रिका, हर विधा के साथ 'नया' विशेषण जोड़ने के पीछे भी यही ललक थी। एक ओर कुछ लेखक साम्राज्यवादी विचारधाराओं के असर में अपने रचनाकर्म को 'नया' रंगरूप दे रहे थे, तो दूसरी ओर सोवियत क्रांति के असर में वैज्ञानिक विचारधारा से लैस होकर शोषित वर्गों के हिमायती लेखक भी रचना, विचार और सैद्धांतिकी के स्तर पर हिंदी साहित्य को विश्वस्तर की गरिमा प्रदान कराने के लिए संघर्षरत थे। मुक्तिबोध ने इसी ललक के तहत अपनी तैयारियां कीं। उनका एक वाचक उनकी इस हक़ीक़त का बयान भी करता है :

> मैं हूं जवाबी ग़दर / जिससे कि और ज़्यादा तैयारियां कर
> आज नहीं कल फूट पड़ूंगा ज़रूर / ज़रूर
>
> (*रचनावली*-2, 395)

जो लोग उनकी 'ज़्यादा तैयारियां' समझने में 'पश्चातपद' हैं, उनके लिए ये कविताएं 'विकृताकृत बिंबा हैं।' उन्हें वे दुरूह व जटिल लगती हैं, उनकी पैठ इन कविताओं में हो नहीं पाती। जब टी एस एलियट की कविता, 'द वेस्टलैंड' छपी तो अंग्रेज़ी साहित्य के पाठकों की भी यही स्थिति थी। हमारे निराला जी ने भी एक कविता में उसके शिल्प पर चुटकी ली, मुक्तिबोध ने एक पूरी कविता 'टी एस ईलियट के प्रति' लिखी जिसकी शुरुआत में वाचक कहता है, 'पढ़ रहा था कल तुम्हारे काव्य को...'(*रचनावली*-1, पृ. 197)। वे एलियट, एज़रा पाउंड आदि की विचारधारा को प्रतिक्रियावादी मानते हैं जिसे अज्ञेय आदि आधुनिकतावादियों ने अपना लिया था, मगर उनकी काव्यशैली और रूपविधान में उन्होंने अपना क्रांतिकारी कंटेंट भर दिया। अंग्रेज़ी के इन कवियों के बारे में उन्होंने लिखा :

> टी एस एलियट, इशरवुड, एल्डूज हक्सले को अपनी जर्जर आत्माओं की समस्याओं का हल गिरजाघर तथा वेदांत में ही दीखा और उन्हीं की मनोवृत्तिवाला कवि एज़रा पाउंड अंत में राजनैतिक क्षेत्र में भी घोर फ़ासिस्ट हो गया।'
>
> (*रचनावली*-5, पृ. 52)

इस स्तर का विश्वसाहित्य का अध्ययन आश्चर्यचकित कर देने वाला है, जो उनके समकालीनों के पास था ही नहीं। मुक्तिबोध ने हिंदी कविता को विश्वस्तर तक ले जाने के लिए उसके कंटेंट और फ़ॉर्म दोनों में बदलाव लाने के लिए विश्वभर के साहित्य या कम से कम अंग्रेज़ी, रूसी, पोलिश, चीनी साहित्य से, जिनकी जानकारी के संकेत हमें उनके लेखन से मिलते हैं, बहुत कुछ सीखा और उसे अपने रंग में रंग कर इस्तेमाल किया। अंग्रेज़ी के उस दौर में महान समझे जाने वाले कवियों ने फ्रांस के प्रतीकवाद और बिंबवाद से काफ़ी सीख कर नयी काव्यशैली विकसित की थी जो उन्नीसवीं सदी के कवियों की शैली से एकदम भिन्न थी। पहले के कवियों की कविताओं का अन्वय करके सीधे अर्थ तक पहुंचा जा सकता था, तब 'गिरा अरथ जलवीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न' की स्थिति थी। साहित्यिक पाठक भी उसी

के अभ्यस्त थे। प्रतीकवादी दौर ने नयी टेकनीक विकसित की, बिंबवादी समूह ने भी इसमें इज़ाफ़ा किया और पाठक को भी अपनी चेतना और सौंदर्याभिरुचि व काव्यसंवेदन विकसित करने के लिए बाध्य किया। एलियट की कविता के आस्वाद के लिए पाठक को भी अपनी चेतना के विकास की ज़्यादा तैयारी करने की सलाह उन्हीं दिनों किसी आलोचक ने, शायद एफ़ आर लीविस ने ही दी थी। मार्क्स ने शास्त्रीय संगीत के आस्वाद के लिए कहा था कि संगीत के आस्वाद के लिए संगीतप्रेम का कान होना चाहिए। यही बात मुक्तिबोध की कविता के आस्वाद के लिए हिंदी के पाठकों और आलोचकों पर भी लागू होती है। उन्हें भी अपनी जड़ीभूत साहित्य अभिरुचि से आगे जाकर मुक्तिबोध के काव्य के आस्वाद के लिए और ख़ुद अपने ज्ञानात्मक विकास के लिए 'और ज़्यादा तैयारियां' करनी होंगी, तभी उनके 'प्रतीकों और बिंबों के असंवृत रूप' में चित्रित भारतीय 'हमारी ज़िंदगी' का यथार्थ देखा जा सकता है।

इस तैयारी में सबसे पहली सीढ़ी है, उनकी उस विश्वदृष्टि को आत्मसात् करना जिसे हम सब विश्व-सर्वहारा वर्ग की विचारधारा या मार्क्सवाद-लेनिनवाद की विचारधारा के रूप में जानते हैं। दूसरी सीढ़ी, मुक्तिबोध के प्रतीकों और बिंबों के संकेतार्थ के लिए उनके समूचे लेखन को पढ़ना, क्योंकि वे अपने प्रतीकों और बिंबों के अर्थ कहीं अपनी ही दूसरी कविता में, कहीं अपने निबंधों में, कहीं पत्रकारिता में और कहीं आलोचना में संकेतित कर देते हैं। तीसरी सीढ़ी उनकी निजी प्रतीकयोजना को समझने की है जिसे अपना कर ही वे मौलिकता की कसौटी पर शिखरस्थ कवि सिद्ध होते हैं।

डैविड डैशिज़ ने अपने एक निबंध में प्रतीकों के दो भेद बताये हैं : एक अंतर्निहित, दूसरा स्थितिपरक। उन्होंने कहा है कि 'एक महान कवि किसी ऐसे बिंब या घटना पर प्रतीकात्मक अर्थ का आरोपण कर सकता है जिसके संदर्भ से वे(बिंब या घटना) घिरे हुए हों।' मुक्तिबोध के कुछ प्रतीक तो आवर्ती हैं जिनमें से ज़्यादातर का विवेचन मैंने अपनी पुस्तक, *मुक्तिबोध के प्रतीक और बिंब*, के प्रारंभिक अध्यायों में किया है। इनमें प्रमुख हैं 'प्रकाश' के बिंब जिनका अर्थ है □ मिथ्या चेतना के अंधकार को हटाने वाली वर्गचेतना का प्रकाश। दूसरा 'आत्मज सद्योजात' या 'शिशु' का प्रतीक है जो 'नव-सत्य' के अर्थ में ख़ुद ही कवि ने बता दिया है जो *तार सप्तक* से लेकर अंतिम दिनों की कविताओं में बार बार आया है। तीसरे 'लाल लाल जाज्वल्यमान' प्रतीक हैं जो अपने रंग से क्रांति का संकेत देते हैं। इन पर विस्तार से मैंने अपनी उक्त पुस्तक में चर्चा की है। यहां उस विस्तार को देना संभव नहीं।

कुछ प्रतीक अपना अर्थ विभिन्न स्थितियों और संदर्भों में प्रकट या आभासित करते हैं। इन प्रतीकों के संदर्भों में ही उनके 'प्रत्येक अर्थ की छाया में अन्य अर्थ/झलकता साफ़ साफ़' दिखायी देता है। मुक्तिबोध के स्थितिपरक प्रतीकों को समझना भी आवश्यक है। इनमें से कुछ प्रतीक दोहराये नहीं जाते हैं, फिर भी उन्हें सिर्फ़ बिंब नहीं कहा जा सकता है क्योंकि वे एक अर्थ संकेत देते हैं। ये प्रतीक भी मुक्तिबोध के निजी प्रतीक हैं क्योंकि उन्होंने इनमें अपना नया अर्थ भरने का कलात्मक प्रयास किया है। निजी प्रतीक रचने की ललक उस समय पूरी नयी कविता में थी, जैसा कि लक्ष्मीकांत वर्मा ने कहा, 'नयी कविता ने अपनी अभिव्यक्ति के लिए उन प्रतीको, बिंबों और साधनों का प्रयोग किया है जो यथार्थ जीवन से उपजे हैं और जिनका सीधा संबंध उस वैयक्तिक भावस्तर से है जो प्रत्येक क्षण के सार्थक अस्तित्व के साथ हमें आंदोलित करता रहता है।' (*नयी कविता के प्रतिमान*, पृ. 3) मगर निजी प्रतीकों द्वारा भी कवि का वर्गीय दृष्टिकोण या मानसिकता उजागर तो हो ही जाती है। अभिव्यक्ति किसी को क्षमा नहीं करती।

मुक्तिबोध के वैयक्तिक भाव-स्तर के प्रतीकों में से एक प्रसिद्ध प्रतीक है 'बरगद'। वैसे तो इसकी आवृति भी कई कविताओं में हुई है, फिर भी वह स्थितिपरक संदर्भ में अपना अर्थ देता चलता है। यह 'बरगद' क्या है? गहराई से विचार करने पर पता लगता हे कि 'बरगद' संवेदनात्मक अनुभवात्मक ज्ञान का प्रतीक है। यदि सरलीकृत रूप में कहने दिया जाये तो मुक्तिबोध ने मार्क्सवादी (प्रगतिवादी) विचारधारा को 'बरगद' के प्रतीक में रूपायित किया है। अपने एक लंबे लेख में उन्होंने पहले 'सत्यरूपी वटवृक्ष' और उसके बाद उसी लेख में फिर 'प्रगतिवाद के वटवृक्ष की छाया' का प्रयोग किया है। (देखें, *रचनावली*-5, क्रमशः पृ. 152 और 160) साहित्यिक शब्दावली में मुक्तिबोध ने इसे एक और नाम दिया □'संवेदनात्मक ज्ञान'। यह ज्ञान जब संवेदना से जुड़ जाता है तो 'ज्ञानात्मक संवेदन' बन जाता है। देश की और विश्व की शोषित मानवता से मुक्तिबोध प्रतिबद्ध थे। भारतजन और विश्वजन के साथ किस रूप में और कैसे छल हो रहे थे, इसका उन्हें ज्ञान था; उसके प्रति वे संवेदनशील थे। यही उनकी विश्वदृष्टि थी। इस व्यापक सूक्ष्मदर्शी प्रगतिवादी विचारधारा को उन्होंने अपनी कविताओं में 'बरगद' के निजी प्रतीक द्वारा चित्रित किया है। 'पता नहीं...' कविता में ही वह 'बरगद ऊंचा, ज़मीन गीली/ मन जिन्हें देख कल्पना करेगा जाने क्या' देखने को मिल जाता है। यहां ऊंचा बरगद उसी 'ज्ञान' का, और ज़मीन का गीलापन 'संवेदना' का प्रतीक है। ये दोनों बातें ही ज़रूरी हैं, वैज्ञानिक ज्ञान और संवेदना के संतुलन के बिना जीवन और जगत् को संपूर्णता में नहीं जाना जा सकता और न ही शोषण की परंपरा को ख़त्म किया जा सकता है। इसीलिए वाचक कहता है :

तब बैठ एक/ गंभीर वृक्ष के तले
टटोलो मन।

(*रचनावली*-2, पृ. 255)

यह गंभीर वृक्ष मार्क्सवादी आइडियोलॉजी का वृक्ष है, वही प्रगतिवाद के वटवृक्ष की छाया है। अज्ञेय की कविता, 'असाध्य वीणा' का 'राजा ने आसन दिया' वाला सामंती मूल्य परंपरा का वृक्ष नहीं जिसे प्रियंवद राजा के दरबार में स्मरण करता है तथा उस पर कुर्बान होता है। मुक्तिबोध जानते हैं कि इस विचारधारा के वृक्ष की छांह निस्संग रहकर नहीं बढ़ सकती। इसके लिए 'अपने अपने तप्त अनुभवों की तुलना/ घुलना मिलना' ज़रूरी है : 'हाथ तुम्हारे में जब भी मित्र का हाथ /फैलेगी बरगद छांह वहीं /गहरी गहरी सपनीली सी।'(*रचनावली*-2, पृ. 255)

'चांद का मुंह टेढ़ा है' कविता में भी बरगद का प्रतीक आया है। वहां इस प्रतीक का अर्थ कर दिया गया है : 'तजुर्बों का ताबूत/ ज़िंदा यह बरगद'। स्पष्ट है कि यह बरगद अपने अपने तप्त अनुभवों की तुलना करने का संदेश देने वाला, अनुभवों पर आधारित संवेदनात्मक ज्ञान है, तजुर्बों का ताबूत है; समाज के इतिहास का तर्कसंगत विवेक है। इसीलिए वाचक कहता है कि इस 'बरगद को सब/ पता था इतिहास'। इसी 'बरगद की घनी घनी छांव में' वाचक को 'ग़रीबों के ठांव में/ सूनी सूनी गलियां' 'फूटी हुई चूड़ियों की सूनी सूनी कलाई सी' लगती हैं। इसी कविता में एक स्थितिपरक (पोज़ीशनल) प्रतीक है□'भैरों'। यह प्रतीक आवर्ती नहीं है, लेकिन यह सिर्फ़ बिंब भी नहीं है, उसमें अर्थ भरा गया है।

'ग़रीबों के ठांव में' भैरों की सिंदूरी गेरुई मूरत चौराहे पर खड़ी है। उस पर 'टेढ़े मुंह चांद की ऐयारी रोशनी' पड़ रही है। भैरों की मूरत में 'पथरीला व्यंग्य स्मित' है। इन संकेतों से लगता है कि भैरों उस

जनता का प्रतीक है जो कभी भी अपनी निष्क्रियता छोड़ क्रांति के पक्ष में सक्रिय हो उठेगी, उसमें दृढ़ता है जो उसका पथरीलापन है, उसकी पीठ चट्टानी है, अटूट है। बरगद यदि आइडियोलॉजी या सिद्धांत है तो भैरों उसे व्यवहार में उतारने वाली शक्ति है। इसीलिए कविता के अंत में 'भैरों और बरगद में बहस छिड़ी हुई है/ ज़ोरदार जिरह कि कितना समय लगेगा/ सुबह होगी कब और/ मुश्किल होगी दूर कब?।'(*रचनावली*-2, पृ. 286) यह 'सुबह' मुक्तिबोध-काव्य में क्रांति की विजय के समय का प्रतीक है।

'डूबता चांद कब डूबेगा' में भी बरगद का उल्लेख हुआ है। पूंजीवादी व्यवस्था के समाप्त होने से पहले विचारशील व्यक्तियों को संघर्ष की दशा से गुज़रना होता है। उन्हें 'कल्चरल वैकूम' या सांस्कृतिक शून्य का सामना भी करना होता है। आत्मसंघर्ष की उस स्थिति में विचारधारा भी अंधेरे से घिर जाती है। उस हालत में 'अंधियारा समेट बरगद/ तम की पहाड़ियों-से दिखते' तथा 'भाव-विचार स्वयं भी/ तम भरी झाड़ियों-से दिखते' हैं। विकास के अगले चरण में इस अंधकार की स्थिति में भी सब साथी मिल कर पथ खोज निकाल लेते हैं।

'मेरे सहचर मित्र' कविता में बरगद का प्रतीक आदर्शीकृत रूप में आया है। वाचक के प्रश्नों, जिज्ञासाओं का उत्तर भी मानवीकृत किया गया है, वह उत्तर स्वयं उसका 'सहचर मित्र' है, जैसा कि वाचक कहता है : 'मेरे टटोलने प्राण झुक रहा आंखों में/ वह उत्तर सहचर सैनिक है।'(*रचनावली*-2, पृ. 248) अपने इस कॉमरेड के 'मात्र स्पर्श से ही' या संसर्ग से ही अज्ञान और पीड़ा से मूर्छित आहत वाचक एक 'विज़न' देखता है। 'गुहाद्वार आत्मा का धड़ से खुलता है'। उसके भीतर वह देखता है□'क्रांतिदर्शी कोई/ बैठा है पत्थर कुरसी पर आजानुबाहु।' वह क्रांतिदर्शी मार्क्स के अतिरिक्त कौन हो सकता है? 'मेरे सहचर मित्र' मार्क्स के प्रति और मार्क्सवाद के प्रति कलात्मक ट्रिब्यूट है। मार्क्सवाद को इस कविता में भी 'अक्षयवट' कहा गया है, वही बरगद कभी नष्ट न होने वाला वटवृक्ष :

मुक्तिकाम बेचैनी में/ मैं उन ग़रीब गलियों में घूमा झूमा हूं

> जिन गलियों में तुम अज्ञयवट/ ले शत सहस्र भावना विचारों के पल्लव
> ओ जरा जटिल/ अनुभव-शाखाएं लिये खड़े।
>
> (*रचनावली*-2, पृ. 250)

वाचक यह भी जानता है कि 'ओ अक्षयवट, यदि तुम न रहे होते/ मेरी इन गलियों में/ तो अंधकार के सिंधु तले/ मैं कहीं पड़ा होता सूने में।' यही अक्षयवट 'कल जो हमने चर्चा की थी' में भी वाचक को दिखायी देता है :

> ज्ञान सरोवर का जल पीकर/ हम उठने को थे कि सामने
> हमने देखा/ युगांतकारी आस्थाओं का
> एक विशाल भव्य अक्षयवट।
>
> (*रचनावली*-2, पृ. 312-13)

इसी अक्षयवट यानी मार्क्सवाद की छाया तले क्रांतिरूपी 'वेगवान पीड़ा की कन्या/ भव्य कर्मनिष्ठा जनजन्या' खड़ी है। 'मेरे लोग' कविता में उपेक्षित कालपीड़ित सत्य के समुदाय लेकर जो ग़रीब असंख्य स्त्रीपुरुष बालक भटकते हैं, वे 'गंदी बस्तियों के पास नाले पार/ बरगद' के नीचे ठहरते हैं।(वही, पृ.

222) यही वह बरगद है जो ग़रीबों का घर है, उनकी छत है। साम्यवादी विचारधारा के ही नीचे उन्हें आश्रय मिल सकता है, अन्यत्र नहीं।

'ओ काव्यात्मन् फणिधर' में भी वाचक अपनी *नागात्मक* कविताओं से कहता है, 'वन तुलसी के तल से निकलो/ पाओ वट को'। यह वटवृक्ष वही आइडियोलॉजी का वृक्ष है और वन तुलसी पुरानी रूढ़िवादी परंपरा का द्योतक है। वाचक चाहता है कि उसकी कविताएं प्रगतिशील विचारधारा से जुड़ी हों, 'ओ नागराज, इस वट की शाखाओं पर तुम करवट बदलो'।

'चकमक की चिनगारियां' कविता में भी वही बरगद है। वाचक उस बरगद के पास 'स्पंदित' होता है और उसी के पत्र मर्मर में बिखर जाता है।(देखिए खंड : 7) 'चंबल की घाटी में' कविता में वाचक 'अजनबी हवाओं की तेज़ मारधाड़/ बरगद बबूलों की तोड़ ताड़ फाड़' देखता है। यहां भी 'बरगद' मार्क्सवादी लोगों और बबूल सर्वहारा का प्रतीक है। 'बबूल' को सर्वहारा के अर्थ में अन्यत्र भी इस्तेमाल किया है। देखिए :

> सूखे बबूलों को कंटीली पांत/ भरती है हृदय में धुंध डूबा दुख
> भूखे बालकों के श्याम चेहरों साथ/ मैं भी घूमता हूं शुष्क।
>
> (*रचनावली*-2, पृ. 241)

'अंधेरे में' कविता में भी 'बरगद' आया है। मध्यवर्गीय वाचक को जो शुरू में संशयग्रस्त है और पूर्णरूपेण 'परिणत' नहीं है, बरगद 'भयंकर' लगता है : 'दीखता है सामने ही अंधकार स्तूप सा/ भयंकर बरगद/ सभी उपेक्षितों समस्त वंचितों/ ग़रीबों का वही घर वही छत। (*रचनावली*-2, पृ. 332) 'बरगद' का प्रतीक यहां स्पष्ट हो गया है। ग़रीबों की छत मार्क्सवादी विचाधारा ही है। इसके साथ 'भयंकर' विशेषण निरर्थक नहीं है। 'पता नहीं' कविता में, जिसमें बरगद ऊंचा व्याख्यायित हुआ था, यह संकेत दे दिया गया था कि वर्ग समाज में रहते हुए उस विचारधारा के लोगों को अनेक ख़तरे उठाने पड़ते हैं:

> जाने किन ख़तरों से जूझे ज़िंदगी
> वे अवस्थाएं तुमको दरिद्र करवायेंगी
> कि दैन्य ही भोगोगे/ पर तुम, अनन्य होगे।
>
> (*रचनावली*-2, पृ. 257)

मार्क्सवादी विचारधारा अपनाने और अपने को वर्गापसरित करने की प्रक्रिया में उक्त ख़तरों की पूर्वकल्पना वाचक के मन में है। 'अंधेरे में' कविता में 'प्रश्न थे गंभीर, शायद ख़तरनाक भी', इसीलिए अपरिणत वाचक को बरगद भयंकर प्रतीत होता है। उस बरगद के नीचे रहने वाला 'सिर फिरा जन' वाचक को उसकी 'निष्क्रिय संज्ञा' का आभास करा देता है, वह उसे वर्गापसरण की प्रक्रिया में डाल देता है। इसीलिए उसकी 'भीतरी दुनिया में/ चलता है द्वंद्व' और तब वाचक को बरगद भयंकर नहीं लगता : 'मैं इस बरगद के पास खड़ा हूं'। अब वह 'झुके हुए गुमसुम टूटे हुए घरों के/ तिमिर अतल से' अपने मन का तादात्म्य स्थापित करता है। इसीलिए 'यह चेहरा/ घुलता है' और 'घुलता है मन यह'। स्वात्म के विलय की यह प्रक्रिया ज़ोर पकड़ती है, आइडियोलॉजी उसे सक्रिय होने को प्रेरित करती है :

> ऊपर से गिर कर/ कंधे पर बैठ गया बरगद पात एक

क्या वह संकेत क्या वह इशारा/ क्या वह चिट्ठी है किसी की
कौन सा इंगित?

(वही, पृ. 335)

स्पष्ट है यह इशारा, यह इंगित मार्क्सवादी विचारधारा की ओर से हुआ है। उसकी मांग है कि वह दम छोड़ भागे नहीं, अपने को वर्गापसरित कर ले। मध्यवर्गीय आदमी की मुक्ति उन्हीं के साथ है, बरगद पात का यही संकेत है।

रॉबिन स्कैल्टन ने कहा है कि 'यदि कोई प्रतीक प्राप्त होता है तो वह इलहामी शक्ति ('कल्पना शक्ति' में पूरा अर्थ नहीं आता) द्वारा, अंशतः अकेंद्रीभूत चेतना की सहायता से प्राप्त होता है, क्योंकि मस्तिष्क की अन्य शक्तियां उसे स्वीकार नहीं करतीं' (*द पोइटिक पैटर्न*, पृ. 22), मगर ऐसा नहीं है। मस्तिष्क में यथार्थ से अर्जित रिफ़्लेक्सों को संयोजित करने की क्षमता होती है। मुक्तिबोध में 'विज़न' निर्माण करने की अद्‌भुत क्षमता है, और उनका 'विज़न' यथार्थ की भूमि पर खड़ा होता है। वह आसमान में उड़ता हुआ होने पर भी ज़मीन से जुड़ा रहता है :

पर्चा पढ़ता हुआ उड़ता हूं हवा में
चक्रवात गतियों में घूमता हूं नभ में
ज़मीन पर एक साथ/ सर्वत्र सचेत उपस्थित।

(रचनावली-2, पृ. 350)

उनका 'विज़न' मार्क्स का 'विज़न' है जो विश्व के बहुत बड़े भूभाग पर यथार्थ बन चुका है। इसी 'विज़न' के दम पर वे कहते हैं, 'यह निश्चित है कि फ़ैंटेसी कल वास्तव होगी'('एक अंतर्कथा')। विचारपक्ष का फ़ैंटेसी के साथ इतना संतुलित मिश्रण विश्व-साहित्य में उपलब्ध नहीं है। इस प्रक्रिया में मुक्तिबोध को कलात्मक निजी प्रतीकों की सर्जना करनी पड़ी। जब प्रतिक्रियावादी खेमे के कवि-लेखक अपने को भारत के एलियट, पाउंड और लॉरेंस बनाने में लगे थे, मुक्तिबोध इन सबसे ऊपर उठकर 'प्रयासी प्रेरणा के स्रोत/ सक्रिय वेदना की ज्योति/ सब साहाय्य' अपने देश भारत के 'ग़रीबी के उपेक्षित श्याम चेहरों' से ले रहे थे। उनकी कविता 'मानव समाज रूपांतर विधि/ की धाराओं में मग्न/ मानवी प्राणों के मर्मों की व्यथा कथा' कह रही थी। यह 'व्यथा कथा' कच्चे संवेगों की 'दबी हाय हाय नुमा' कथा नहीं है, उसे निजी प्रतीकों की 'वैज्ञानिक प्रयोगशाला' में विचार स्तर पर नियंत्रित किया गया है। शमशेर जी के शब्दों में 'ये(कविताएं) लिपियों की भावुकता नहीं, इनमें विचार गुनगुनाते हैं।' (*चांद का मुंह टेढ़ा है*, संकलन की भूमिका, पृ. 22)

मुक्तिबोध के निजी आवर्ती प्रतीकों में से अधिकांश पर मैंने अपनी पुस्तक में विस्तार से विचार किया है। उनके कुछ स्थितिपरक निजी प्रतीक भी उनके काव्य में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं जिनका विश्लेषण-संश्लेषण आवश्यक है। यों तो मुक्तिबोध की अधिकांश कविताओं में संदर्भगत और स्थितिपरक प्रतीक भरे पड़े हैं; तथापि कुछ महत्त्वपूर्ण प्रतीकों को व्याख्यायित करना यहां आवश्यक है। मुक्तिबोध की प्रसिद्ध कविता 'ब्रह्मराक्षस' ऐसे प्रतीकों का पुंज है। यह 'ब्रह्मराक्षस' कौन है? 'परित्यक्त सूनी बावड़ी' क्या है? उसकी अंधेरी सीढ़ियां क्या हैं? ये प्रश्न हर पाठक को कविता की गहराई में जाने को बाध्य करते हैं। तभी इन प्रतीकों को समझने की आवश्यकता पड़ती है। कुबेरनाथ राय ब्रह्मराक्षस को 'अन्वीक्षा'

का प्रतीक मानते हैं, बावड़ी को 'इतिहास मन' का। (*क्ष त्र ज्ञ*□2) डा. न. चिं. जोगलेकर ने उसे मुक्तिबोध के व्यक्तित्व का प्रतीक माना है। (*मुक्तिबोध का रचना-संसार,* सं. गंगाप्रसाद विमल, पृ. 51) मुझे लगता है कि ब्रह्मराक्षस कलाकार, विचारक, कवि या बुद्धिजीवी का वह पक्ष है जो निस्संग निष्क्रिय रहकर सिर्फ़ समाज के रोगों की छानबीन तो करता रहा, आक्रोश दिखाता रहा, किंतु क्रिया(एक्शन) में 'पश्चात्पद' रहा है। उसके कार्य और विद्वत्ता का समाज को कोई लाभ नहीं मिल पाया, वह कुएं का मेंढ़क बन कर रह गया। वह दोस्तोयव्स्की के *डेविल्स* का शिगालेव जैसा थियरिस्ट है। इस सिद्धांतवादी बुद्धिजीवी ब्रह्मराक्षस की निष्क्रियता की भर्त्सना 'अंधेरे में' कविता में 'सिरफिरा जन' करता है :

> ओ मेरे आदर्शवादी मन/ ओ मेरे सिद्धांतवादी मन,
> अब तक क्या किया?/ जीवन क्या जिया?

(*रचनावली-2*, पृ. 332)

ब्रह्मराक्षस 'परित्यक्त सूनी बावड़ी/ के भीतरी/ ठंडे अंधेरे में' पैठा है। यह बावड़ी उसका अंतर्मन है। 'ठंडे अंधेरे में' पद में निष्क्रियता की अर्थध्वनि स्पष्ट है। उसका जटिल भावबोध और आत्मसंघर्ष ऐंटीथीसिस के संघर्ष के प्रतीकों में व्यक्त हुआ है : 'बावड़ी को घेर/ डालें खूब उलझी हैं।' यह उलझन 'विगत' और 'आगत' के ऐंटीथीसिस से उपजी है। वह संघर्ष 'अजनबी किसी बीती हुई उस श्रेष्ठता' और 'गहन अनुमानिता' के बीच है। यह उलझन यथास्थिति और प्रगति-कामना के ऐंटीथीसिस के संघर्ष को रूपायित करती है। इस संघर्ष को मुक्तिबोध ने कविता के चौथे और पांचवें अंशों में प्रतीकात्मक रूप में व्यक्त किया है जिसे सावधान पाठक ही समझ सकता है। 'बावड़ी की इन मुंडेरों पर/ मनोहर हरी' टगरलता के सफ़ेद फूल हैं और 'उसके पास/ लाल फूलों का लहकता झौंर/ मेरी वह कन्हेर' है। ये श्वेत पुष्प और लाल फूल क्या हैं? मुक्तिबोध के काव्य में श्वेत रंग शोषण परंपरा से जुड़े सफ़ेदपोश मध्यवर्ग की विचारधारा के अर्थ में और लाल रंग मार्क्सवादी विचारधारा के अर्थ में कई बार प्रयुक्त हुए हैं। शोषणपरंपरा 'टगर' है, और उसकी ऐंटीथीसिस लाल फूलों वाली 'कन्हेर' क्रांति की नयी विचारधारा की प्रतीक है। 'वह बुलाती एक ख़तरे की तरफ़।' वाचक इन ख़तरों से बचकर बौद्धिक जुगाली करता है, इसीलिए वह आत्मसंघर्ष की स्थिति में है, 'जाने किन ख़तरों से जूझे ज़िंदगी।' वह अनिर्णय की स्थिति में तब तक रहता है, जब तक अपने को वर्गापसरित नहीं कर लेता। 'अंधेरे में' कविता में मध्यवर्गीय वाचक 'परिणत' होकर सोचता है कि 'अभिव्यक्ति के सारे ख़तरे/ उठाने ही होंगे', लेकिन यह उसके लिए तब संभव हो पाता है जब वाचक अंतर्मन के भीतर पैठे ब्रह्मराक्षस□'कार्य क्षमता से वंचित व्यक्ति' यानी व्यक्तिवाद का वध करा देता है।

ब्रह्मराक्षस हिंदी का आधुनिक 'हैमलेट' है। वह विचारशील, आक्रोशमय बुद्धिजीवी है, जिसे 'आउट आव ज्वाइंट' समय को 'सेट राइट' करने की बेचैनी है। उसके 'भीतर से उमड़ती गूंज/ बड़बड़ाहट□शब्द पागल से।' वह 'पापछाया दूर करने के लिए' आत्मसंघर्ष कर रहा है, अपने को 'घिस रहा है'। उसके 'प्राण में संवेदना है स्याह।' वह ज्ञानी है, अध्ययनशील है, इतिहासवेत्ता है। 'मार्क्स, एंजेल्स, रसेल, टायन्बी/ कि हीडेग्गर व स्पैंग्लर, सार्त्र, गांधी भी/ सभी के सिद्ध अंतों का/ नया व्याख्यान करता वह।' 'करने' के नाम पर यही व्याख्यान करना उसकी लाचारी है। वह आत्मसंघर्ष करता हुआ ज्ञानधारा में स्नान कर रहा है। त्रासदी यह है कि उसका अंत भी उसी उलझन में हो जाता है :

मारा गया, वह काम आया/ और वह पसरा पड़ा है
वक्ष बांहें खुली फैली/ एक शोधक की।

(रचनावली-2, पृ. 319)

यह काम आना और 'पसरा पड़ा' होना उसकी सार्थकता का द्योतक है। वह असफल रहा तो सिर्फ़ इसलिए कि वह निस्संग था। उसके लिए 'ज़ीने की अकेली सीढ़ियां/ चढ़ना बहुत मुश्किल रहा'। इसीलिए उसका कार्य अधूरा रह गया। वाचक उस अधूरे कार्य को 'संगत पूर्ण निष्कर्षों तलक/ पहुंचा देना चाहता' है। यह तभी संभव है जब वह अपने को वर्गापसरित करे और जन के साथ मिले, उनसे मिलकर सक्रिय बने। मुक्तिबोध की अधिकांश कविताएं प्रतीकात्मक स्तर पर मध्यवर्गीय वाचक को वर्गापसरण की प्रक्रिया में ले जाती हैं। तनाव और आत्मसंघर्ष बराबर चलते रहते हैं। 'अंधेरे में' कविता में पहुंचकर मुक्तिबोध का वाचक स्वीकार कर पाता है, 'मैं परिणत हूं।' उससे पूर्व उसके भीतर के ब्रह्मराक्षस का वध हो चुकता है और तब वह अधूरा कार्य पूरा कर पाता है :

प्रत्येक स्थान पर लगा हूं मैं काम में/ प्रत्येक चौराहे, दुराहे, व राहों के मोड़ पर
सड़क पर खड़ा हूं/ मानता हूं मानता हूं मनवाता अड़ा हूं।

(*रचनावली*-2, पृ. 350)

मुक्तिबोध ने ऐसे ब्रह्मराक्षसों (बुद्धिजीवियों) का भी उल्लेख किया है जो काम न आये, उन्होंने अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए अन्य ढोंग रचे : 'मानव मस्तक में से निकले/ कुछ ब्रह्मराक्षसों ने पहनी/ गांधी जी की टूटी चप्पल।' (*रचनावली*-2, पृ. 304)

'चांद का मुंह टेढ़ा है' कविता में भी ब्रह्मराक्षसों का ज़िक्र हुआ है। 'किन्हीं ब्रह्मराक्षसों के निराकार/ अनाकार/ मानो बहस छेड़ दें'। यहां भी वे बुद्धिजीवियों के प्रतीक हैं जिनका मुख्य कार्य बहस छेड़ना है। यहां एक बात ध्यान में रखने योग्य है कि 'ब्रह्मराक्षस' विचारशील किंतु अप्रतिबद्ध और सिन्सियर किंतु अकर्मण्य बुद्धिजीवी है जो गंभीर आक्रोश से जन, समाज और राजनीति की समस्याओं का 'अपना गणित करता' हुआ मर जाता है। मगर वह सर्वहारा का दुश्मन नहीं है।

एक अन्य प्रतीक है 'ओरांग उटांग'। वह 'हिपोक्रिसी' और व्यक्तिवाद का प्रतीक है। 'व्यक्तित्वांतर' की प्रक्रिया में अपने भीतर छिपे इस प्रतिक्रियावादी तत्व को पहचानना आवश्यक हो जाता है। वाचक उसे जानता है : 'हाय हाय और न जान ले/ कि नग्न और विद्रूप/ असत्य शक्ति का प्रतिरूप/ प्राकृत ओरांग उटांग यह/ मुझमें छिपा हुआ है।' (*रचनावली*-2, पृ. 164) सारे लोग अपने भीतर छिपी इस 'असत्य शक्ति' या व्यक्तिवाद व 'हिपोक्रिसी' को पहचान नहीं पाते। 'ब्रह्मराक्षस' की नक़ल पर यहां भी 'ओरांग उटांग' की 'बौखलाती हुंकृति ध्वनियां' हैं, लेकिन बौखलाहट की ये ध्वनियां अहंवाद की हैं, ईमानदार विचारक 'ब्रह्मराक्षस' की 'गरजती गूंजती आंदोलिता/ गहराइयों से उठ रही ध्वनियां' नहीं हैं क्योंकि उसका वह रूप अपने बिंब से भी जूझ रहा होता है, जब कि 'ओरांग उटांग' को अपने भीतर छिपाये हुए पाखंडी लोग 'सत्य के बहाने/ स्वयं को चाहते हैं प्रस्थापित करना।'(*वही*, पृ. 165) वाचक की आंखें उन लोगों के 'कपड़ों में छिपी हुई/ सघन रहस्यमय लंबी पूंछ देखती' हैं। यही ओरांग उटांग 'ब्रह्मदेव' के रूप में भी प्रतीकित हुआ है। 'ओरांग उटांग' मन के भीतर है; ब्रह्मदेव का प्रभुत्व समाज

में है। 'ओ नागात्मन् फणिधर' कविता में वाचक बताता है कि पूंजीवादी पाखंड की प्रतिमूर्ति ब्रह्मदेव 'रहकर प्रच्छन्न स्वयं' 'सूक्ष्म आत्मरति का प्रचार' करता है और अकेलेपन में 'अपने को स्वयं चूम जाता' है। मुक्तिबोध जानते हैं कि प्रगतिशील विचारों के प्रकाश में 'उस ब्रह्मदेव का टेढ़ा मुंह/ जग देख चुकेगा पूरा ही'। इस ब्रह्मदेव की 'छत्रछाया में' धनवान अधिक धनवान होते जाते हैं और 'निर्धन, एक एक सीढ़ी नीचे गिरते जाते' हैं। स्पष्ट है कि वह पूरे समाज का ओरांग उटांग है।

'लकड़ी का बना रावण' पूंजीवादी व्यवस्था का प्रतीक है। (एक आलोचक महोदय को इस 'रावण' से बड़ी सहानुभूति है। वे कहते हैं कि इस कविता में 'जिस कचोटने वाली अनुभूति को कहने की कोशिश है वह काव्यनायक के अपने हलचली परिवेश से कट जाने की है'। उनकी ग़लती यह है कि वे 'मैं' को मुक्तिबोध समझ बैठे हैं। यह हिंदी आलोचना में व्याप्त भयंकर बीमारी है।) मुक्तिबोध ने *एक साहित्यिक की डायरी* (पृ. 31) में इस रावण का अर्थ स्पष्ट कर दिया है। पूंजीवादी वर्ग को विश्वास है कि वह 'सर्वतंत्र, स्वतंत्र और सत्-चित्' है। वह जानता है कि 'डार्क मासेज़' का 'लहरीला कंबल ओर छोर हीन/ रहा ढांक/ कंदरा गुहाओं को, तालों को।' उसी जनता में 'आंदोलन' 'करवट बदलता सा लग रहा' है; किंतु उसे यह 'आंखों का भ्रम' महसूस होता है। कुछ समय बाद वह भ्रम भी दूर होता है, उस व्यवस्था को तब अपनी ही 'नसें ढीली पड़ रही/ कमज़ोरी बढ़ रही' अनुभव होती है। पूंजीवाद का लकड़ी का रावण सोचता है :

> अभी तक/ समुत्तुंग शिखरों पर रह कर
> सुरक्षित हम थे/ अब क्या हुआ यह?
>
> (*रचनावली*-2, पृ. 369-70)

शोषक व्यवस्था के रावण को ख़तरा पैदा हो जाता है, तब वह फ़ासिस्टों जैसा प्रचार करता है कि 'समुदाय,भीड़/ डार्क मासेज़ ये मॉब हैं/ श्यामवर्ण मूढ़ों के दिमाग़ ख़राब हैं।' वह अपनी राज्य सत्ता की तमाम दमनकारी शक्तियों का आह्वान करता है कि 'प्रहार करो उन पर/ कर डालो संहार', किंतु इस के बावजूद एक समय आता है जब वह रावण सब ओर से घिरा होता है। उसकी 'आत्म-प्रतीति भी धोखा ही दे रही' होती है। उसे लगता है कि 'अब गिरा, तब गिरा/ इसी पल कि उस पल।' (वही, पृ. 372)

मुक्तिबोध ने हिंदी काव्य में पहली बार परंपरागत 'सच्चिदानंद' की मूर्ति खंडित कर 'सत् चित् वेदना' की नयी मूर्ति गढ़ी है। यह 'सत् चित् वेदना' उनके काव्य में कई निजी और स्थितिपरक प्रतीकों के माध्यम से चित्रित हुई है। 'तड़ित्' उनका ऐसा ही एक प्रतीक है। वह स्थितिपरक भी है और आवर्ती भी। यह 'सत् चित् वेदना' की 'तड़ित्' मुक्तिबोध की 'भूल-ग़लती' के नायक 'ईमान' की शक्ति है :

> वह क़ैद कर लाया गया ईमान
> बेख़ौफ़ नीली बिजलियों को फेंकता/ ख़ामोश।
>
> (वही, पृ. 390)

'चांद का मुंह टेढ़ा है' कविता के अंत में 'विचारों की विक्षोभी तड़ित् कराहती' और साथ ही 'काली इस झड़ी में वेदना की तड़ित कराहती/ मदद के लिए' दिखायी देती है। पूंजीवाद के विनाश से पूर्व की संक्रमणकालीन स्थिति में इस 'तड़ित्' की आवश्यकता होती है। व्यापक स्तर पर जनजागरण और ग़रीबों

का संगठन इसी 'तड़ित' द्वारा संभव है। उक्त कविता की अंतिम पंक्तियों में वाचक को अंधेरे के बीच 'तड़ित् उजाला' दिखायी देता है :

समय का कण कण/ गगन की कालिमा से
बूंद बूंद चू रहा/ तड़ित उजाला बन।

(वही, पृ. 286)

'डूबता चांद कब डूबेगा' कविता की अंतिम पंक्तियों में भी यही 'तड़ित्' है : 'मुस्कानों के आंदोलन में/ बोलता नहीं, पर डोल रही/ शब्दों की तीखी तड़ित्/ नाच उठती, केवल प्रकाश रेखा बन कर।' (वही, पृ. 311)

'मुझे नहीं मालूम' कविता में रूढ़ और पुराने सत्यों को 'नक्षत्र' और 'तारागण' के प्रतीकों द्वारा दर्शाया गया है। वाचक, जो कि मध्यवर्ग का व्यक्ति है, अपना वर्गापसरण करने और प्रगतिशील बनने में हिचकिचाता है। वह अपनी तुलना उन्हीं ज्योति पिंडों से करता है जो 'यंत्रबद्ध गतियों का ग्रहपथ' त्याग नहीं सकते। वाचक व्यंग्यात्मक लहजे में मध्यवर्गीय मिथ्या चेतना का खोखलापन उजागर करता है : 'मेरी नहीं कोई कहीं कोशिश/ न कोई निज-तड़ित-शक्ति वेदना।' (वही, पृ. 155) वाचक आत्मालोचन करते हुए अपने पर व्यंग्य करता है कि वह जड़ होते हुए भी 'देवदूत' है। उसके भीतर 'ऋणधन तड़ित् की चिनगियों का आत्मजात/ प्रकाश' है जो कि क्षणिक और महत्वहीन होता है। लेकिन वाचक 'कोशिश' करता है कि वह अपना आत्मप्रसार कर ले। कविता के अंत तक उसमें 'विकसित होते हैं मनोहर द्युति-रूप' और वह अहसास करने लगता है कि 'मैं कहीं नहीं हूं।' यह अहसास नये सत्यों को पाने की प्रक्रिया में होता है जिसके लिए 'सत्-चित्-वेदना' की 'तड़ित्' आवश्यक है। यह सत्-चित्-वेदना मिथ्याचेतना का 'ऐंटीथीसिस' है।

'मेरे लोग' कविता में वाचक को अपने देश के भोले भाले ग़रीब लोगों के 'गऊ चेहरे' तथा 'असंख्य स्त्री पुरुष बालक भटकते' दिखायी देते हैं। उसे 'भयानक ग्लानि' होती है। तब मध्यवर्गीय सफ़ेदपोश वाचक पर सत्-चित्-वेदना का कोई 'भव्य विश्वात्मक तड़ित् आघात' होता है। उसे अपने पर क्रोध होता है, 'भयानक डांट' से उसके भीतर विप्लव होता है। इस विप्लव को वाचक 'मेरे सहाचर मित्र' कविता में 'विप्लव की चल तड़िल्लता' कहता है। इसी कविता में 'सहचर सैनिक' वाचक को उसकी 'दिली तकलीफ़ों को बिजली' से मूर्च्छित होने पर जीवन देता है। इस सैनिक की तुलना 'आंधी बिजली पानी के कुछ देवता' से की गयी है। यह सैनिक उसका वर्गचेतस साथी है जो उसके प्रश्नों का 'उत्तर' भी है। वाचक जानता है कि उसके 'सहचर मित्र' को जब विश्वजन की 'सत्-चित्-वेदना' सतायी थी, उस समय 'नभ में त्रिकाल रेखाएं विद्युत् की चमकी' थीं। इनकी 'नीली चकाचौंध' देखकर कवि का व्यक्तित्वांतर हो गया, 'सहसा मैं बदल गया'। यह 'विद्युत्' वेदना की ही 'विद्युत्' थी। इसीलिए कविता की अंतिम पंक्तियों में 'माधुरी और करुणा में भीगी' सत्-चित्-वेदना वाचक और उसके सहचर मित्र (मार्क्स) को 'तड़िल्लताओं' में बदल देती है : 'ओ मेरे सहचर मित्र/ क्षितिज के मस्तक पर नाचती हुई/ दो तड़िल्लताओं में मैत्री रहती ही है।' (वही, पृ. 255)

'चकमक की चिनगारियां' कविता में 'समुंदर में कहीं डूबी हुई जो पुण्य-गंगा' है, वहीं 'मानव-पुण्य धारा' अर्थात प्रगतिशील परंपरा की धारा है। क्रांति के दौरान वाचक की संवेदना 'चपल रिमझिम' बनकर

मध्यवर्गीय लोगों से 'दमकते प्रश्न करती है' कि वे किसके पक्षधर हैं, शोषक के या शोषित के? उस समय ये प्रश्न 'घटाओं की गरज में/ बिजलियों की चमचमाहट में' पूछे जाते हैं। यह 'बिजलियों की चमचमाहट' उक्त दो तड़िल्लताओं की ही चमचमाहट है। वह सत्-चित्-वेदना की चमचमाहट है। 'जब प्रश्नचिह्न बौखला उठे' कविता में यही सत्-चित्-वेदना 'बहना बिजली' बन जाती है :

जन संघर्षो की राहों पर/ आंगन के नीमों ने मंजरियां बरसायीं
अंबर में चमक रही बहना बिजली ने भी/ थी ताक़त हिय में सरसायी।

(*रचनावली*-1, पृ. 357)

उक्त कविता की थीम ही 'सत्-चित्-वेदना' है, इसीलिए तो 'प्रश्नचिह्न' बौखला उठे' हैं। यह 'वेदना यथार्थो की' है जो वाचक के 'मस्तिष्क तंतुओं में प्रदीप्त' हो उठी है। इस वेदना ने वाचक को क्रांतिकारियों के प्रति प्रतिबद्ध बना दिया है क्योंकि 'वे नौजवान/ इतिहास बनाने वाला सिर करके ऊंचा/ भौंहों पर मेघों जैसा/ विद्युत भार/ विचारों का लेकर' संघर्षो की राहों पर घूम रहे हैं। इसी कविता में एक 'तुम' भी है। वह 'तुम' वाचक की प्रेमिका नहीं, 'सत्-चित्-वेदना' है। वह वेदना 'धरती के जी को अकुलाने वाली/ छवि मधुरा कविता की/ प्यारी प्यारी सी एक कहन' है। उसी के कारण वाचक के मन में 'अनुभवी ज्ञान संवेदन की दुर्दम पीड़ा झलमला उठी' है। वही 'तूफ़ानी मेघों के हिय में' 'विद्युत की दुर्दात व्यथा सी/ डोली' थी। वही 'आकस्मिक एक प्रकाश-बेल/ विद्युत् की नील विलोल-लता सी/ सहसा बेपर्द हुई' थी। यह सत्-चित्-वेदना की विद्युत् वाचक को संघर्ष की राहों में मिली है। करुणा भरे किसी चीत्कार ने इस विद्युत् को जगाया है और उसने वाचक के कठोर जड़ हृदय को परिणत कर दिया है। उस स्वर ने :

मेरे भीतर की चट्टानी ज़मीन/ अपनी विद्युत् से यों खोदी, इतनी रंध्रिल कर दी कि अरे!
उस अंधकारभूमि से अजब/ सौ लाल लाल जाज्वल्यमान/ मणिगण निकले।

(*रचनावली*-2, पृ. 457)

वाचक अपनी सत्-चित्-वेदना का वैज्ञानिक उपयोग करता है। तब वह महसूस करता है कि 'विज्ञान ज्ञान/ नित सक्रिय हैं/ सब विश्लेषण-संश्लेषण में/ मुझमें बिजली की घूम गयी थरथरी'। वह देख रहा है कि 'सब ओर लगाते हुए आग विद्युत क्षण हैं'।

'एक स्वप्न कथा' में वाचक कहता है कि 'मेरे ही अंतःस्थित संवेदन/ मुझ पर ही/ झूम बरस, गरज, कड़क उठते हैं।' ये संवेदन मध्यवर्गीय निष्क्रिय वाचक को परिणत होने को बाध्य करते हैं। वाचक महसूस करता है :

उनका वार/ बिल्कुल मुझी पर है,
बिजली का हर्फ़/ सिर्फ़ मुझ पर गिर
तहस नहस करता है/ बहुत बहस करता है

(*रचनावली*-2, पृ. 262)

यह 'बिजली का हर्फ़' सत्-चित्-वेदना का ही प्रतीक है। यही विद्युत प्रकाश 'अंतःकरण का आयतन' कविता में 'प्रदीपित द्वंद्व चेतस एक सत्-चित्-वेदना का फूल' बन जाता है जिसके कारण वाचक महसूस करने लगा है कि 'उसकी छांह/ अपनी बांह फैलाती/ व अपने प्रियतरों के ऊष्म श्वस् व्यक्तित्व/ की

दुर्दांत/ उन्मद बिजलियों में वह/ अनेकों बिजलियों से खेल जाती है।'(वही, पृ. 148) वही 'उनके विचारों की वेदना जीकर/ व्यथित अंगार बन जाती है।' जब वाचक वर्गापसरण या व्यक्तित्वांतर की प्रक्रिया में अपनी मध्यवर्गीय अशक्त प्रतिमा देखता है तो उसे उसमें सत्-चित्-वेदना की विद्युत नष्ट हुई दिखायी देती है :

वह जो लेटी है शक्तिहता/ विगता स्वर्णाभा विद्युत् की
वह कौन?/ हमारी आत्मा ही तो नहीं कहीं?

(वही, पृ. 382)

उस आत्मा में सत्-चित्-वेदना की स्वर्णाभा 'विगता' ही गयी है, इसीलिए उसका मध्यवर्गीय अस्तित्व निर्जीव सा हो गया है।

'चंबल की घाटी में' कविता में, पूंजीवादी 'दुष्ट व्यवस्था' 'डाकू' के प्रतीक द्वारा चित्रित हुई है। अपरिणत, अंधकारग्रस्त, जड़ मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी उस डाकू की कुरसी है, वह 'टीला' है। मार्क्सवाद की 'ताज़ी ताज़ी' हवा से वह 'टीला' कहता हैः 'ओ, नभयात्री !/ अगिनत प्रकाश-वर्षों की यात्राएं दो मुझे/ व्यक्तित्वाघात तुम्हारा/ ज्ञान का आघात/ तड़ित्-प्रहार सा प्राप्त हो/ ऐसे कि विद्युत् धाराएं झकझोर/ ज्ञान को वेदना-रूप में लहरायें।' (वही, पृ. 415) यहां 'विद्युत' के प्रतीकार्थ को कवि ने ख़ुद ही संकेत में बता दिया है। 'टीला' मुक्तिबोध की लगभग सभी कविताओं में मध्यवर्ग का प्रतीक है। वह 'टीला' चाहता है कि 'पत्थरी ढांचे से छुटकारा मिल जाये'(वही, पृ. 416)। किंतु यह तभी संभव है जब उसके ऊपर सत्-चित्-वेदना का 'तड़ित् प्रहार हो, उसकी 'विद्युत धाराएं उसे झकझोर' दें। वाचक उसे बताता है कि जब तक उसका अपना मध्यवर्गीय अस्तित्व है, 'शोषणपाप का परंपराक्रम' वक्षासीन रहेगा। उसके होने में उस 'टीले' का भी 'अंशदान है'। उसे चाहिए कि वह अपना तादात्म्य सर्वहारा के साथ कर ले क्योंकि 'कभी अकेले में मुक्ति न मिलती/ यदि वह है तो सब के ही साथ है।' (वही, पृ. 419)

इसीलिए वाचक की 'सलाह है□लुढ़को।' इसका अर्थ यह है कि मध्यवर्ग अपना वर्गापसरण करे, तभी वह मुक्ति-प्रयास में अपनी सही भूमिका निभा सकेगा। इसके लिए सत्-चित्-वेदना की 'बिजली के झटके' आवश्यक हैं।

'अंधेरे में' कविता में मध्यवर्गीय अपरिणत वाचक को प्रारंभ में 'वह रहस्यमय व्यक्ति' वर्गापसरित होने के लिए उसे 'इशारे से बताता है, समझाता रहता/ हृदय को देता है बिजली के झटके।'(वही, पृ. 324) जिन 'वृक्षों के अंधेरे में छिपी हुई किसी एक/ तिलिस्मी खोह' में वह 'रक्तालोक स्नात पुरुष' जो कि सर्वहारा या वर्गचेतस 'पूर्ण अवस्था' का प्रतीक है, दिखायी देता है, उन 'वृक्षों के शीश पर नाच नाच उठती हैं बिजलियां।'(वही, पृ.322) वाचक जब तिलक की पाषाणमूर्ति देखता है तो उसे 'मूर्ति के तन से' अंगार झरते प्रतीत होते हैं और 'आंखों में बिजली के फूल सुलगते' दिखायी देते हैं। ये बिजली के फूल सत्-चित्-वेदना के फूल हैं। इन फूलों की 'नीली बिजली की चिनगियां' वाचक की 'छाती पर, सिर पर, बांहों पर' गिरती हैं। यहां 'छाती'=हृदय (वेदना), 'सिर'=मस्तिष्क (चित्) और 'बांहें'=यथार्थ (सत्) की प्रतीक हैं। सत्-चित्-वेदना का प्रभाव बड़े ही कलात्मक ढंग से यहां रूपायित किया गया है। यह सत्-चित्-वेदना कोई वायवी क्रिया नहीं, बल्कि भौतिक क्रिया है।

फ़ैंटेसी में गांधी जी को पाकर वाचक 'अति दीन हो जाता' है, तभी 'बिजली का झटका/ कहता है□'भाग जा, हट जा'(वही, पृ. 340)। यह झटका भी विवेक, वेदना और सत्य का झटका है जिसके

कारण वाचक 'अति उद्विग्न' हो उठता है। उसकी 'देह में रेंग रही संवेदना' उसे बेचैन करती है। 'वेदना विस्तार करके इकट्ठा' वाचक का 'मन यह हटता है देह की हद से/ जाता है कहीं पार अलग जगत में'। इस वेदना से ही वह देह की हद से हटकर यानी निर्वैयक्तिक होकर वैज्ञानिक विश्वदृष्टि हासिल करता है। अपने इस परिर्वतन में वाचक का 'आत्म प्रसार' इतना अधिक हो जाता है कि सत्-चित्-वेदना के साथ अपने को एकीकृत कर लेता है :

> विचित्र क्षण है,/ सिर्फ़ है जादू,
> मात्र मैं बिजली/ यद्यपि खोह में खूंटें से बंधा हूं।
> (वही, पृ. 346)

उसका भीतरी परिवर्तन उसमें यह भावना भर देता है कि 'सभी जगह हम।' इसीलिए 'भीतर भीतर' 'बिजली के जीवित/ तारों के जाले' लेकर और 'भीषण शक्ति को धारण करके' वह 'जीवन लक्ष्यों के पथ पर चलता है। वह अपने साथी खोजने निकल पड़ता है :

> इतने में सहसा दूर क्षितिज पर/ दिखते हैं मुझको
> बिजली की नंगी लताओं से भर रहे/ सफ़ेद नीले मोतिया चंपई फूल गुलाबी
> (वही, पृ. 347)

ये बिजली की नंगी लताएं वही हैं जिनके बारे में 'मेरे सहचर मित्र' कविता के अंत में वाचक ने कहा था कि 'दो तड़िल्लताओं में मैत्री रहती ही है'। यहां भी यह मैत्री साथीपन में बदल गयी है। वे साथी 'फूल' जनसाधारण हैं जो 'अग्नि के फूलों' में बदल जाते हैं, क्रांतिकारी बन जाते हैं। लेकिन इस प्रक्रिया में उनमें सत्-चित्-वेदना की बिजली भरना आवश्यक हो जाता है। इसलिए वाचक कहता है कि 'ज़मीन पर पड़े हुए चमकीले पत्थर/ लगातार चुन कर/ बिजली के फूल बनाने की कोशिश/ करता हूं'(वही, पृ. 347)। वाचक जानता है कि उसके यत्न, उसकी कोशिश भी व्यर्थ नहीं है, बल्कि 'बिजली के फूलों की भांति ही/ यत्न हैं वे भी'। इसी यत्न को वाचक स्पष्ट रूप में उद्घोषित करता है :

> मुझको तो बेचैन बिजली की नीली/ ज्वलंत बांहों में बांहों को उलझा
> करनी है उतनी ही प्रदीप्त लीला
> (वही, पृ. 347-48)

जब वाचक अपने में 'बिजली' का अभाव महसूस करता है तभी सत्-चित्-वेदना के साथ 'ग़लती' भी जुड़ जाती है, वह 'तनाव' की स्थिति में होता है। 'मस्तक-कुंड में जलती/ सत्-चित्-वेदना-सचाई व ग़लती/ मस्तक शिराओं में तनाव दिन रात।'

आत्मसंघर्ष के बाद क्रांति की इच्छापूर्ति का स्वप्न देखकर वाचक अनुभव करता है कि 'कमरे में सुबह की धूप आ गयी है' और उसमें 'वेदना स्नेह की गहरी/ जाग गयी' है। उसे 'सब ओर विद्युत्तरंगीय हलचल' दिखायी देती है क्योंकि उसे स्वप्न में दीखने वाली क्रांति रूपी 'अज्ञात प्रणयिनी' के 'स्वप्न स्पर्श की, चुंबन की याद आ रही है।' जब वह भीड़ में अपने साथी सर्वहारावर्ग को सक्रिय तथा गतिमान देखता है जो कि 'जगत की गलियों में घूमता है प्रतिपल/ वह फटेहाल रूप', उसमें भी तड़ित्तरंगीय वही 'गतिमयता' आ जाती है। यह 'गतिमयता' सत्-चित्-वेदना के झटकों से मिलती है।

अब मुक्तिबोध के एक और निजी प्रतीक को लें, यह प्रतीक है□'चांद'। 'चांद' के प्रतीकत्व पर अपनी पुस्तक में मैंने यत्र तत्र सदंर्भानुसार प्रकाश डाला है। यहां हम व्यवस्थित रूप से इस प्रतीक को समझना चाहेंगे। हमारी परंपरा में 'चंद्र' सौंदर्य का प्रतीक रहा है। प्राचीन कवियों ने नखशिख वर्णन में नायिका के मुख को 'चंद्र' रूप में देखा या उससे भी अधिक सौंदर्यमय कहा है। विद्यापति ने नखशिख वर्णन में कभी कहा था : 'कनक लता अरविंदा/ दमना मांझ उगल जनि चंदा।' तुलसी भी मानते हैं कि 'सिय मुख समता पाव किमि चंद्र वापुरो रंक' या 'विधु वदनी सब भांति संवारी' आदि। सूर, बिहारी से लेकर आधुनिक युग तक 'चांद' की यही इमेज बनी रही है। भावबोध में परिवर्तन आने पर 'चांद' का प्रतीकार्थ बदला। वह मोहक सिर्फ़ इसलिए था क्योंकि 'सभ्यताभिरुचिवश' वह रिफ़्लेक्स के रूप में इसी तरह हमें दिया गया था। मुक्तिबोध काव्य में पहली बार 'चंद्र' क्षयग्रस्त हो गया।

अंग्रेज़ी साहित्य में भी 'चांद' के प्रति पुरानी भावना बदली। विलियम ब्लेक तक वह नारी सौंदर्य का प्रतीक रहा। बीसवीं शती में विलियम बटलर येट्स ने 'चांद' प्रतीक का सर्वाधिक प्रयोग किया है। अपनी निजी मिथकयोजना में येट्स ने चंद्रकलाओं का बहुत सहारा लिया है। उनके लिए पूर्णचंद्र 'वैयक्तिकता' और 'अस्तित्व की एकता' और 'अंतर्मुखता' व 'आध्यामिकता' का प्रतीक था। येट्स ने अपनी पुस्तक, *ए विज़न* में अपने निजी प्रतीकों की स्वयं व्याख्या कर दी है। अपने इलहामी महाचक्र पर चंद्रमा की अट्ठाईस कलाओं में उन्होंने मानव जीवन और सभ्यता, इतिहास के उद्भव, विकास और पतन को बांटा था। येट्स प्रजातंत्र और साम्यवाद के ख़िलाफ़ थे। वे सिर्फ़ आत्मिक प्रगति में विश्वास करते थे। उन्हें मानव के आध्यात्मिक ह्रास की चिंता थी और उसका हल वे एरिस्टोक्रसी की वापसी में देखते थे। आयरलैंड का अठारहवीं शती का वैभव और समृद्धि, एडमंड बर्क, बर्कले और गोल्डस्मिथ का सांस्कृतिक योगदान उन्हें भाव विभोर कर देता था। वे उभरते हुए मध्यवर्ग तथा उसके साथ उभरती जनवादी चेतना से दुखी थे। इसीलिए वे प्रतिक्रियावादी बुद्धिजीवी थे।(देखें, जॉन आर. हैरिसन की पुस्तक, *द रिएक्शनरीज़*)

यह संयोग की बात हो सकती है कि येट्स 'चांद' के निजी प्रतीक में मानव वैभव, 'यूनिटी ऑफ़ बीइंग' और 'वैयक्तिकता' व 'आध्यात्मिकता' देखते थे और सूर्य में निर्वैयक्तिता, भौतिकवाद व सारे आधुनिक समाज के दोष। वे प्रतीक रूप में सूर्य के आधिपत्य से घृणा और चंद्रमा से प्यार करते थे क्योंकि उनके लिए पूर्णचंद्र या पूर्ण वैयक्तिकता की दशा आदर्श थी। इसके विपरीत मुक्तिबोध के लिए 'चांद' पूंजीवादी व्यवस्था का निजी प्रतीक है। वे उसे प्यार नहीं करते, वे तो चाहते है कि 'डूबता चांद कब' डूबे। ह्रासोन्मुख पूंजीवाद और व्यक्तिगत स्वार्थपरता जितनी जल्दी धराशायी हों उतना ही अच्छा। मुक्तिबोध निर्वैयक्तिता और 'आत्मप्रसार' के हामी हैं; अपनी गुंजलक में फंसे रहने के नहीं। वे आभिजात्य या सामंतवाद के नहीं, निम्नवर्गों के साथी हैं, इसीलिए चांदी से जुड़े 'चांद' से उनका प्रेम संबंध नहीं, वह तो येट्स जैसे प्रतिक्रियावादी कवि का ही हो सकता था। कथ्य में विरोध देखने के लिए येट्स की कविता 'द फेज़िज़ ऑफ़ द मून' और मुक्तिबोध की 'चांद का मुंह टेढ़ा है' और 'डूबता चांद कब डूबेगा' पढ़ी जा सकती हैं। दोनों के निजी प्रतीकों में विचारधारात्मक कल्पना किस प्रकार काम कर रही है, इसे आसानी से समझा जा सकता है। मुक्तिबोध व्यक्तिवाद के ख़िलाफ़ अपने गद्यसाहित्य में भी लिख चुके हैं। पूंजीवादी व्यवस्था के ख़िलाफ़ उनका सारा साहित्य ही एक हुंकार है जबकि येट्स के लिए व्यक्तिवाद ही आदर्श है; वे अपनी कविताओं में आभिजात्य की वापसी का स्वप्न देखते हैं तथा

गतिमान ऐतिहासिक विवेक में विश्वास न कर चक्राकार इतिहास गति में विश्वास रखते हैं जिसे उन्होंने भारत के मिथकों से लिया था। मुक्तिबोध जनवादी कवि हैं, येट्स प्रतिक्रियावादी। दोनों की विचारधारा में विरोध होने के कारण 'चांद' के प्रतीक के साथ जोड़े गये मूल्यों के प्रति दृष्टिकोण में बहुत बड़ा अंतर है। मुक्तिबोध की आकांक्षा है कि चांद जल्दी डूबे, येट्स का पात्र राबर्टीज़ कहता है कि 'चांद डूबने के बाद/ आत्मा अपने अकेलेपन की याद कर कर/ अनेक पालनों में भयाक्रांत होती है; सब कुछ बदल जाता है/ वह (आत्मा) जगत की नौकरानी होगी।' (And after that the crumbling of the moon./The soul remembering its loneliness/Shudders in many cradles; all is changed,/It would be the world's servant...)। यहां येट्स सूर्य के उदय(यानी निर्वैयक्तिकता के उदय) और चंद्र के अस्त की बात पर दुखी हो रहे हैं। मुक्तिबोध का वाचक क्रांति का स्वप्न देखने के बाद सुबह होने पर 'सुनहला रवि छोर' देखते हुए कहता है, 'कमरे में सुबह की धूप आ गयी है/ गैलरी में फैला है सुनहला रवि छोर।' क्रांति को उन्होंने 'सूर्य-कन्या' कहा है।

'ब्रह्मराक्षस' कविता में मुक्तिबोध ने 'सूर्य' और 'चंद्र' के प्रतीकों का एक साथ, एक दूसरे के ऐंटीथीसिस के रूप में, प्रयोग किया। ब्रह्मराक्षस जो कि बुद्धिजीवी विचारक का प्रतीक है, 'सूर्य' और 'चंद्र' अर्थात् निर्वैयक्तिकता या समाजीकरण और वैयक्तिकता या आत्मपरकता के द्वंद्व में फंसा है। मुक्तिबोध ने इसे बड़े कलात्मक ढंग से इस प्रकार वर्णित किया है :

> रवि निकलता/ लाल चिंता की रुधिर सरिता
> प्रवाहित कर दीवारों पर/ उदित होता चंद्र
> व्रण पर बांध देता/ श्वेत धौली पट्टियां
> उद्विग्न भालों पर

(*रचनावली*-2, पृ. 318)

यहां 'सूर्य' समाजीकरण के विचारपुंज का प्रतीक है जिससे क्रांति का चिंतन 'रुधिर सरिता' बनकर सर्वत्र प्रवाहित हो उठता है। 'चंद्र' रूपी पूंजीवादी व्यवस्था उस समाजवादी विचारक को तनावहीन करने के लिए उसे शांति पुजारी सफ़ेदपोश मध्यवर्गीय व्यक्ति बनाने की कोशिश करती है। 'श्वेत धौली पट्टियां' बांधने का यही तात्पर्य है।

'चांद का मुंह टेढ़ा है' कविता में तो स्पष्ट तौर पर 'चांद' का तात्पर्य पूंजीवाद है। बिंबविधान से ही यह ध्वनि निकलती है : 'कारख़ाना -अहाते उस पार/ कलमुंही चिमनियों के मीनार/ उद्गार-चिन्हाकार,/ मीनारों के बीचो-बीच चांद का है टेढ़ा मुंह।'(वही, पृ. 273) पूंजीवादी व्यवस्था का 'ताम-झाम'□उसका प्रभाव और प्रसार□'चांदनी' के प्रतीक द्वारा संकेतित है। वाचक इस चांदनी के 'भुसभुसे उजाले का फुसफुसाता षड्यंत्र' भांप लेता है। क्रांतिकारी जनता का प्रतीक, 'ग़रीबों के ठांव में/ चौराहे पर खड़ा हुआ/ भैरों का सिंदूरी महाकार/ देखता है चांद की गुप्तचर नीति'।(वही, पृ. 275) क्रांतिकारी विचारों वाले वाचक को आश्चर्य है कि 'टेढ़े मुंह चांद की ऐयारी रोशनी भी खूब है, लिपे हुए कमरे में/ जेल के कपड़े सी फैली है चांदनी' और इस व्यवस्था की 'चांदनी' अपने मालिक पूंजीवाद को शोषण और दमन की सलाह देती है। इसीलिए वह वाचक को 'जेल सुझाती हुई तिलिस्मी रोशनी' लगती है। वाचक इस 'चांदनी' के सारे करतबों का संकेतों में चित्रण करता है। वह इस 'चांदनी' का विनाश देखना चाहता है। वह व्याकुल है, 'सुबह होगी कब और/ मुश्किल होगी दूर कब।'(वही, पृ. 286)

'डूबता चांद कब डूबेगा' में भी चांद पूंजीवाद का स्पष्ट प्रतीक है। वाचक को क्रांतिकारी विचारों या नये सत्यों का साक्षात्कार होता है। यह नया सत्य उसे 'बीमार समाजों' के इतिहास का द्वंद्वात्मक विश्लेषण करने पर मिलता है। नये सत्य को कविता के वाचक ने 'सद्योजात एक बालक सुंदर' के रूप में पाया है। वह जानता है कि इस सत्य का गला घोंटने के लिए प्रतिक्रियावादी शक्तियां पूरा ज़ोर लगाती हैं। इसलिए उसे बचाने की चिंता है, 'वह चांद गगन में देखो तो/ उसकी आंखों से बचा बचा गुपचुप चलकर/ यही आत्मज बालक सत्य/ यहीं यदि वह त्यागे/ उस पार उसे पहुंचाये यदि/ अनुभव शिशु की रक्षा होगी।' (वही, पृ. 305) स्पष्ट है कि चांद पूंजीवादी व्यवस्था का प्रतीक है। 'उस पार' सर्वहारा वर्ग का प्रतीक है जहां नवसत्य की रक्षा होगी। वाचक को 'गंजी साफ़ सफ़ेद खोपड़ी वाला चांद' 'कुतर्की' और 'सिर फिरे किसी ज्यामितिशाली-सा' लगता है, क्योंकि वह अंतर्विरोधपूर्ण प्रतिक्रियावाद की लाइन पर अड़ा रहता है, तर्क का निषेध करके बल-प्रयोग द्वारा शासन करता है। इसीलिए वाचक यह मनाता है कि 'डूबता चांद कब डूबेगा।'

'मुझे याद आते हैं' कविता में वाचक अपने 'न-कह-सके-जाने-वाले अनुभवों के ढेर' के साथ ही पूंजीवादी व्यक्ति की 'क्षुद्रतम सफलता' का भी उल्लेख करता है। वाचक और चांद उस कविता में परस्पर विरोधी हैं। पूंजीवादी चांद और उसकी 'चांदनी' के प्रति वाचक अपनी घृणा इस प्रकार व्यक्त करता है:

दूसरी ओर/ क्षुद्रतम सफलता की आड़ से
(नहीं है जो) निज की सुयोग्यता का लाड़ करता हुआ
मानी हुई चमक से चमक कर/ चांद का अधूरा मुंह
व्यंग्य मुसकराता है/ फैलाता अपार वह व्यंग्य की विषैली चांदनी

(*रचनावली*-1, पृ. 238)

वाचक के 'अनुभवों के ढेर' की ज्ञानराशि के सामने पूंजीवादी व्यक्ति की तथाकथित सुयोग्यता कुछ भी नहीं है, किंतु पूंजी के घमंड के कारण वह ग़रीब वाचक पर 'व्यंग्य मुसकराता है।' उक्त पंक्तियों में आयरनी का उत्कृष्टतम नमूना दिया गया है। वाचक कहना चाहता है कि यथार्थ और अनुभव का ऐसा अनादर इसी व्यवस्था में संभव है। आदमी अनुभव और ज्ञान से नहीं, अमीरी या ग़रीबी के मापदंड से नापा जाता है। 'सर्वे गुणाः कांचनमाश्रयंति'। इसीलिए वाचक को अपनी 'सभ्यता के चेहरे पर' 'बड़े बड़े चेचक के दाग़' दीखते हैं। वह स्पष्ट कहता है : 'शोषण की सभ्यता के नियमों के अनुसार/ बनी हुई संस्कृति के तिलिस्मी/ सियाह चक्रव्यूहों में फंसे हुए प्राण सब मुझे याद आते हैं।'

'मेरे सहचर मित्र' कविता में भी 'चंद्र' प्रतीक का उल्लेख हुआ है। वाचक 'विज़न' में मार्क्स को देखता है और उन्हें अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करता है। वह जानता है कि मार्क्सवाद ने उसे ऊंचा उठाया है :

अपने से दुगना बड़ा किया/ जिससे पैरों की उंगली पर
तनकर ऊंची गरदन कर दोनों हाथों से
मैं स्याह चंद्र का फ़्यूज़ बल्ब/ जल्दी निकाल
पावन-प्रकाश का प्राण बल्ब/ वह लगा सकूं

जो बल्ब तुम्हीं ने श्रमपूर्वक तैयार किया
विक्षुब्ध ज़िंदगी की अपनी/ वैज्ञानिक प्रयोगशाला में।

(*रचनावली*-2, पृ. 249)

स्पष्ट है कि 'स्याह चंद्र' यहां भी ह्रासशील पूंजीवाद का प्रतीक है। वाचक मार्क्स द्वारा अपनी वैज्ञानिक प्रयोगशाला में तैयार की गयी क्रांतिकारी विचारधारा के प्रकाश से समाजवादी व्यवस्था लाना चाहता है।

'एक स्वप्न कथा' में भी 'चांद' का प्रतीक आया है। वहां फ़ैंटेसी में वाचक अंतरराष्ट्रीय वित्तीय पूंजी के काले 'समुंदर के काले जल' में विराट् चित्रों का 'विद्रोही समीक्षण-सर्वेक्षण करता है'। वाचक की 'अपनी दृष्टि रेखाएं' ही वैज्ञानिक यथार्थवाद का 'भयानक देव' बन जाती हैं; पूंजीवादी वित्तीय पूंजी के 'सागर का पानी, सिर्फ़ उसके घुटने तक है'। उसकी विशाल शक्ति के आगे 'चांद कंदील सा/ मद्धिम प्रकाश रहस्य' लिये हुए दीखता है। यहां 'चांद' पूंजीवाद का ही प्रतीक क्यों है? क्योंकि चांद को देखकर शोषणपरक वित्तीय पूंजी का काला सागर ऊपर उठता है। वाचक संकेत देता हे कि 'इस काले सागर का/ सुदूर स्थित पश्चिम किनारे से/ ज़रूर कुछ नाता है/ इसीलिए, हमारे पास सुख नहीं आता है।'(*रचनावली*-2, पृ. 269) यहां भारत के पूंजीवाद का पाश्चात्य साम्राज्यवाद की वित्तीय पूंजी से जुड़ा नाता स्पष्ट कर दिया गया है। यह यथार्थ उनके अख़बारी लेखन में भी कई बार आंकड़ों के साथ उल्लिखित हुआ है। यह कविता आज भी उतनी ही प्रासंगिक है जितनी तब थी। वह पूंजी अब विश्वव्यापी है।

मुक्तिबोध के काव्य में 'चांद' का प्रतीक सर्वाधिक प्रयोग में आया है। पूंजीवादी सभ्यता में वह 'सफलता' का भी प्रतीक है। इसीलिए एक कविता में वे कहते हैं कि 'मुझको डर लगता है/ कहीं मैं भी तो सफलता के चंद्र की छाया में/ घुग्घू या सियार या भूत न कहीं बन जाऊं'। कुछ कविताओं में 'चांद' स्थितिपरक प्रतीक भी बन गया है लेकिन ऐसे स्थल नगण्य हैं। उदाहरण के लिए, 'चकमक की चिनगारियां' कविता में 'चांद' का प्रयोग भिन्न अर्थों में हुआ है।

मुक्तिबोध का काव्य वीरान टावर, उनके गुंबद, गुहा, बावड़ी, कुआं, खंडहर आदि बिंबों से भरा हुआ है। माडर्न पेंटिंग्स की तरह हैं उनकी कविताएं। वे सब कुछ न कुछ प्रतीकात्मक अर्थ छिपाये हुए हैं। ऐसे ही निजी प्रतीकों में एक प्रतीक है□'टीला'। 'भूल-ग़लती' कविता में जो व्यक्ति 'अजीब कराह' की तरह 'भूल-ग़लती' के चंगुल से निकल कर भागा है, वह अपना लश्कर 'मुहैय्या' करने के लिए 'बुर्ज' के उस तरफ़ जा पहुंचा है तथा वह 'अंधेरी घाटियों के गोल टीलों, घने पेड़ों में/ कहीं पर खो गया' है। ये अंधेरी घाटियों के गोल टीले क्या हैं? अज्ञान-अंधकार की घाटी में रहने वाले मध्यवर्ग के लोग। मध्यवर्ग, वर्गचेतना के अभाव में, जड़त्व का शिकार बना रहता है। इसीलिए वह अंधेरे में है। उसकी कोशिश होती है कि वह ऊपर उठकर उच्च वर्ग जैसा बन जाये, लेकिन उसकी यह इच्छा फलीभूत नहीं होती। इतिहास की धारा में पूंजीपति वर्ग उसे तोड़ने लगता है। अपनी मिथ्या चेतना में मध्यवर्ग निम्नवर्ग से जुड़ना नहीं चाहता, अतएव वह 'दो कठिन पाटों बीच' पिसता रहता है। उसे मुक्ति की चाह तो होती है किंतु वह अपना वर्गापसरण ('व्यक्तित्वांतर') आसानी से नहीं करता है। वह नहीं जानता कि उसकी मुक्ति जन की मुक्ति के साथ है। यह उसकी भूल-ग़लती (दोहरी ग़लती) है। इससे मुक्त होकर वह जब 'लश्कर' का हिस्सा बन जाता है, तो उसका टीलापन समाप्त हो जाता है।

'एक भूतपूर्व विद्रोही का आत्मकथन' कविता में सामंतवादी महल के ढह जाने पर टीले बन जाते

हैं। स्पष्ट है कि मध्यवर्ग सामंतवादी व्यवस्था के ढह जाने पर बनता है। यह मध्यवर्ग भी क्रांतिकारियों की छाती पर भार बनकर जीता है। इसीलिए विद्रोही कहता है : 'भयंकर है/ छाती पर वज़न टीलों का रखे हुए/ ऊपर के जड़ीभूत दबाव से दबा हुआ' (*रचनावली*-2, पृ. 134) और उक्त कथन को दुहराता भी है : 'इतने भीम जड़ीभूत/ टीलों के नीचे हम दबे हैं' (*रचनावली*-2, पृ. 138)। भूतपूर्व विद्रोही चाहता है कि ये ढेर भी साफ़ होने चाहिए, तभी बच्चों के लिए खेलकूद के मैदान बन सकेंगे। इस कविता के माध्यम से कवि ने द्वंद्वात्मक तथा ऐतिहासिक भौतिकवाद की प्रक्रिया को कलात्मक ढंग से चित्रित किया है। सामंतवाद का महल ढहकर पूंजीवाद को जन्म देता है और पूंजीवाद के ढेर साफ़ हो जाने पर समाजवादी समाज की उत्पत्ति होती है। यह ज्ञान नये सत्य के रूप में दीप्त तब होता है जब मध्यवर्गीय व्यक्ति निम्न वर्ग के प्रति उपेक्षा और बेरुख़ी ख़त्म करके अपना वर्गापसरण करता है। इस ज्ञान के रत्न 'नक्षत्र खंड' कविता में मिलते हैं। ये रत्न टीले को खोदने से मिलते हैं, जो 'अपरिचय', 'बेरुख़ी', 'सतही जानकारी' की जड़ता का शिकार है :

> मैदानी हवाओं में/ चमकती चिलमिलाती दूर
> वह भूरी पहाड़ी, या उपेक्षित तथ्य का टीला
>
> (वही, पृ. 31)

वाचक इस मध्यवर्गीय टीले को खोदता है, वह चाहता है कि यह टीला 'शिलाओं के पहाड़ी कवच पहने' न बना रहे, बल्कि वह वर्गापसरण करके 'अनूठा भव्य अपराजेय टीला हो/ कि जिससे वक्ष/ हो सिद्धांत सा मज़बूत/ भीतर भाव गीला हो'। (वही, पृ. 32) इसीलिए वाचक कविता के अंत में कहता है :

> अतः हमने अपरिचय, बेरुख़ेपन/ औ' उपेक्षा की
> खड़ी भूरी पहाड़ी खोद डाली और/ उसमें से निकाले जगमगाते रत्न
>
> (वही, पृ. 34)

'एक स्वप्नकथा' के खंड-7 में वाचक अंतरराष्ट्रीय वित्तीय पूंजी के काले सागर के 'नीचे ढंका हुआ शहर' देखता है। उसी सागर में उसे 'विचित्र दृश्य' दिखायी देते हैं : 'फुसफुसे पहाड़ों सी पुरुषों की आकृतियां/ भुसभुसे टीलों की नारी प्रकृतियां/ ऊंचा उठाये सिर गरबीली चाल से/ सरकती जाती हैं'। (वही, पृ. 266)

स्पष्ट है कि वे पुरुष और नारियां मध्यवर्ग के लोग हैं जो आत्ममुग्ध दशा में शोषण सागर में विचरण कर रहे हैं।

'इस चौड़े ऊंचे टीले पर' कविता में भी टीला मध्यवर्ग का प्रतीक है। यह टीला 'भूरे केसरिया सूखे घास के रोम-आवरण ढंके' रूप में दिखाया गया है। अर्थ यह है कि वह अपनी शोषितावस्था का प्रकटीकरण नहीं करता है। वाचक अपना 'सनातन प्रश्न' सुलझा नहीं पाता कि 'किस इच्छा मशीन से धक्का खाकर मैंने/ इस टीले पर ख़ुद को पाया।' इसी 'टीले पर' उसकी 'स्याह ज़िंदगी' की जंग खायी अध-टूटी मोटर' पड़ी है। फिर भी वाचक इस टीले पर आ पहुंचा है। यहां आकर वह जीवन के 'केंद्र-सत्य' रूपी 'लाल-भवन' पर थपथपी लगाता है और उस वैज्ञानिक विचारधारा की आकृति का साक्षात्कार करता है जिसके 'सावधान हाथों' द्वारा उसका वर्गापसरण होता है। उसे 'मुंडेर से' 'अतल पाताल अंधेरे में फेंका' जाता है, लेकिन वह 'वापस मुंडेर पर' बैठ जाता है; क्योंकि उसे मध्यवर्गीय अस्तित्व की चिंता है। इसीलिए दे कार्त (Des Carte) का वाक्य 'कोजिटो इर्गो सम' अंग्रेज़ी में अनूदित होकर उसके मुंह से

निकल जाता है : 'आइ एग्ज़िस्ट/ साबित सही सलामत'। वाचक का व्यक्तित्वांतर करने वाली आकृति उससे पूछ बैठती है : 'कौन तुम?' वाचक नहीं जानता कि वह कौन है : 'क्या हूं क्यों हूं कैसे हूं यह सब बताइए!' (वही, पृ. 376) वह आकृति मध्यवर्गीय वाचक को बताती है :

मत बनो दार्शनिक बनावटी
तुम क्या हो, कैसे हो, क्यों हो
इसका उत्तर/ टीन के कनस्तर ही देंगे

(वही, पृ. 379)

यहां मुक्तिबोध मध्यवर्गीय अस्तित्ववादियों के अस्तित्व के खोखलेपन को उजागर करते हैं। वाचक का वर्गापसरण कराने के लिए फिर प्रयास किया जाता है। उसके अंतर्मन को वैज्ञानिक चिंतन के 'घनघोर मशीनी चक्कों के बीच में' पीसा जाता है और फिर उसके लुढ़कने(वर्गापसरण) की प्रक्रिया गति प्राप्त करती है : 'पर्वत उतार पर तेज़ लुढ़कता हुआ अरे/ मैं गिरा किसी गहरे गड्ढे में अंधियारे'।(वही, पृ. 380) लेकिन 'अंधियारे' के कारण वाचक में फिर यह इच्छा जाग्रत होती है कि 'मुझको अब रहना है।' बाद में वह अकेला न होकर उसी आकृति के साथ होता है। उसे अपनी 'मृत आकृति पीली जड़ीभूत' आत्मा दिखायी देती है जो 'शक्तिहता' हो चुकी है। वाचक द्वंद्व की स्थिति में 'नीचे ऊपर होता व टूटता-जुड़ता' है। कविता के अंत तक वह महसूस करता है कि 'अब काट छांट की बाट हर घड़ी है।'

'चंबल की घाटी में' कविता में टीलों का प्रतीक बहुत ही स्पष्ट ढंग से प्रयुक्त हुआ है। वाचक यहां मध्यवर्गीय 'टीलों के बीच/ जाने किस फ़िक्र में घूम रहा है।' वह कहता है : 'लगातार चला आया इतिहास/ मेरे सिर चढ़कर/ घुमाता है मुझे आज/ टीलों के मुल्क में आगे बढ़कर'(वही, पृ. 402)। टीलों के प्रतीकात्मक अर्थ को मुक्तिबोध अगले बंध में संकेतित कर देते हैं :

लगता है मेरे इस पठार/ पर ये जो गोल/ टीले व पत्थरी उभार
उनमें विचित्र/ कटी पिटी निजत्व रेखाएं/ व्यक्तित्व रेखाएं
ज़िंदा हैं सच,/ जीवित अभी तक

(वही, पृ. 402-3)

स्पष्ट है कि 'निजत्व रेखाएं', 'व्यक्तित्व रेखाएं' आत्मवादी मध्यवर्ग की विशेषताएं हैं। चंबल की घाटी हमारा समाज है जिसमें विषमता और शोषण का आधिक्य है, जिसमें 'पहाड़ों के बियावान/ अजीब उठान और धंसान-निचाइयां/ पठार व दर्रे/ छोटी छोटी दूनें/ कंटीले कगार और/ सूखे हुए झरनों की/ बहुत बहुत तंग/ और गहरी हैं पथरीली गलियां/ गोल गोल टीले व खंडहर गढ़ियां' हैं। इन्हीं टीलों में से एक अपने को व्याख्यायित कर उठता है : 'प्रस्तरीभूत मैं गतियों का हिम हूं/ बीच में ही टूट गया कोई पराक्रम हूं/ चट्टानी टीलों की जमी हुई तह से।' (वही, पृ. 407) वह टीला या 'शिलापुरुष' जानता है कि 'अज्ञात हाथ ही घुमाता है उसको/ किसी मशीन का पुरज़ा है वह भी'। ज़ाहिर है कि मध्यवर्ग शोषक वर्ग की मशीन का पुर्ज़ा है। वह भी शोषण-चक्र में पिसता है, इसलिए अपनी मुक्ति का आकांक्षी भी है। वाचक 'उस वाचाल टीले के आसपास/ उगी हुई ऊंची-ऊंची गीली-गीली/ घास में छुपा हुआ' आत्मसंघर्ष महसूस कर लेता है। वह उसमें 'कुछ तेजस्क्रिय/ सत्यों के अणु' देखता है। वह 'टीला/ अंतर-विवरों के केंद्रों में भीषण/ भभक कर/ अग्निमान' हो उठता है। यह मध्यवर्ग की वर्गचेतना की प्रारंभिक दशा का प्रतीक

है। लेकिन मध्यवर्ग के इक्के-दुक्के लोग ही तो इस चेतना को प्राप्त कर पाते हैं। इसीलिए संगठन के अभाव में 'ऐसी/ समस्त अग्नियां, अकेले में जलती हुई/ करती हैं अपनी ही/ ऐसी की तैसी'। (वही, पृ. 410)

वाचक एक और घटना देखता है कि 'कोई' किसी 'टीले के दुखभरे/ कमज़ोर सीने पर सहसा/ पहाड़ के बोझे सा' आ बैठता है। यह 'कोई' 'डाकू है डाकू'। स्पष्ट है कि यह डाकू शोषक इज़ारेदार पूंजीवाद है। यह सुनते ही, टीले की छाती में गड्ढा सा पड़ जाता है। 'एकाएक टीले के सामने/ उठ खड़े होते हैं सवालों के बड़े ढूह' और 'टीले के सीने में, भभक कर, अड़ता है/ ज़िद भरा कोई मज़मून'। मध्यवर्ग आत्मसंघर्ष से पीड़ित होता है। परिणाम यह होता है कि मध्यवर्गीय 'टीले के वक्ष में सब कुछ ध्वस्त' हो जाता है। टूटते मध्यवर्ग के भीतर जो सत्य के अणुरेणु उत्पन्न हुए हैं, वे उसे प्रताड़ित करते हैं :

'ओ मेरे पाषाण,/ ओ मेरे टीले
आख़िर तू डाकू की कुरसी ही क्यों हुआ?'

(वही, पृ. 414)

उनमें 'बहस है/ झगड़ा है।' इसी बीच एक हवा 'टीले के कपोलों को चूमती है रह रह/ सहलाती उर।' यह ताज़ी हवा प्रगतिशील चिंतन की हवा है : 'टीले ने, स्वप्न से जाग/ कहा हवा से,/ ओ, नभयात्री,/ ऐसी गतिमय संगतियों की पीड़ाएं दीजिए/ परंतु पहले पत्थरी ढांचे से छुटकारा मिल जाये।' (वही, पृ. 414-15) मध्यवर्गीय व्यक्ति को वर्गापसरण के लिए प्रगतिशील चिंतन का प्रकाश ज़रूरी है। 'पवन की लकीरें' इस वर्ग के चरित्र के प्रति आश्वस्त नहीं हैं। वे सोचती हैं, 'समझाने पर भी क्या मानेगा टीला?' लेकिन फिर भी वे मुक्ति का रास्ता उसे बताती हैं। हवा ने बताया कि मध्यवर्ग की ही 'फैलमुटाई सूरत' शोषक दस्यु बनकर मध्यवर्ग की छाती पर बैठी है। दस्यु की वह मूर्ति बूर्जुआ 'दुष्ट व्यवस्था' है जिसका छोटा रूप निम्न मध्यवर्ग (पैटी बूर्जुआ) है। 'छाती पर चढ़ी हुई स्याह पहाड़ी/ मात्र बृहत्कृत बिंब है तुम्हारे ही निज का'।(वही, पृ. 419) हवा उस टीले को बताती है कि 'दस्यु पराक्रम/ शोषण पाप का परंपराक्रम/ वक्षासीन है'। उसके यथास्थिति में बने रहने में मध्यवर्ग का 'गहन अंशदान' है। वैज्ञानिक विचारधारा की 'हवा' कहती है :

इसीलिए जब तक उसकी स्थिति है/ मुक्ति न तुमको,
याद रखो
कभी अकेले में मुक्ति न मिलती
यदि वह है तो सबके ही साथ है

(वही, पृ. 419)

वह विचारधारा मध्यवर्गीय 'टीले' को सलाह देती है : 'लुढ़को/ लुढ़कते चले जाओ/ पहाड़ी उतार पर (वह पिस जायेगा)।' मध्यवर्ग को 'लुढ़कने' या वर्गापसरण करने की यह सलाह वाजिब है। ऐसा करने से उसका 'अवश्य उपयोग होगा।' उसे यह बात ज्ञात हो जानी चाहिए कि शोषकों के 'आज जो गिरोह हैं/ पीड़ित जनों को/ जनसाधारण को उनकी ही टोह है।' इसलिए मध्यवर्ग को जनसाधारण के साथ मिल जाना चाहिए, तभी उसकी मुक्ति हो सकेगी।

मुक्तिबोध के कुछ अन्य निजी प्रतीक हैं जिन्हें कविताओं की सही संदर्भगत स्थिति में व्याख्यायित

किया जा सकता है। उदाहरण के लिए एक प्रतीक है□'घुग्घू' या 'उल्लू'। यह निजी प्रतीक होने के साथ ही अपनी पारंपरिक विशेषता लिये हुए है। उल्लू पक्षी अंधकारप्रिय होता है। वह प्रकाश से नफ़रत करता है। भारतीय मिथक के अनुसार वह लक्ष्मी का वाहन भी होता है। इस अर्थ में उल्लू पूंजीवादी व्यवस्था के वाहकों का प्रतीक है। वह राज्यतंत्र है। रात्रि के अंधकार में वह अपना कार्य करता है तथा यथास्थिति का हिमायती बना रहता है। इसी रूप में उल्लू ब्यूरोक्रेसी का प्रतीक है। 'चांद का मुंह टेढ़ा है' कविता में 'गांधी के पुतले पर बैठे हुए' घुग्घू और 'तिलक के पुतले पर बैठे हुए घुग्घू' की बातचीत प्रतीकात्मक है। गांधीवादी नौकरशाहों ने अपना करिश्मा दिखाया : 'मैंने भी सिद्धि की/ देखो मूठ मार दी/ मनुष्यों पर इस तरह।'(वही, पृ. 278)

'डूबता चांद कब डूबेगा' कविता में शोषण-सभ्यता के सारे दुर्गुणों का प्रतीकात्मक चित्रण हुआ है। रागद्वेष, ईर्ष्या, भय, मत्सर, कुत्सा, स्वार्थ, अहंकार आदि इस व्यवस्था की देन हैं। व्यक्तिवादी मानव का मानवत्व खंडित हो गया है, वह हिंस्र जंतु है : 'अब अहंकार उद्विग्न हुआ/ मानव के सब कपड़े उतार/ वह रीछ एकदम नग्न हुआ।' (वही, पृ. 303) शोषण की पराकाष्ठा में पूंजीवादी तंत्र तथा नौकरशाही अत्यंत सतर्क हो जाती है। मुक्तिबोध ने उसे 'घुग्घूदल' द्वारा प्रतीकित किया है : 'ठूंठों पर बैठे घुग्घूदल/ के नेत्रचक्र घूमने लगे' (वही)। यही घुग्घू 'त्यागे मंदिर के अधटूटे गुंबद पर स्थित/ वीरान प्रदेशों का घुग्घू' है। यह मंदिर हमारा देश है जिसे साम्राज्यवादी अंग्रेज़ त्याग गये, मगर उस पर ज्यों के त्यों ब्यूरोक्रेट्रस स्थित रहे; यद्यपि उनके सूत्रधार बदल गये। वे चुपचाप देखते रहते हैं कि 'कौन वह आता है, या आती है।' इस घुग्घू को दिखायी देता है कि नवसत्य रूपी बालक 'झरने के पथरीले तट पर सो चुका' है। वाचक नवसत्य की रक्षा के लिए उसका वरण करता है। जनवादी विचारधारा का यह सत्य वाचक को प्रिय है, उसे ख़तरों से बचाने के लिए प्रयत्नशील है।

मुक्तिबोध की एक अन्य कविता 'बारह बजे रात के' में भी 'घुग्घुओं का जमघट' चित्रित हुआ है: 'अंधेरे के गुंबजों-से वृक्षों पर/ बैठे हुए, यूरोपियन पूंजी की आंखों से/ दुनिया को निहार कर/ घुग्घुओं का जमघट/ कहता है एक बात।'(वही, पृ. 25) स्पष्ट है कि यह जमघट ब्यूरोक्रेट्स का है। उनकी दृष्टि 'यूरोपीय पूंजी' से जुड़ी हुई है। दुनिया में होने वाली उथल-पुथल के विषय में इन घुग्घुओं को कुछ भी मालूम नहीं है : 'घुग्घू न दे सके इसका जवाब कुछ', क्योंकि उनके पास वैज्ञानिक विश्वदृष्टि नहीं है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मुक्तिबोध के निजी प्रतीक कितने सधे और संवरे हुए हैं। वे इस कला में हिंदी साहित्य में बेजोड़ हैं। अपने कथ्य और शिल्प के प्रति इतनी जागरूकता उसी कवि में मिलती है जिसमें 'भावबोध का बिखराव' न हो। मुक्तिबोध ने अपनी संवेदना, शिल्प, भाव और विचार को वैज्ञानिक विश्वदृष्टि से एकीकृत कर लिया था, इसलिए वे अपने समय के चौधरी साहित्यकारों के गढ़ और मठ तोड़कर ऊपर उठते गये। विदुषी पोलिश कवयित्री आग्न्येश्का सोनी का मत उद्धृत करूं तो 'मुक्तिबोध सहज ही, हिंदी के आधुनिक युग का सबसे शक्तिशाली कवि है।'

सजल-उर शिष्य का संघर्ष-पथ

दिनेश कुमार शुक्ल

...चमकता है अंधेरे में
प्रदीप्त द्वंद्व-चेतस् एक
सत्-चित् वेदना का फूल
... ...
प्रतापी सूर्य हैं वे सब
पर यह क्या
अंधेरे, स्याह धब्बे सूर्य के भीतर बहुत विकराल
धब्बे के अंधेरे विवर तल, ...
('अंतःकरण का आयतन')
वह भीतर से देदीप्यमान जो रहती थी
भूगर्भ-गुहा
अब अंधियारी काली व स्तब्ध
निश्चेतन जड़ दुःसहा
अजीब हुआ !
('ओ काव्यात्मन् फणिधर')

गजानन माधव मुक्तिबोध की कविता की दुनिया प्रकाश और अंधकार के ताने-बाने से बुनी हुई पटकथा है। इस पटकथा का विस्तार कवि के विशाल आयतन वाले अंतःकरण के आकाश पर ओरछोर फैला हुआ है। इन तानों-बानों का प्रकाश भी कोई 'एक' चीज़ नहीं है, बल्कि अनेक आभाओं के तंतुओं से बना हुआ धागा है। और अंधकार भी अनेकानेक छायाओं की लटों से मिलकर बना सूत है। मुक्तिबोध इन सूक्ष्मताओं और जटिलताओं के अनुसंधानी कवि हैं। सभ्यता का स्वभाव है कि वह सत्य का अनथक शोध करे। सत्य का शोध संघर्ष का ही दूसरा नाम है। मुक्तिबोध इसी संघर्ष के योद्धा और कुछ अर्थों में सिद्धांतकार भी थे। यह संघर्ष सत्ता के विरुद्ध ही लड़ा जाता है। सत्ता, चाहे जिसकी भी हो, उसका स्वभाव है कि वह सत्य को पर्दे में ढंक देती है, ओझल कर देती है और उसका मुंह बंद कर देती है। कवि का काम है समाज को सचेत करना और सत्य पर से पर्दा हटाना, 'हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितम् मुखम्, तत्वं पूषन् अपावृणु सत्य-धर्माय दृष्टये'। इस कसौटी पर मुक्तिबोध अपने रचनाकर्म और जीवन दोनों में ही खरे उतरते हैं। वे केवल महान कवि ही नहीं थे बल्कि मज़दूर आंदोलन से गहरे जुड़े हुए

एक्टिविस्ट भी थे। जनवादी पत्रकार और संपादक के रूप में उन्होंने महत्वपूर्ण योगदान किया।

मुक्तिबोध की प्रारंभिक रचनाओं पर छायावाद का विशेष कर सुमित्रानंदन पंत और जयशंकर प्रसाद का सीधा प्रभाव दिखायी देता है। वही भाषा, वैसा ही पदबंध, वैसी ही उपमाएं□'उर-सुमन पर रख चरण-दृगतारिका पथ पर चलीं तुम / उन क्षणों की रात में / आली अकेले ही मिलीं तुम ...' या फिर '...मैं बना उन्माद री सखि तू तरल अवसाद / प्रेम-पारावार पीड़ा तू सुनहरी याद...'। इन पंक्तियों का रूमानी कवि आगे चल कर 'चांद का मुंह टेढ़ा है', 'ब्रह्मराक्षस' और 'अंधेरे में' जैसी सभ्यता-समीक्षा की कविताएं लिखने वाला था, जहां निरंतर चलने वाला आत्म और बाह्य का असमाप्य संघर्ष उसकी प्रतीक्षा कर रहा था। छायावाद के नंदन कानन से निकल कर यह कवि गुहांधकार के अतल में, सत्य के गरजते समुद्र में अन्वेषण की अजानी यात्रा पर निकलने वाला था। शुरू में लगता है कि 'पंत' और 'प्रसाद' से प्रभावित यह कवि अपने समानधर्मा पूर्वज निराला से जाने-अनजाने एक दूरी बनाये हुए है गो वह आगे चलकर निराला का ही रास्ता पकड़ने वाला था □ वैसा ही कंटकाकीर्ण, असंग, अकेला संघर्ष का प्राणांतक पथ। देखने में लगता है कि ऊपर-ऊपर निराला के काव्य संसार के साथ मुक्तिबोध का इंटरैक्शन नहीं के बराबर है। क्या पता कि मुक्तिबोध और निराला की मनोगत बनावट-बुनावट अलग-अलग रही हो। निराला, किसान, ग्राम्य संस्कारों वाले, अवध के ग़रीब किसान परिवार से आये थे। उन्हें औपचारिक शिक्षा या मध्यवर्ग के नागर जीवन की थोड़ी बहुत भी सुविधा सुलभ नहीं हो सकी। आर्थिक विपन्नता से जूझते उनका जीवन बीता। पारिवारिक और व्यक्तिगत आपदाएं उन्हें सदा घेरे रहीं। किंतु वे औघड़ जीवन को बेलौस जीते रहे। इससे कुछ हट कर मुक्तिबोध का जीवन नागर क़स्बाई वातावरण में बीता, उन्हें औपचारिक शिक्षा मिली, नागर जीवन की यत्किंचित सुविधाएं उन्हें बचपन में सुलभ रहीं, मराठी और अंग्रेज़ी साहित्य से उनका संपर्क गहरा था। इसलिए निराला वाली औघड़ विध्वंसक जीवनशैली की तुलना में उन्हें पंत और प्रसाद निकटतर लगे होंगे। किंतु जैसे-जैसे मुक्तिबोध का संघर्ष गहनतर होता गया, वैचारिक बेचैनी बढ़ती गयी, वैसे-वैसे उनका जीवन भी निराला जैसी ही मानसिक संवेदनात्मक-दैहिक पीड़ाओं वाले संसार का जीवन बन गया। निराला और नागार्जुन की जड़ें गांव में हैं, किसान में हैं, लोक में हैं। वहीं मुक्तिबोध का रास्ता क़स्बाई नागर जीवन के एलियनेशन वाली गलियों-खंडहरों से होकर गुज़रता है किंतु अंततः वह मज़दूर जीवन के साथ एकाकार हो जाता है। कविता के अंतर्समुद्र में कहीं-कहीं निराला और मुक्तिबोध बहुत क़रीब आते जाते हैं :

गहन है यह अंधकारा
स्वार्थ के अवगुंठनों से
हुआ है लुंठन हमारा
खड़ी है दीवार जड़ को घेर कर
बोलते हैं लोग ज्यों मुंह फेर कर
इस गगन में नहीं दिनकर
नहीं शशधर नहीं तारा ...। (निराला)

चांद नहीं है सूर्य नहीं है
ज्वाल नहीं है,
सिर्फ धुएं के बादल-दल हैं

...छाये हुए धूम की मानो
हज़ार आंखें,
द्वेष भरी चिंगारियां हज़ारों
ज़हरीली हैं ... (मुक्तिबोध)

'नयी कविता' के रचनाकारों में मुक्तिबोध प्रखरतम प्रश्नाकुलता के कवि हैं। 'कस्मै देवाय, हविषाविधेम' वाला तत्त्व-चिंतन मुक्तिबोध के रचना संसार में अनेक स्तरों पर दिखायी देता है। आत्मा को आकुल कर देने वाली कवि की यह टेक विचारों का पावर-हाउस है, सर्चलाइट है, जाज्वल्यमान सूर्य है। इसके ताप को सह पाना इस कविता के पाठक की कसौटी है। मुक्तिबोध के काव्याशय के निकट पहुंच पाना कुछ अर्थो में संपाती हो जाने जैसा है। मुक्तिबोध की कविता में शुरू से आख़िर तक एक हाईटेंशन लाइन जा रही है जो अजस्र ऊर्जा का संवहन करती है। उसे हैंडल करने के लिए पाठक को 'तैयारी' के साथ जाना पड़ेगा। मुक्तिबोध की कविता पाठक को चेतन-अचेतन के कई स्तरों पर एक साथ अनेक संसारों में ले जाती है। स्वयं मुक्तिबोध को इन कविताओं के रचनासंघर्ष ने कितना झुलसाया होगा, यह कोई छिपी बात नहीं है। तभी तो निराला और 'प्रसाद' के बाद बीसवीं सदी की हिंदी कविता की 'नयी क्लासिकी' का निर्माण करने वाले तीसरे कवि मुक्तिबोध ही हैं। क्या पता कि तीव्र वैचारिक और रचनात्मक प्रक्रियाओं के इस सेरेब्रल आलोड़न-विलोड़न ने मुक्तिबोध को मस्तिष्क आघात का रोग दे दिया हो! कभी कभी ऐसा लगता है कि कविता की दुनिया में हुतात्मा हो जाना ही बड़े कवियों की नियति होती है :

जीवन के प्रबल समर्थक से जब प्रश्नचिह्न
बौखला उठे थे दुर्निवार
तब एक समुंदर के भीतर
रवि की उद्भासित छवियों का
गहरा निखार
स्वर्णिम लहरों में झल्लाता झलमला उठा
मानो भीतर के सौ-सौ अंगारी उत्तर
सब एक साथ बौखला उठे
तमतमा उठे !!
संघर्ष□विचारों का लोहू
पीड़ित विवेक की शिरा-शिरा
में उठा-गिरा
मस्तिष्क-तंतुओं में प्रदीप्त
वेदना यथार्थों की जागी ....('जब प्रश्नचिह्न बौखला उठे)

यह कविता, 'जब प्रश्नचिह्न बौखला उठे थे दुर्निवार,' मुक्तिबोध की शिखर-रचनाओं में से एक है। नयी कविता की लयात्मकता का वैभव यहां अपनी संपूर्णता में दिखायी देता है। यह कविता एक थीसिस की स्थापना करती है जिसे मुक्तिबोध अपनी पूरी काव्ययात्रा में अपहोल्ड करते चलते हैं। वह थीसिस है □ 'संघर्ष की केंद्रीयता'। संघर्ष ही विचारों का उत्स है। बिना संघर्ष के विचार निरर्थक हो जाते हैं। उनमें

ज्ञान की जगह भटकाव आ जाता है। विवेक भी संघर्ष से ही उत्पन्न होता है। सत्यासत्य का विवेक, न्याय-अन्याय का विवेक और उससे जुड़ी नैतिकता संघर्ष के बिना असंभव है। बिना संघर्ष के एक अधोगामी, अंधविश्वासी, अन्यायपूर्ण अनैतिकता समाज को नष्ट करने लगती है। संघर्ष ही ज्ञान और संवेदना को जन्म देता है। त्याग, पीड़ा और बलिदान संघर्षपथ के साथी हैं। अतः

कंठ में ज्ञान-संवेदन के
आंसू का कांटा फंसा और
मन में वह आसमान छाया ...

प्रश्नाकुलता संघर्ष का पहला क़दम है। प्रश्न-परिप्रश्न की परंपरा की पुनर्व्याख्या करने वाली यह कविता आगे कहती है :

संघर्ष विवेकों की प्रतिभा
अनुभव गरिमाओं की आभा
वह क्षमा-दया-करुणा की नीरोज्जवल शोभा
सौ सहानुभूतियों की गर्मी
प्राणों में कोई बैठा है कबीर मर्मी...

यह कबीर वही हैं जो अज्ञान-अंधविश्वास को अपने तर्क की वज्रसूची से ध्वस्त करते हैं, जो प्रेम के उद्‌गाता हैं□'कबिरा यह घर प्रेम का खाला का घर नाहिं' और जो बलिदान पथ के पथिक भी हैं□'सीस उतारै भुइं धरे तब पैठे घर माहिं'। मुक्तिबोध उसी बलिदानी दया-क्षमा-करुणा और प्रेम के पथ पर चलने वाले हैं। मुक्तिबोध की कविता में और आलोचना कर्म में 'ज्ञानात्मक संवेदन' और 'संवेदनात्मक ज्ञान' का शब्दयुग्म चिरपरिचित की तरह बहुचर्चित हो चुका है। इस शब्दयुग्म के बीज इसी कविता में विद्यमान हैं। इस सिद्धांत का प्रतिपादन हमारी नयी चेतना को भी व्याख्यायित करता है। चेतना विचार और संवेदना से मिलकर बनती है, इस प्रकार नवयुग की समाजपरक-समतामूलक चेतना की जड़ें भी संघर्ष की ही आधार भूमि में हैं। बिना संघर्ष के नयी चेतना असंभव है। इस कविता की भाषा और छंद की लय के प्रवाह की गति 'नयी-कविता' की ताज़गी से भरी हुई है। इसकी पदावली नदी की तरह बह रही है□कभी प्रपात की तरह ऊर्जस्वित, कभी कल-कल निर्झरिणी की तरह संगीतमयी और कहीं गहन-गंभीर विस्तृत-पाट वाली शांत गंगा। यह प्रवाह कविता को शब्द-सौंदर्य देने के साथ-साथ अर्थ को भी गरिमामय बनाता है। भाषा और छंद यों तो अर्थ से स्वायत्त नहीं होते किंतु कविता का अर्थ भी छंद-लय और भाषा के बिना अलभ्य और अगम्य हो जाता है। छंद-लय, कविता के अर्थ का सहजभाव से संवहन करता है, उसे जन-जन तक सुलभ कराता है, सुगम्य बनाता है। लयहीन कविता में अर्थ भी दुर्लभ और अगम्य हो जाता है। हमारी समकालीन कविता की अप्रासंगिकता इसी सत्य की पुष्टि करती है। मुक्तिबोध की कविताओं में छंद की अंतःसलिला बहती रहती है। पग-पग पर वह तल फोड़ कर ऊपर भी आ जाती है और सोते की तरह प्रवाहित होने लगती है :

झुरमुर झुरमुर वह नीम हंसा
चिड़िया डोली
फरफर आंचर तुमको निहार

मानो कि मातृभाषा बोली□जिससे गूंजा यों घर आंगन
खनके बहुओं की चूड़ी के कंगन
मैं जिस दुनिया में आज बसा
जनसंघर्षों की राहों पर
ज्वालाओं से
मांओं का, बहनों का सुहाग सिंदूर हंसा-बरसा बरसा !

वात्सल्य के, पारिवारिक स्नेह की स्निग्धता के ये सुंदर प्रतिबिंब नौस्टाल्जिक हुलास बन कर पाठक को भी भावनाओं में भिगो देते हैं। किंतु ध्यान रहे कि यह सारा वात्सल्य और प्रेम जनसंघर्षों की राहों से जुड़ा हुआ है।

मुक्तिबोध की कविताओं का आयतन उनके हृदय के आयतन की तरह बहुत बड़ा है। साथ ही इनका घनत्व और अर्थ-सघनता भी बहुत प्रचुर है। फलतः भौतिकी के नियमानुसार उनकी संहति और वज़न भी बहुत है। ये कविताएं अर्थ का आगार हैं। सच पूछो तो ये कविताएं एक ही महाख्यान की कड़ियां हैं। मुक्तिबोध के सरोकार इतने फ़ोकस्ड हैं कि उनका समस्त रचनाकर्म आकाश से पाताल तक, भूत से भविष्य तक फैला हुआ एक असमाप्य शिलालेख है जिस पर किसी 'ब्रह्मराक्षस के सजल-उर शिष्य' ने मानवजाति की चिंतन-गाथा उत्कीर्ण कर दी है।

'ब्रह्मराक्षस' मुक्तिबोध की केंद्रीय कविता है। उनकी कविता की सारी धाराएं यहां उपस्थित हैं और आगे चलकर उनकी कुछ दूसरी कविताएं भी इसी थीम का दूसरे धरातलों पर पुनराख्यान करती हैं, बात को आगे बढ़ाती हैं और नयी चेतना के निर्माण में होने वाले संघर्षों-आंदोलनों के भावलोक का विशाल चित्रपट तैयार करती हैं। 'ब्रह्मराक्षस' आधुनिक हिंदी कविता में फ़ंतासी के प्रयोग का अनुपम उदाहरण है। स्वप्नभंग की तरह यह कविता भारत की नयी-नयी आज़ादी और लोकतंत्र पर भविष्य में आने वाले ख़तरों के प्रति आशंका की पहली अभिव्यक्ति है। ब्रह्मराक्षस एक उदात्त किंतु असफल नायक है। मुक्तिबोध भारत की पौराणिक गाथाओं में आने वाले वेताल, *सिंहासन बत्तीसी* की पुतलियों, *वृहत्कथा* के पिशाच जैसे पात्रों में से अपना 'ब्रह्मराक्षस' चुन लाये हैं और उसे बिल्कुल अपने तरीक़े से फिर से गढ़ा है। ब्रह्मराक्षस एक बावड़ी में डूबा पड़ा है और अपनी असफलताओं-अपूर्णताओं के लिए पश्चाताप की बेकली में छटपटा रहा है। चूंकि उसने अपने ज्ञान को समाज की बेहतरी में न लगाकर केवल 'महत्ता' के लिए, सत्ता के लिए, उपयोगी बनाया था। इसलिए ट्रेजेडी की तीव्र भावना उसे हमेशा के लिए अंधेरे कुएं में गिरा देती है, क़ैद कर देती है। महत्ता के प्रति उसका आकर्षण ही उसके भटकाव और अंततः पतन का कारण बनता है। यद्यपि उसका लक्ष्य क्षुद्र वैयक्तिक स्वार्थ नहीं था, वह सत्य की खोज में निकला था किंतु वैचारिक भटकाव और यथार्थ से विलगाव ने उसे इस अवस्था में डाल दिया। अब वह अपनी भूल-ग़लती समझना तो चाहता है किंतु पुराने चिंतन के चलते समझ पाने में असमर्थ है और इसीलिए□

पाप छाया दूर करने के लिए दिन रात
स्वच्छ करने-
ब्रह्मराक्षस घिस रहा है देह
हाथ के पंजे बराबर

बांह छाती मुंह छपाछप
खूब करते साफ़
फिर भी मैल, फिर भी मैल !!

ब्रह्मराक्षस एक ऋषि है जो ज़रा से विचलन के चलते अपने पथ से च्युत हो गया। वह एक विश्वामित्र है जो अपने अहंकार के चलते नयी सृष्टि के निर्माण में बुरी तरह असफल होकर हास्यास्पद हो गया। ब्रह्मराक्षस के प्रति भारतीय जनमानस में भय भी है और सम्मान भी। साथ ही उसके मोक्ष की कामना भी। वह कोई दुष्टात्मा नहीं है। अरस्तू की कल्पनाओं वाला यह ट्रैजिक हीरो इतिहास के रास्ते में बिखरी हुई अनेक भग्नमूर्तियों में देखा जा सकता है। ब्रह्मराक्षस भटका हुआ सत्यान्वेषी है, मुक्तिपथ का पराजित योद्धा है जो अपनी अक्षमता की बेड़ियों में जकड़ कर रह गया है। इस कविता में आपको अनेक पौराणिक पात्र भी बावड़ी के आसपास बैठे हुए मिल जायेंगे। बावड़ी में गिरे हुए ब्रह्मराक्षस जैसी दशा बिल्वमंगलाचार्य के एक स्तोत्र में भी कल्पित की गयी है : 'संसारकूपे पतितोत्यगाधे मोहांधपूर्णे विषयाभितप्ते करावलम्बम् मम देहि '...। किंतु मुक्तिबोध का ब्रह्मराक्षस किसी से करावलम्ब नहीं मांगता, वह अजस्र-स्नान के पागल प्रवाह में अपना संघर्ष खुद लड़ रहा है। और 'बावड़ी की इन मुंडेरों पर मनोहर हरी कुहनी टेक/बैठी है टगर / ले पुष्प तारे श्वेत' यह टगर वही है जो प्राकृत कविता में कठिन परिवेश को मधुर बनाने के लिए बार-बार हस्तक्षेप करती है- 'न पुष्पगंधो पटिवातमेति न चंदनम्, तग्गर मल्लिका वा ...'। वैदिक ऋषियों की चरैवेति-चरैवेति की अंतहीन यात्रा में जीवनदानी अमृत का फल उदुम्बर भी यहां साक्षी बन कर बैठा है□'बावड़ी को घेर डालें खूब उलझी हैं, खड़े हैं मौन औदुम्बर'। ऋषियों की तरह उदुम्बर का अमृतफल ऋषियों की तरह ब्रह्मराक्षस को सुलभ नहीं है, उदुम्बर तो कुएं के बाहर बैठा निरपेक्ष दर्शक मात्र है। लक्ष्मी के वाहन उल्लू के घोंसले भी उस भयानकता में अपना चिरपरिचित रोल निर्वाह कर रहे हैं 'लटकते घुघ्घुओं के घोंसले परित्यक्त भूरे गोल'। परित्यक्त महलों से राजा और सेठ जा चुके हैं, केवल उन परित्यक्त 'घोंसलों' के खंडहर बावड़ी के आसपास फैले हुए हैं। रसेल, टायन्वी, हाइडेग्गर, स्पेंग्लर, सार्त्र और गांधी जैसे विचारक मानो फ़्लैशबैक में एक एक कर आते हैं, किंतु ब्रह्मराक्षस इन सभी के आधुनिक सिद्धांतों से संतुष्ट नहीं है। वह इन सिद्धांतों की कड़ी जांच और पुनर्व्याख्या करना चाहता है। कविता इस बात को ढंका ही रखती है कि ब्रह्मराक्षस इन्हें नकारने वाला है या उनमें कुछ सकारात्मक जोड़ने वाला है...। वैसे, संदर्भ बता रहा है कि सकारात्मकता ही कवि का मंतव्य है। बावड़ी के 'अतल अंधकार' में 'गहरी बात' के रूप में सीढ़ियां डूबी पड़ी हैं, मुक्ति का रास्ता अंधे पानी में डूब चुका है। मुक्तिबोध उसी 'गहरी बात' का अनुसंधान करने का निश्चय करते हैं।

ब्रह्मराक्षस का बिंब सनातन संघर्ष का प्रतीक है। ब्रह्मराक्षस एक भटका हुआ पथच्युत सत्यान्वेषी है। वह मुक्तिपथ का पराजित योद्धा है। वह प्रोमीथियस है, ओडिपस है, हैमलेट है। हिम में गलता हुआ धर्मराज युधिष्ठिर है, वह और शर-शैय्या पर पड़ा हुआ, अपनी ही मुत्यु के रथ की वल्गा थामे, भीष्म पितामह भी है। वही द्वारका में वधिक के बाण का शिकार होता हुआ कृष्ण भी है। यहूदी धर्मकथा का स्वर्गच्युत 'आदम' भी ब्रह्मराक्षस ही है और सच पूछो तो वह निराला भी है और अंततः स्वयं मुक्तिबोध भी वही है।

मुक्तिबोध ने उस 'अखंड स्नान के पागल प्रवाह' को बहुत नज़दीक से अनुभव किया है। आज भी

हमारे आसपास ऐसे ही अनेक अखंडस्नान चल रहे हैं□बल्कि उनका ज़ोर बढ़ता ही जा रहा है, किंतु क्या है कि 'प्राण में संवेदना है स्याह'। इस संवेदना की कालिख कम होने के बजाय बढ़ती ही जा रही है। कमज़ोर वर्गों के प्रति बढ़ते हुए अत्याचार और विश्वव्यापी धर्मांधता के अंधकार का फैलाव बढ़ता ही जा रहा है। संवेदना का यह स्याहपन मात्र अखंड स्नान से तो दूर होने से रहा।

हां, ब्रह्मराक्षस को प्रकाश की एक किरण भी कभी-कभी मिल जाती है, किंतु इसे वह अपनी महत्ता समझता है। 'महत्ता' की सत्ता के प्रति उसका लोभ घटा नहीं है। एक किरण की झलक पाने से वह समझता है कि प्रकाश के पुंज सूर्य ने उसकी ही वंदना कर दी है, उसे अपना ज्ञानगुरु मान लिया है। ज्ञान का यह अहंकार मानवजाति के सर्वग्रासी उपभोक्तावाद के रूप में आज पृथ्वी के पर्यावरण को समाप्त करने की हद तक जा पहुंचा है। ब्रह्मराक्षस तो ऐसा विध्वंसक कभी नहीं था, उसे अपने ज्ञान की महत्ता का घमंड हठ था, उसे मान-सम्मान का लोभ रहा होगा किंतु वह सर्वग्रासी राक्षस कभी नहीं रहा। वह तो बस एक किरण के चमकने भर से खुश था कि □'अति प्रफुल्लित कंटकित तन-मन वही / करता रहा अनुभव कि नभ ने भी/विनत हो मान ली है श्रेष्ठता उसकी ...'। और तब वह दुगुने जोश के साथ फिर उसी भूलभुलैया में भटकता चला जाता है। अहंकार के चक्रव्यूह में फंसा हुआ सत्यान्वेषी ब्रह्मराक्षस एक दिशाहीन तुमुल में घिर जाता है :

... उद्भ्रांत शब्दों के नये आवर्त में
हर शब्द निज प्रतिशब्द को भी काटता
वह रूप अपने बिंब से ही जूझ
विकृताकार कृति
है बन रहा
ध्वनि लड़ रही अपनी प्रतिध्वनि से यहां ...

इस तुमुल की बिंबावली 'राम की शक्ति पूजा' के उस प्रसंग की बरबस याद दिला देती है जहां अपने ही संशय और आत्मालोड़न की ऊहापोह में डूबे हुए राम सामने गरजते समुद्र को देख रहे हैं :

शत घूर्णावर्त तरंग भंग उठते पहाड़
जल राशि-राशि जल पर चढ़ता
खाता पछाड़, तोड़ता बंध -
प्रतिसंध धरा, हो स्फीत वक्ष
दिग्विजय अर्थ प्रतिपल समर्थ
बढ़ता समक्ष।

(निराला)

दो महाकवि कभी-कभी एक दूजे के इतना निकट आ जाते हैं, मानो दो पृथ्वियां थोड़ी देर को एक दूसरे के निकट खिंच आयी हों।

मुक्तिबोध अच्छाई-बुराई के द्वंद्व के परे जाकर द्वंद्व के अनेक जटिल रूपों को अपनी कविता में सजीव कर देते हैं कि जैसे माइक्रोस्कोप लगाकर कोई हमें सूक्ष्म-संसार के अणुओं-परमाणुओं का साक्षात्कार करा रहा हो :

बुरे अच्छे बीच के संघर्ष से भी उग्रतर
अच्छे व उससे अधिक अच्छे बीच का संगर

यहीं छुपा है द्वंद्व का आदि-बीज। आदिम जीव कोशिका के भीतर परिघटित हो रहा द्वंद्व जीवन के विकास क्रम की शुरुआत करता है। इसी के चलते बैक्टीरिया रूपी जीवन का विकास मनुष्यरूपी संश्लिष्ट विचारयुक्त-जैविक-संरचना में संभव हो सका। यही प्रगति का मूलमंत्र है। इसी के चलते हम न्यायपूर्ण सुखी समृद्ध समाज की स्थापना कर पाने में, कभी न कभी, सफल होंगे। यहीं से दुःखों से मुक्ति का रास्ता निकलता है। इसी द्वंद्व के चलते भगवान बुद्ध को मुक्ति का पथ दिखायी दिया था। इतिहास सरल और एकरेखीय नहीं होता। वह वक्र रास्ता अपनाता है (नदियां भी तो घूम-घूम कर बहती हैं, उन्हें भी सीधा रास्ता रास नहीं आता) :

... किंतु युग बदला व आया कीर्ति-व्यवसायी
लाभकारी कार्य में से धन व धन में से हृदय-मन
और धन अभिभूत अंतःकरण में से
सत्य की झाईं निरंतर झलमलाती थी...

फ्रांस की क्रांति का 'स्वतंत्रता-समानता-बंधुत्व' का नारा देने वाला मध्यमवर्ग ही आगे चलकर पूंजीवाद का पुरोधा बन बैठा। मज़दूरों-किसानों का दमन और दूसरे देशों को साम्राज्यवाद की बेड़ियों में जकड़ने का सिलसिला उसी वर्ग ने शुरू कर दिया जिसने सामंतवाद के ख़िलाफ़ संघर्ष में जनता का साथ दिया था। लेकिन फिर भी अंधकार में पथ सुझाती एक किरण के समान सत्य की चमक पूंजीवादी घटाटोप के ही भीतर से झांक रही है : 'अच्छा व उससे और अच्छे के बीच का संघर्ष' फिर शुरू हो गया। इस बार जनवादी विचारधाराएं इस संघर्ष का नेतृत्व कर रही थीं। 'महत्ता' का लोभ अन्वेषक को बावड़ी में क़ैद कर देता है। इस भयानक अवस्था में ब्रह्मराक्षस रूपी चिंतक पिस जाता है :

पिस गया वह
भीतरी और बाहरी दो कठिन पाटों बीच
ऐसी ट्रेजेडी है, नीच।

कवि का हृदय ब्रह्मराक्षस के संघर्ष को आगे बढ़ाने को उद्यत है :

मैं ब्रह्मराक्षस का सजल उर शिष्य
होना चाहता
जिससे कि उसका वह अधूरा कार्य
उसकी वेदना का स्रोत
संगत पूर्ण निष्कर्षों तलक पहुंचा सकूं।

मुक्तिबोध का स्वप्न इन पंक्तियों में अमिट रूप से अंकित होकर आज भी हमारे कठिन जीवन पथ को आलोकित कर रहा है, करता रहेगा। यहीं से मुक्तिबोध का वैचारिक संघर्ष 'अंधेरे में' जैसी अपूर्व कविता के पाताल लोक में ले जाकर उन्हें 20वीं शताब्दी की हिंदी कविता का बड़ा कवि बनाता है।

'अंधेरे में' मुक्तिबोध को यही ब्रह्मराक्षस दूसरे वेष में फिर दिखायी देता है। इस कविता का 'वह' और ब्रह्मराक्षस के रूप में मुक्तिबोध का 'मैं सजल उर शिष्य' बार-बार भेंटा ही जाते हैं। 'जन' के बीच

में जाकर ही हम अपने 'आत्म' को सही-सही देख सकते हैं, सच्चा आत्म अन्वेषण वहीं संभव है, न कि एकांत साधना में :

एकाएक 'वह' व्यक्ति आंखों के सामने
गलियों में सड़कों पर लोगों की भीड़ में
चला जा रहा है
वही 'जन' जिसे मैंने देखा था गुहा में
... वह दिखा वह दिखा
वह फिर खो गया किसी जनयूथ में...
...उठी हुई बांह यह उठी हुई रह गयी
अंकखोजी निज समृद्धि का वह परम उत्कर्ष
परम अभिव्यक्ति
मैं उसका शिष्य हूं
वह मेरा गुरु है, गुरु है!!

फिर वही पंक्ति गूंजती है 'मैं ब्रह्मराक्षस का सजल उर शिष्य...।'

लगता है वेदव्यास एक बार फिर बांह उठा कर खड़े हैं और अपने युग को पुकार रहे हैं कि रोको युद्ध को, रोको विनाश को, किंतु कोई उन्हें नहीं सुनता। उठी हुई बांह वाले इस मुक्तिबोध को सुनने वाले जाने कहां चले गये हैं। आगे चलकर 'अंधेरे में' का 'वह' (अर्थात् वही ब्रह्मराक्षस अर्थात् कवि स्वयं) जन-संघर्ष के तुमुल में सीधे घुस कर भागीदार बन जाता है, बल्कि 'वह' स्वयं ही जन संघर्ष की शुरुआत करने वाला बन जाता है। जन संघर्ष का ज्वार उसे आत्मसात कर लेता है :

एकाएक हृदय धड़क कर रुक गया
नगर से भयानक धुआं उठ रहा है
कहीं आग लग गयी, कहीं गोली चल गयी
...
...चढ़ गया उर पर कहीं कोई निर्दयी
कहीं आग लग गयी, कहीं गोली चल गयी
...
विश्व की मूर्ति में आत्मा ही गल गयी
कहीं आग लग गयी, कहीं गोली चल गयी...

हर युग में युवा पीढ़ी संघर्ष के इसी तुमुल से अनुप्राणित होकर नयी दृष्टि पाती है। युवकों का 'व्यक्तित्वांतर' होता जाता है। एक 'नये मनुष्य' का जन्म होता है, जैसी कि परिकल्पना अक्तूबर क्रांति के बाद साकार हो चली थी। भविष्य के प्रति आशा जगती है। ...कि तभी स्वप्न भंग हो जाता है। एकाएक वह व्यक्ति कवि को फिर दिखायी देता है, कवि उसे पुकारता है किंतु□'वह फिर खो गया किसी जनयूथ में... उठी हुई बांह यह उठी हुई रह गयी'। मुक्तिबोध उस खोये हुए 'वह' को ढूंढ़ते फिरते हैं। यह उनका आत्मान्वेषण ही नहीं, बल्कि सत्य के पथ का पुनरान्वेषण है। कवि जानता है कि उसकी अभिव्यक्ति का रास्ता ही उसकी अपनी मुक्ति का भी रास्ता है। यह रास्ता संघर्षरत जन के भीतर से

होकर ही जाता है। दूसरी कोई गति नहीं है□ नान्यथा गतिः।

इसीलिए मैं हर गली में
और हर सड़क पर
झांक झांक देखता हूं हरेक चेहरा
प्रत्येक गतिविधि
प्रत्येक चरित्र
वह हरेक आत्मा का इतिहास
हरेक देश व राजनैतिक परिस्थिति
प्रत्येक मानवीय स्वानुभूत आदर्श
विवेक प्रक्रिया, क्रियागत परिणति!!
खोजता हूं पहाड़... पठार... समुंदर
जहां मिल सके मुझे
मेरी वह खोई हुई
परम अभिव्यक्ति अनिवार
आत्मसंभवा ।।

'आत्मसंभवा परम अभिव्यक्ति' की खोज केवल कवि के लिए ही नहीं बल्कि सारी मानवता के लिए आज और भी प्रासंगिक हो गयी है। विघटित होते जीवन को फिर से संभव बनाने के लिए इस आत्मसंभवा अभिव्यक्ति के रास्ते के अतिरिक्त दूसरा कोई और रास्ता है नहीं। मुक्तिबोध का काव्य और उनका जीवन अंधकार में प्रकाश की किरण की तरह हमारे पथ को हमेशा आलोकित करता रहेगा।

फोन : 9810004446

'भूल-ग़लती' में बहुकलात्मकता

रवीन्द्र त्रिपाठी

'भूल-ग़लती' गजानन माधव मुक्तिबोध की ऐसी कविता है जिस पर कभी दुर्बोधता का आरोप नहीं लगा। उस समय भी जब उनकी कविताओं के बारे में कहा और माना जाता था कि वे जटिल हैं। 'भूल-ग़लती' के बारे में काव्यमर्मज्ञों से लेकर कविता के राजनैतिक पाठक तक इसे क्रांति और जनविद्रोह की आह्वानपरक कविता मानते थे और आज भी मानते हैं। यानी यह ऐसी कविता है जिसका अर्थ साफ़ है। यह मुक्तिबोध की लोकप्रिय कविताओं में है। उस अर्थ में नहीं जिस अर्थ में बच्चन या दिनकर की कविताएं रही हैं। उस अर्थ में कि सजग रूप से राजनैतिक बदलाव की आकांक्षा वाले वामपंथियों (इसमें हर धारा के वामपंथी शामिल रहे हैं) से लेकर राजनैतिक कविताओं के प्रेमी तक इसका सार्वजनिक वाचन करते थे। कुछ आज भी करते हैं। इस कविता का छंद जयशंकर प्रसाद की कविता 'हिमाद्रि तुंग शृंग से' वाला है। यानी पंचचामर छंद। यह प्रसाद जी का प्रिय छंद था। उस पारंपरिक छंद में इसका वाचन करें तो इसके भीतर की गीतात्मकता, लयात्मकता और अर्थमयता अधिक स्पष्ट होती है। इसे एक आह्वानगीत की तरह भी गाया जा सकता है। यह वाचन और पाठ करने वाले को भी जोश से भर सकती है और सुनने वाले को भी। इस कविता में एक नाद-सौंदर्य है।

इसके आस्वाद के इतिहास पर नज़र डालें तो कुछ और बातों की तरफ़ ध्यान जाता है। मिसाल के लिए, यह कि अपने आरंभिक दौर में यह कविता जवाहर लाल नेहरू (भारत के प्रथम प्रधानमंत्री) की नीतियों और व्यक्तित्व की आलोचना मानी जाती थी। यानी नेहरूवाद पर तीखी टिप्पणी। इसका संभावित रचनाकाल भी वही है (*मुक्तिबोध रचनावली* के अनुसार सन् 1963) जो नेहरूवाद से मोहभंग का काल माना जाता है। लेकिन नेहरू उस समय सत्तानशीं थे, इसलिए इस कविता में वर्णित सुलतानी सत्ता के प्रतीक मान लिये गये कुछ लोगों द्वारा। ऐसा सरलीकरण अस्वाभाविक नहीं था। राजनैतिक कही जानेवाली कविताएं अपने वक़्त के राजनैतिक माहौल के मुताबिक भी व्याख्यायित होती हैं। लेकिन किसी कविता या लेखन की असली ताक़त उसकी तात्कालिकता में नहीं होती है। हो सकता है कि किसी रचना को रचनाकाल के तात्कालिक प्रसंग से जोड़ा जाये और उसके अनुसार उसका विश्लेषण किया जाये। लेकिन कोई रचना तभी कालजयी होती है जब उसके अर्थ और आशय सार्वकालिकता से जुड़ते हैं। आज के समय में नेहरूयुग की विफलता को दिखानेवाली रचना का क्या महत्व है? तब जबकि हम जानते हैं कि पिछले तिरेपन वर्षों में (यानी नेहरू के निधन के बाद) भारतीय राजनीति विकट दौरों से गुज़री है और ऐसे में नेहरूयुग, अपनी कुछ सीमाओं के बावजूद, स्वांतत्र्योत्तर भारतीय राजनीति का स्वर्णकाल लगने

लगा है। फिर मुक्तिबोध की इस कविता के ताज़ा और प्रासंगिक लगने का कारण क्या है? मुझे तो लगता है कि यह हिंदी की ही नहीं, विश्व की भी उन सनातन कविताओं में रहेगी जो विद्रोह का आह्वान करती हैं। हर युग में और हर देश में। इस कविता के अलग-अलग भाषाओं में अनुवाद हों तो हर भाषा के पाठक और परिवर्तनकामी इसे सराहेंगे।

लेकिन साथ यह भी जोड़ना चाहूंगा कि सिर्फ़ अपने राजनैतिक मंतव्यों के लिए नहीं बल्कि अपने कलात्मक सौष्ठव के लिए भी यह कविता मुक्तिबोध की कुछ अन्य कविताओं की तरह चिरस्मरणीय है। इसमें 'अंधेरे में' जैसी महाकाव्यात्मकता भले न हो, परंतु वह नाटकीयता और दृश्यात्मकता है जो आधुनिक हिंदी कविता में बहुत कम है। मेरे लिहाज से तो मुक्तिबोध कविता में नाटक लिखनेवाले, कविता में फ़िल्म और पेंटिंग की रचना करनेवाले अकेले कवि हैं। और पेंटिंग भी दोनों तरह की। आकृतिमूलक और अमूर्त। मुक्तिबोध हिंदी के जितने बड़े कवि हैं, उतने ही बड़े आलोचक हैं और साथ ही कविता में अन्य कलाओं के तत्वों को लानेवाले अपनी तरह के अकेले रचनाकार हैं। उनकी कविताएं पढ़ते समय मुझे हमेशा लगता है कि मैं एक ऐसे सभागार में हूं जहां किसी कविता का वाचन हो रहा है, उसी समय एक फ़िल्म चल रही है और नाटक भी हो रहा है, साथ ही एक कला प्रदर्शनी भी लगी है। मुक्तिबोध का एस्थेटिक्स (यहां मैं 'एस्थेटिक्स' के लिए हिंदी में प्रचलित शब्द 'सौंदर्यशास्त्र' का प्रयोग जान-बूझकर नहीं कर रहा हूं, क्योंकि यह मुझे अपर्याप्त लगता है) बहुकलात्मक है। उनके जैसा, बहुकलात्मकता की संभावना लिये आधुनिक हिंदी में कोई अन्य कवि नहीं है। कोई अगर सिर्फ़ कविता प्रेमी है तो बेशक वह मुक्तिबोध से गहरे में प्रभावित होगा। किंतु जो लोग एकाधिक कलाओं के प्रेमी हैं, उनको तो लगेगा कि अरे, मुक्तिबोध के यहां तो कई कलाओं का सामूहिक आयोजन हो रहा है। ऐसे पाठकों को आस्वाद की चुनौती झेलनी होगी। मुक्तिबोध की कविताओं का आस्वाद कठिन रहा है। वह एक प्रक्रिया है जो अनवरत चलती रहती है। यही कारण है कि उनकी कविताएं बार-बार पढ़े जाने की मांग करती हैं। और जितनी बार पढ़ेंगे, उससे अधिक बार पढ़ने की इच्छा बलवती होती रहेगी। आइए, देखते हैं कि 'भूल-ग़लती' में ये पक्ष किस तरह उद्घाटित होते हैं।

पर सबसे पहले इस कविता का संक्षिप्त सार, ताकि जो इस कविता को न पढ़ें हों, उनको भी मोटे तौर पर पता चल जाये कि इसका कथ्य क्या है।

संक्षेप में कहें तो यह कविता कहती है कि चाहे कोई भी सत्ता कितनी भी ताक़तवर क्यों न हो, उसके ख़िलाफ़ संघर्ष होगा और किसी तरह के जिरहबख़्तर या कुंडल-कवच किसी आततायी सत्ता को सुरक्षित नहीं रख पायेंगे, जनज्वार हर लौह दीवार को भेद देगा। कविता में एक भूल- ग़लती नाम की सुल्तानी सत्ता है। वो जिरहबख़्तर पहने हुए है और उसने ईमान को क़ैद कर लिया है। सुल्तानी निगाह तेज़ पत्थर की तरह है। सुल्तान के दरबार में कई बड़े आलिम फाजिल यानी विद्वान हैं। सब मौन हैं। कोई ईमान की तरफ़दारी नहीं कर रहा है। हालांकि ईमान बेख़ौफ़ है। पूरे दरबार में सन्नाटा है। लेकिन तभी कोई कराह की तरह निकल भागता है। आगे कवि कहता है, लगता है कि कोई बुर्ज की दूसरी तरफ़ लश्कर (सेना) का निर्माण कर रहा है और वो हमारी हार का बदला चुकाने आयेगा। हमारी हार का आशय पीड़ित जनता से है। इस तरह इस बारे में संदेह नहीं रह जाता कि यह कविता जनविद्रोह की वकालत करती है। यह पीड़ित जनता के समर्थन में लिखी गयी है और मार्क्सवादी रहे मुक्तिबोध की राजनैतिक पक्षधरता को दिखाती है।

अब आगे बढ़ें और इसके कलात्मक पक्ष की बातें करें।

आइए, इसके नाटकीय पक्ष को देखें। ऐसा लगता है मानो एक मंच सज्जा है जिसमें दरबार का दृश्य है। उस दरबार में शायर, सूफ़ी, मनसबदार सब खड़े हैं। वे ख़ामोश हैं। और तभी एक अप्रत्याशित और नाटकीय घटना घटती है। जैसा कि नाटकों में होता है :

इतने में, हमीं में से
अजीब कराह-सा कोई निकल भागा
भरे दरबारे-आम में मैं भी
संभल जागा!!
क़तारों में खड़े ख़ुदग़र्ज़ बा-हथियार
बख़्तरबंद समझौते,
सहमकर, रह गये

अब इसके आगे की पंक्तियां देखिए। आगे जो दृश्य है, वह अतियथार्थवादी है और जिसे फ़िल्म में भी चित्रित करना कठिन है:

दिल में अलग जबड़ा लिये, अलग दाढ़ी लिये
दुमुंहेपन के सौ तजुर्बे की बुजुर्गी से भरे
दढ़ियल सिपहसालार संजीदा
सहमकर रह गये!!

शब्द में कहना सरल है, लेकिन जो बिंब मुक्तिबोध बनाते हैं, वह किसी चित्रकार या फ़िल्मकार के लिए भी दिखाना एक टेढ़ी खीर है। सोचिए, दिल में जबड़ा और दाढ़ी रखने का बिंब कितना मौलिक और मुक्तिबोधीय है। वे लोग जो दोमुंहापन रखते हैं और सत्ता के सामने कभी सच नहीं बोलते, उनकी धूर्तता और चालाकी को रेखांकित करने का काम मुक्तिबोध ने कई कविताओं में किया है। *मुक्तिबोध रचनावली* में संकलित एक कवितांश में (जिसका शीर्षक नहीं दिया हुआ है) वे लिखते हैं:

समीक्षक हैं, पंडित हैं, कवि हैं
स्वयं प्रधान धारा से हटकर
उससे कटकर
तट पर
सिद्धांतों के हस्तिदंती स्वप्नों पर
स्वयं शिल्प-मूर्ति
रूप में स्थित हो
स्वर्गचुंबी बनते हैं
वे दंभी हैं।

दोमुंहे बुद्धिजीवियों को मुक्तिबोध अपनी कई कविताओं में निशाने पर लेते हैं। इस कविता में भी जब वे अल ग़ज़ाली, इब्न सिन्ना और अलबरूनी का उल्लेख करते हुए उनको सुल्तान के दरबारी के रूप में चित्रित करते हैं तो वे चालाक बुद्धिजीवियों को ही प्रतीकात्मक रूप से पेश कर रहे होते हैं। हालांकि

मैं यहां ज़रूर कहूंगा कि आज अगर मुक्तिबोध होते तो इन तीन नामों से दो के नाम□इब्ने सिना (980-1037) और अलबरूनी (973-1048)□अपनी कविता में नहीं रखते। कविता की रचना के समय इब्ने सिना और अलबरूनी के बारे में अंतरराष्ट्रीय स्तर पर कम जानकारियां थीं। ये दोनों मध्य एशिया के बड़े वैज्ञानिक चेतनासंपन्न व्यक्तित्वों में थे और इनके बौद्धिक दाय के बारे में अभी भी बहुत सारी चीज़ें अज्ञात हैं। पर इतना तय है कि इन दोनों की ज्ञान-पिपासा का असर यूरोपीय पुनर्जागरण पर भी पड़ा। इब्ने सिना का प्रभाव तो यूरोपीय मेडिकल साइंस पर भी है। वैसे कविता में इस तरह की आज़ादी ली जा सकती है जैसी 'भूल-ग़लती' में इन दो व्यक्तित्वों के प्रतीकात्मक उल्लेख से ली गयी है, लेकिन आस्वाद और विश्लेषण के समय मुक्तिबोध के काव्य-सिद्धांत 'ज्ञानात्मक संवेदना' को भी ध्यान में रखना आवश्यक है। वैसे विद्वान तो अल-ग़ज़ाली (1058-1111) भी था। वह सूफ़ी भी था। लेकिन वह कठमुल्लावाद का प्रवक्ता भी बन गया था। इसलिए उसे दरबारी के रूप में प्रतीकात्मक रूप से चित्रित करने में किसी तरह का अनौचित्य नहीं है।

आख़िर में सिर्फ़ इतना कि मुक्तिबोध की यह कविता अपने शाब्दिक आकार में जितनी लंबी है, उससे कहीं अधिक अपने प्रभाव में। उसका आयतन कई युगों तक फैलेगा और कई अन्य कलाओं के प्रिज़्म से भी उसे देखा जा सकता है। जी हां, यह कविता सिर्फ़ पढ़ने की ही मांग नहीं करती बल्कि देखने की भी मांग करती है। यह कविता कई तरह की प्रतिध्वनियां पैदा करती है और हमारी ओर लौटती हुई प्रतिध्वनियां हमें उठाकर ऐसे लोक में ले जाती हैं जिसमें ईमान 'बेख़ौफ़ नीली बिजलियां' फेंकता है।

मो. : 9873196343

मुक्तिबोध : व्यवस्था का विद्रूप बनाम बिंब और फ़ैंटेसी की जटिलता

शैलेश सिंह

मुक्तिबोध की कविताएं हमेशा से एक ख़ौफ़ पैदा करती रही हैं। उनकी कविताओं के बिंब फ़ैंटेसी रचते हैं। ऐसी फ़ैंटेसी जिसमें घुसना अपने आप में अंधी, काली सुरंग में घुसना है। काई से भरे हुए तालाब व उसकी फिसलन से भरी सीढ़ियां, बरगद, गुफा, गंदा नाला, स्याह रात, चमगादड़, प्रेत, भूत ये सब उनकी कविता के उपादान हैं जो निश्चित रूप से ख़ौफ़ पैदा करते हैं। यही वजह है कि मुक्तिबोध की कविताएं अपने रूप विधान व कथ्य में बेहद जटिल मानी व जानी जाती हैं।

कभी सोचता हूं कि क्या वे इन शब्दों के बिना अपनी समझ व समाज के द्वंद्व को प्रस्तुत नहीं कर सकते थे। आख़िर उनके समकालीन इन शब्दों व प्रतीकों के बिना कविताएं और वह भी अर्थवान कविताएं लिख ही रहे थे। और तो और *तार सप्तक* के दूसरे कवि कहां इस जटिल राह पर कदम बढ़ा पाये! *तार सप्तक* के संपादक व सहयोगी कवियों की एक आकांक्षा थी और वह थी कि कुछ नया, अभिनव किया जाये। सब के सब अन्वेषी थे, कुछ खोज रहे थे, जो नया हो और कुछ-कुछ अजूबा भी। नया और अजूबा शिल्प लाने वाले सातों कवि अलग-अलग विचार दर्शन से प्रभावित थे। कुछ मार्क्स के भौतिकवादी दर्शन से तो कुछ यूरोप के आधुनिक विचार से, जिसमें व्यक्ति की स्वतंत्रता या स्वच्छंदता प्रमुख थी। कुछ भारतीय वैष्णव पंथ की भावुक कर देने वाली मानवता से, तो कुछ फ्रायड के मनोवैज्ञानिक निष्कर्ष से लय मिला रहे थे।

सबके रास्ते अलग थे, पर काव्य पथ एक था। इसीलिए सातों कवि एक संग्रह में शामिल हो सके। *तार सप्तक* के दूसरे संस्करण में पथ के अन्वेषियों में गहरा मतभेद दिखायी देता है। *तार सप्तक* के दूसरे संस्करण की भूमिका में मुक्तिबोध की अपने संपादक से घोर असहमतियां दिखायी देती हैं। ये असहमतियां फ़ार्म से लेकर यथार्थ के अन्वेषण व अवलोकन तक फैली हुई हैं।

अज्ञेय व मुक्तिबोध दोनों की कविताओं में तत्सम शब्दों की बहुलता है, पर शब्द संस्कार दोनों का एकदम अलग और विपरीत है। एक के यहां कोमल लय है तो दूसरे के यहां चट्टान से टकराती भयानक रौ है। ज़ाहिर है कि मुक्तिबोध इस रौ के साथ संगति करते हैं और एक सधे हुए शब्द साधक की तरह कविता के क्षेत्र में कोलंबस कहलाने का गौरव प्राप्त करते हैं।

मुक्तिबोध एक ऐसे कवि हैं जो स्वयं एक बीहड़पन चुनते हैं, जैसे एक पर्वतारोही सबसे ऊंची चोटी

को आरोहण के लिए चुनता है। इतना ही नहीं, वह बेहद दुर्गम मार्ग भी चुनता है। वैसे ही मुक्तिबोध ने काव्य पथ के सबसे दुर्गम रास्ते को चुना, जिस पर चलना तो दूर, दूसरे कवि उस तरफ़ देखने का साहस भी नहीं कर पाते। वास्तव में ऐसी राह चुनने के लिए साहस, सरोकार, दर्शन की कठोर चट्टान और शब्द की विपुल संपदा के साथ व्यक्तित्व विश्लेषण की विलक्षण दृष्टि की दरकार होती है। ज़ाहिर है कि मुक्तिबोध में ये सारे सरअंजाम थे और इन सबसे बड़ा एक तत्व था, वह था समाज परिवर्तन के लिए गहरी व सच्ची विकलता।

मध्यवर्ग के 'डीक्लास' होने और न होने के द्वंद्व के साथ सर्वहारा वर्ग से एकाकार होने की उदार कामना तो उसमें होती है, पर वह अपने निहित स्वार्थों व उच्चताबोध से अपना सब कुछ यानी वह प्रिविलेज जो उसे समाज व सत्ता से मिलता है, उसे वह रोक कर रखना चाहता है। उसे इन प्रिविलेजेज से रसात्मक लगाव होता है। और इस भौतिक रसात्मक सुख के लोभ के चलते वह सर्वहारा की कठोर यथार्थ भूमि की तरफ़ पांव बढ़ाता तो है, पर जैसे ही उसका सामना धूप, कीचड़, धूल, दुर्गंध व श्रम के स्वेद से होता है, वह भयवश अपना पैर पीछे खींच लेता है। मुक्तिबोध इसी द्वंद्व को सच्ची ईमानदारी व विकलता से अपनी काव्य अनुभूति को अपने जटिल रूप विधान में व्यक्त करते हैं। अपनी रचना प्रक्रिया के संदर्भ में मुक्तिबोध ने अपने चर्चित लेख 'कला का तीसरा क्षण' में सूक्ष्म व विस्तृत तरीक़े से अपने पाठकों को समझाया है, या यों कहें कि काव्य कर्म करने के लिए सही मार्ग सुझाया है। ज्ञान को संवेदना और संवेदना को ज्ञान में बदलने की तार्किक व विरल तकनीक हिंदी कविता में मुक्तिबोध ही विकसित करते हैं और उसे एक उत्तुंग शिखर पर समादृत करते हैं।

इसीलिए कविता के पारंपरिक पाठक सहज ही मुक्तिबोध के काव्य से जुड़ नहीं पाते। हमारी काव्य परंपरा में भावप्रवणता का विशेष स्थान रहा है, कला में रसात्मक भाव की सुंदर अभिव्यक्ति ही कला का दाय व निकष माना जाता रहा है। यह अलग बात है कि कला को सत्यम्, शिवम, सुंदरम् जैसे मोहक सुविचार से जोड़ा गया, पर सत्य व शिव की अपेक्षा सुंदरता पर ही अधिक एकाग्रता रही। सत्य व शिव मात्र सूक्तियों में ही स्थान पाते रहे।

मुक्तिबोध सत्य के साथ जन के कल्याण की शुभेच्छा ही नहीं रखते, वे उसे हासिल करने की मार्क्सवादी प्रविधि भी अख़्तियार करते हैं। उनके यहां सत्य ही इतना बड़ा आयाम पा जाता है कि सुंदर व शिव के लिए अवकाश सीमित हो जाता है। मुक्तिबोध की कविताओं को यदि हम इस पृष्ठभूमि में पढ़ें और गुनें तो वह मार्ग इतना दुर्गम नहीं रह जाता, जितना दिखायी देता है।

अब प्रश्न उठता है कि मुक्तिबोध की कविताओं में इतनी नकारात्मकता क्यों है? क्यों वे बार-बार अंधेरे का माहौल रचते हैं, क्यों न ख़त्म होनेवाली अंधी-काली सुरंग उगती चली जाती है? क्यों चमगादड़ उड़ते चले जाते हैं? क्यों ब्रह्मराक्षस बार-बार तालाब में सद्यः स्नान करता दिखायी देता है? सीढ़ियां क्यों अतल की ओर जाती दिखती हैं? हज़ार शाखाओं में फैली बरगद की जटाएं घुग्घुओं को क्यों आकर्षित करती हैं? ये सारे शब्द चित्र उनकी कविता में बार-बार आते हैं। उगता हुआ सूर्य कम ही दिखायी देगा। सुंदरता का प्रतीक 'चांद' उनके यहां असुंदर और अशोभनीय होकर उदित होता है। चांद का कटा, काला रूप ही आख़िर मुक्तिबोध को क्यों दिखायी देता है? इन तमाम क्यों-क्यों का उत्तर तत्कालीन समाज के यथार्थ में छिपा है। कुछ क्यों अनुत्तरित भी हैं।

जैसाकि विदित है आज़ादी के मात्र 17 साल बाद ही मुक्तिबोध की असामयिक मृत्यु हो जाती है।

नेहरू की मृत्यु और मुक्तिबोध की मृत्यु एक ही वर्ष में होती है, इसे मात्र संयोग ही कहा जा सकता है। आज़ादी एक लंबे संघर्ष के बाद प्राप्त हुई थी। 1857 से 1947 तक लगभग 90 वर्षों तक चले खूनी व अहिंसात्मक संघर्ष की धार से आज़ादी प्राप्त हुई। आज़ादी के मायने केवल अंग्रेज़ों को भगाना नहीं था, अपितु सच्चा लोकतंत्र स्थापित करना था। संविधान की प्रतिज्ञाएं, 'समाजवादी गणतंत्र' की प्रक्रिया पूरी करनी थी। हर हाथ को काम, हर परिवार को मकान और हर बच्चे को पौष्टिक आहार तथा शिक्षा उस संवैधानिक प्रतिज्ञा का एक अंश था और संकल्प भी, पर अपनी सारी सदिच्छओं के बाद भी नेहरू इन मूलभूत ज़रूरतों को पूरा करने में नाकाम रहे। चीन से पराजय का दंश भी वे झेल रहे थे, दूसरी तरफ़ सामंती शक्तियां अपने उसी रूप में सक्रिय थीं, जातिगत भेदभाव व उत्पीड़न पूर्ववत् था, पंचवर्षीय योजनाएं फलीभूत नहीं हो पा रही थीं। उनका अपेक्षित परिणाम नहीं दिखायी दे रहा था। भूख-कुपोषण से मरते बच्चे, दर-दर भटकते ग़रीब नौजवान, साधारण-सी बीमारी से बूढ़े तथा सामान्य लोगों का बेइलाज मर जाना किसी भी संवेदनशील मन को आकुल, विकल करने के लिए काफ़ी है। रूस की क्रांति ने पूरी दुनिया में एक नया सपना जगा दिया था। समाजवाद संभव है, मज़दूर व किसान का राज संभव है। इन सब संभावनाओं व सपने से कवि मुक्तिबोध अपने को संकल्पित करते हैं। उनकी कविताएं असफलता की करुणा और संभावनाओं की सुगंधित वल्लरी भी हैं।

उनकी एक कविता है : 'पूंजीवादी समाज के प्रति'। मुक्तिबोध की यह कविता एक तरह से उनके काव्य संसार की नींव है। इस कविता में उनके काव्य जगत का बीज तत्व छिपा है।

एक तरफ़ वे पूंजीवादी विकास के लकदक को सामने रखते हैं, यथा :

> इतने प्राण, इतने हाथ, इतनी बुद्धि,
> इतना ज्ञान, संस्कृति और अंतःशुद्धि
> इतना दिव्य, इतना भव्य, इतनी शक्ति,
> यह सौंदर्य, वह वैचित्र्य, ईश्वर भक्ति,
> इतना काव्य, इतने शब्द, इतने छंद

ज़ाहिर है कि पूंजीवाद का भव्यतम रूप रचने के लिए श्रम, कौशल, वैज्ञानिक उपलब्धियों का प्राप्य सांस्कृतिक सौष्ठव और तेजस्वी प्रतिभा की ऊर्जा व अवधारणा इन सबका सम्मलित रूप व तालमेल ही एक लकदक-सा दिखने वाला वैभव रचता है। ज़ाहिर है कि ये सारे परोक्ष व अपरोक्ष तत्व सहायक हैं। श्रम को बेचनेवाले, श्रम चाहे शारीरिक हो या बौद्धिक इसमें से कोई इस वैभव व भव्यतम का भोक्ता नहीं है। सभी मात्र उपकरण ही हैं। भोक्ता पूंजी का नियंता है और पूंजी का विकास व संचय उसके एकाधिकार का आर्थिक व वैधानिक स्रोत व वैधता की मुहर भी है। इसमें लिजलिजी मानवता की गूदड़ भी है और ईश्वर के प्रति उपकार भाव भी। इसमें ढोंग व कलात्मक व सांस्कृतिक अभिव्यक्तियां भी हैं। इसमें भोग का परम तृप्त भाव जो बाहर से दिखता है, पर वास्तव में वह परम अतृप्त है क्योंकि बार-बार वह पूंजी के संग्रहण का, लाभ का और अधिक चालाक व कठोर विधान रचता है। जैसाकि विदित है, बेशी मूल्य से ही पूंजी संचित होती है और बेशी मूल्य उत्पादन का दूसरा और सबसे बड़ा वर्ग है (जिसमें शक्ति व साधन भरपूर होते हैं) श्रमिक या मज़दूर। इस वर्ग की उत्पादन में सबसे महत्वपूर्ण भूमिका होती है, पर शोषण की मार सबसे अधिक इसी वर्ग को झेलनी पड़ती है। यहां यह कहना अप्रासंगिक नहीं होगा कि मानेसर का मारुति प्लांट जो कि कार बनानेवाली देश की सबसे बड़ी कंपनी है, अपने मज़दूरों

को पिटवाती है, हड़ताल करने पर मार-मार कर बाहर कर देती है और अदालत में फ़रेब कर उन्हें दंडित भी करवाती है। होंडा कंपनी के हड़ताली मज़दूरों को बाड़े में घेर कर पुलिस की बर्बर पिटाई का दृश्य किसी भी संवेदनशील मन और स्मृति से कभी मिट नहीं सकता। कहने का तात्पर्य यह है कि शोषण का रूप कई स्तरों पर घटित होता है। कम मज़दूरी, कार्य की अमानवीय स्थिति, और पर्यावरण व मानवाधिकार का खुल्लमखुल्ला उल्लंघन, ये सब इस पूंजीवादी व्यवस्था के कुछ वीभत्स रूप हैं। मुक्तिबोध इस व्यवस्था के छल को, ढोंग को और तथाकथित वैष्णवी प्रपंच को अपनी विलक्षण रचना दृष्टि से देखते हैं। जैसे ही उन्हें यह सब दिखता है, एक्सरे की तरह इनके भीतर की सड़ांध दिखायी देती है, वैसे ही वे उबकाई से भर उठते हैं। ज़ाहिर है दूसरों के पास जो लकदक है उसके पार जाने की न तो जिज्ञासा है और न दृष्टि। वे उसी लकदक शब्दों में रम जाते हैं। मुक्तिबोध ऐसे रचनेवाले को भी नहीं बख्शते। वे कहते हैं :

जितना ढोंग, जितना भोग है निर्बंध
इतना गूढ़, इतना गाढ़, सुंदर जाल
केवल एक जलता सत्य देते टाल

यहां भोग निर्बंध है, सत्ता के सभी उपादान इस निर्बंध भोग को जारी रखने की शह देते हैं, उसे संपत्ति के अधिकार की वैधानिक स्वीकृति देते हैं।

मुक्तिबोध कहते हैं, यह शोषण तंत्र गूढ़ भी है और गाढ़ भी है। इस गूढ़ता को देखने के लिए रसायनविद की ज़रूरत होती है। गाढ़ को पतला करने के लिए समाज विज्ञान के जटिल शास्त्रों का सहारा लेना पड़ता है, तभी हम 'गूढ़ और गाढ़ को सरल, तरल व पतला बना सकते हैं। पूंजी गाढ़ हो कर एक जगह ठहरी हुई है। कुछ हिस्सा रिस कर नीचे की तरफ़ आता है। वे उसे पिघला कर बहाना चाहते हैं ताकि उत्पादन के सभी परोक्ष व अपरोक्ष स्वामी अपना-अपना घट भर सकें।'

वे कहते हैं, यह सुंदर जाल है, जिसमें 'फंसना' न फंसने जैसा आभास देता है। क्या कारण है कि आज एक छोटी-सी नौकरी पाने के लिए लोग किस तरह का दंद-फंद करते हैं। पर कुछ ही दिनों में ये लोग विरोध के स्वर को मुखर करने में अपने को समर्थ पाते हैं। उन्हें कभी-कभी इस बात का भी भय नहीं रहता कि नौकरी रहेगी या जायेगी। वे धरना, हड़ताल, प्रदर्शन आदि करते हैं। नौकरी पाने और बाद की स्थितियों को आप देखिए। इसीलिए मुक्तिबोध इसे सुंदर जाल कहते हैं, जो दाना दिखाकर फंसा लेता है। मुक्तिबोध इस प्रक्रिया को बखूबी देखते व दिखाते हैं तथा आगाह भी करते हैं। आख़िर एक संवेदनशील कवि आगाह करने के अलावा और कर ही क्या सकता है? वे अपनी घृणा व्यक्त करते हैं। कहते हैं :

छोड़ो हाय, केवल घृणा औ' दुर्गंध
तेरी रेशमी वह शब्द संस्कृति अंध
देती क्रोध मुझको खून जलता क्षोभ
तेरे रक्त में भी सत्य का अवरोध
तेरे रक्त से भी घृणा आती तीव्र
तुझको देख मितली उमड़ आती शीघ्र

तेरे हास में भी रोग कृमि हैं उग्र
तेरा नारा तुझ पर क्रुद्ध, तुझ पर व्यग्र।

मुक्तिबोध एक रसायनविद की तरह, एक भौतिकशास्त्री की तरह पूंजीवादी समाज का आंतरिक विश्लेषण करते हैं। जबकि अधिकतर लोग बाह्य के भव्यतम से ही विस्मित हो उसका गुण गाने लगते हैं।

तेरी रेशमी शब्द संस्कृति...

रेशमी शब्द संस्कृति रचने वाले, व्याख्यायित करने वाले और उसे सराहने वाले कम नहीं हैं।

यहां मुझे सुमित्रानंदन पंत की कुछ पंक्तियां बरबस ही याद आ जाती हैं :

छोड़ द्रुमों की मृदु छाया
तोड़ प्रकृति से भी माया
बाले तेरे बाल जाल में
कैसे उलझा हूं लोचन...

या जय शंकर प्रसाद की पंक्तियां :

हिमगिरि के उत्तुंग शिखर पर
बैठ शिला की शीतल छांह
देख रहा था भीगे नयनों से
प्रलय प्रवाह

या कि

तरनि तनुजा तट तमाल तरुवर बहु छाये

इसी संदर्भ में हरिवंश राय बच्चन की पंक्तियां याद आ रही हैं :

आ रही है रति की सवारी
तारकों की फौज सारी छोड़ कर मैदान भागी

इसी तरह की अभिव्यक्ति अज्ञेय के यहां भी मिलती है :

सो रहा है झोंप अंधियारा नदी की जांघ
पर
चाह से सिहरी हुई है चांदनी
चोर पैरों से उझक कर झांक जाती है
प्रस्फुटन के दो □- का मोल शेफाली
विजन की धूल पर चुपचाप
अपने मुक्त प्राणों से अजाने आंक जाती है

ये कुछ उदाहरण हैं रेशमी शब्द संस्कृति के। ऐसा नहीं है कि उपर्युक्त कवियों ने सार्थक नहीं लिखा है। ये सभी हिंदी की थाती हैं। पर रेशमी शब्द संस्कृति के व्यामोह से नहीं बच सके।

दूसरी तरफ़ मुक्तिबोध कहते हैं : तुम्हारी रेशमी शब्द संस्कृति अंध है, उसे दूसरा खुरदुरा, अनगढ़

नहीं दिखायी देता। उसे टाट, बोरा, जूट से बनी वस्तुएं अस्पृश्य हैं, जबकि आज़ादी के बाद की अस्सी प्रतिशत जनता बोरे को बिछा कर सोती थी। टाट पर बैठकर आज भी ग्रामीण छात्र पढ़ते हैं। कवि इस गहरी असमानता को न देख पाने पर रेशमी संस्कृति रचने वालों पर क्षोभ व क्रोध व्यक्त करता है।

पूंजीवाद की बुनियाद में ही असत्य है और यह असत्य, झूठ उसकी हर अभिव्यक्ति में दिखायी देता है। मुक्तिबोध कहते हैं :

तेरे रक्त में भी सत्य का अवरोध

सत्य का अवरोध बेशी मूल्य जैसी ठोस आर्थिक अवधारणाओं पर टिका है। वहां उत्पादन मूल्य से कई-कई गुना बिक्री मूल्य तय किया जाता है और लकदक छलावे, विज्ञापन से उपभोक्ता को ठगा जाता है। इसीलिए कवि कहता है :

तेरे रक्त से घृणा आती है
तुझको देख मितली आती है शीघ्र

कवि अपनी उबकाई को रोक नहीं पाता। उसका वमन भले ही वितृष्णा पैदा करे, पर वमन कर के वह अपनी अजीर्णता से कुछ राहत तो पाता है।

मैंने स्वयं देखा है कि गांव में अन्याय की शिकार लाचार औरतें जब कुछ नहीं सूझता तो शाप देती हैं, गालियां देती हैं और अन्यायी के नाम पर थूकती हैं। दूसरों से गुहार लगाती हैं। मुक्तिबोध पूंजीवादी अन्यायी व्यवस्था के ख़िलाफ़ गुहार लगाते हैं, थूकते हैं और दूसरों को सुंदर जाल की क्रूरता समझाने की ईमानदार कोशिश करते हैं। आगे की पंक्तियों में वे कहते हैं :

तेरे हास में भी रोग कृमि हैं उग्र
तेरा नाश तुझ पर क्रुद्ध, तुझ पर व्यग्र

जिसे हम तेरा निर्मल हास समझते हैं, उसमें संक्रमित रोगाणु हैं। पाइरिया की भयानक 'बू' है। उस अट्टहास में एक निर्ममता छिपी है। कहते हैं जब मनुष्य हंसता है तो वह अपने सहज रूप में होता है। व्यक्ति की निर्मल हंसी उसे उन्मुक्त बनाती है। दूसरी तरफ़ इस तंत्र में एक इंच मुस्कान ही है, उसकी हंसी मन की हंसी नहीं है, दूसरों को छलकर अपने को कामयाब बनाने की छलपूर्ण हंसी है, इसमें छल, छद्म और ओढ़े हुए शिष्टाचार की एक इंच मुस्कान वाला ढोंग छिपा है। इसीलिए कवि को कृमि की उग्रता का एहसास होता है और वह उसके नाश की कामना करता है। कविता की अगली पंक्तियों में वे परिवर्तन व क्रांतिकारी शक्तियों को एकाकार करने का दृढ़ संकल्प दुहराते हैं। वे कहते हैं :

मेरी ज्वाला, जन की ज्वाल होकर एक
उपजी उष्णता से धो चले अविवेक
तू मरण है, तू है रिक्त, तू है व्यर्थ
तेरा ध्वंस केवल एक तेरा अर्थ।

अब प्रश्न उठता है कवि की ज्वाला क्या है? क्यों वह जन की ज्वाला से एक होना चाहता है। वास्तव में कवि की ज्वाला उसकी बौद्धिक रचनाशीलता है, उसका विवेक और इतिहास की समझ है। वह अपनी इसी ज्वाला से अपने को संपृक्त करता है, वह जानता है कि एक अकेले की ज्वाला तीली की तरह कुछ

देर जल कर बुझ जायेगी। कवि देख रहा है जन का धधकता ज्वाल और वह उसमें अपनी उष्णता, ऊर्जा शक्ति, क्षमता, चेतना सब कुछ न्योछावर करता है ताकि पूंजीवादी समाज व तंत्र का अविवेकपूर्ण शोषण ख़त्म हो। वह उस गंदे, दूषित तंत्र का निर्मलीकरण करना चाहता है। ज़ाहिर है कि यहां धोना मात्र बाह्य नहीं है। वह दूषित रक्तकण जिसमें शोषण के विषकारी अशुभ रसायन हैं उन्हें भी कवि शुद्ध करना चाहता है। वह उस तंत्र के अविवेक को संवेदनशील और विवेकवान बनाना चाहता है ताकि मानव की उच्चतम गरिमा सुरक्षित रह सके और पुष्ट भी। मनुष्य की गरिमा का संबंध मात्र भावनात्मकता से नहीं है। मनुष्य गरिमामय तभी होगा, जब वह भौतिक, बौद्धिक, आध्यात्मिक व सांस्कृतिक वैभव को प्राप्त करेगा, तभी उसकी सामाजिकता सभ्यता के शिखर पर होगी। तभी वह अपनी रचनात्मक शक्ति का, कौशल का सर्वोच्च समुच्चय समाज को दे सकेगा।

कुछ लोग मार्क्स के दर्शन को आर्थिक समानता के दर्शन तक सीमित कर के देखने की असीम भूल करते हैं। वास्तव में आर्थिक समानता उस दर्शन की बुनियाद है। मार्क्स के दर्शन का वास्तविक लक्ष्य उच्चतम मानवीय गरिमा है। मनुष्य का उच्चतम विकास है और यह विकास अर्थ तक सीमित नहीं है। हां, अर्थ एक साधन है, सर्वोच्च के सृजन का और यह सृजन उपकरणों का सृजन नहीं, यह सृजन चेतना के ऊर्ध्व का है, यह सृजन प्रकृति की विराटता से, उसकी सृष्टि से साहचर्य, संगति और लय का है। यह दर्शन मानव समाज के भीतर छिपी विराट उत्कृष्टता को व्यक्त करने का है। सौंदर्य की चाहना और प्रतिष्ठा का है। मनुष्य की बाह्य व आतंरिक क्षमताओं के सर्वोच्च निकष का दर्शन है। शिक्षा, स्वास्थ्य, आवास, ये सब आवश्यक उपादान हैं। पर आवश्यक है जाज्वल्यमान चेतना। मार्क्सवादी दर्शन उस चैतन्य को हर उर में प्रज्ज्वलित कर सर्वोत्तम, शुभ व कलात्मक रचने का आह्वान करता है। वह सभ्यता का नहीं संस्कृति की उत्कृष्टता का दर्शन है। मुक्तिबोध इसीलिए जन की ज्वाला से एकाकार होना चाहते हैं, ताकि वे मानव को उसकी मानवीय गरिमा से शोभित कर सकें।

मुक्तिबोध की मार्क्सवादी विचार सरणि में दृढ़ आस्था है। इसीलिए वे घोष वाक्य दुहराते हैं : तू पतनशील, मरणशील संस्कृति का वाहक है। तुम्हारी चेतना स्वार्थ से सिक्त और वृहत्तर समाज की विकलता से रिक्त है। तुम्हारी बौद्धिकता से सौंदर्य नहीं, शुभ नहीं अपितु निहित स्वार्थ का ही बेसुरा राग सुना जा सकता है। लाभ पर केंद्रित चेतना को यहां कवि रिक्त कहता है। जैसाकि विदित है, पूंजीवादी प्रणाली सतत् लाभ चाहती है। और लाभ का प्रतिशत उत्तरोत्तर विकसित हो, उसकी चेतना में, कल्पना में प्रकृति का विराट सौंदर्य नहीं रहता, वह सृजनात्मकता से रिक्त होता है। इसीलिए मुक्तिबोध उसके नाश की कामना करते हैं और उस प्रक्रिया में शामिल होने को व्यग्र हैं।

'तू है मरण, तू है रिक्त, तू है व्यर्थ'□और जो रिक्त होगा वह व्यर्थ भी होगा। व्यर्थ इसलिए है क्योंकि इससे जन का कल्याण नहीं किया जा सकता। व्यर्थ इसलिए है क्योंकि इससे प्रकृति का क्षय होता है। व्यर्थ इसलिए है क्योंकि यहां कुदरत से लेकर जन-जन का भयानक और अंतहीन शोषण है। व्यर्थ इसलिए है कि इससे मनुष्य की गरिमा हत होती है। इसीलिए कवि उस व्यर्थ, मरण और रिक्त को शीघ्रातिशीघ्र नष्ट करना चाहता है। अंत में वे कहते हैं :

'तेरा ध्वंस केवल एक तेरा अर्थ'□पूंजीवादी व्यवस्था का ध्वंस ही मानव समाज का सच्चा अर्थ है। ध्वंस के अतिरिक्त और कुछ नहीं और कवि अपने जीवन के अर्थ को उसके ध्वंसात्मक अर्थ से जोड़कर देखता है।

हर संवेदनशील रचनाशील मन ऐसी व्यवस्था का ध्वंस चाहेगा ताकि एक अर्थवान सृष्टि की, समाज की व्यवस्था की रचना की जा सके।

मुक्तिबोध हिंदी के उन विरल कवियों में हैं, जिनके यहां मार्क्सवादी विचार सरणि यानी द्वंद्वात्मक भौतिकवाद का सही प्रयोग हुआ है। वे इसे प्रविधि की तरह इस्तेमाल नहीं करते, जबकि बहुतेरे इसे प्रविधि की तरह इस्तेमाल करते हैं। मुक्तिबोध की जीवन दृष्टि और रचनात्मक शक्ति स्रोत इसी द्वंद्वात्मकता से पगी है, संभवतः इसीलिए उनकी हर (कविता, कहानी या कि आलोचना, इतिहास) रचना में द्वंद्व का सूक्ष्म रेशा दिखायी देता है। और यह रेशा अटूट और प्रबल है। ज़रूरत है अपने समय व पूंजीवादी शोषक विधान की दृश्यवान व अदृश्य चालक शक्तियों की पहचान करने की, उन्हें विश्लेषित करने की ताकि हम मुक्तिबोध की जटिल-सी लगने वाली कविताओं को आस्वादन से ज़्यादा परिवर्तनशील मन से जोड़ सकें और परिवर्तनकारी शक्तियों से एकाकार हो सकें।

फोन : 09930998587

मुक्तिबोध : कुछ केंद्रीय अभिप्राय

सुमनिका सेठी

कहा जाता है कि मुक्तिबोध ने ताउम्र एक ही व्यापक कविता लिखी है, तरह-तरह से, अलग-अलग जीवन-छवियों में। कभी यहां तो कभी वहां से वे उसमें प्रविष्ट होते हैं, पर जो दवी हायहाय है, कातरताएं और छटपटाहटें हैं, दुष्टवत भूलें हैं, वे तमाम विराटता और छवियों की अनेकता के बावजूद बार-बार प्रकट होती हैं और कवि तथा पाठक दोनों को हांट करती हैं। अतः ऐसे में उनके इस काव्य स्केप में कुछ अभिप्राय (मोटिफ़), कुछ लेंडमार्क्स तलाश किये ही जा सकते हैं। 'अंधेरे में' कविता इस तमाम विस्तार को आंकने में सहायक होती है□जिसमें पहाड़ियां, टेकड़ियां, झीलें, मैदान, गहरे गढ़े और लंबे फैलाव हैं।

मुक्तिबोध की कविता में एक पोट्रेट है□उदास रंगों में जिसके चेहरे के नक्श अंकित हैं। आंखें अवसाद ग्रस्त ओर शून्य में तकती सी हैं। चेहरा पीला और माथे पर गहरी जम चुकी शिकनें हैं। उसकी देह मुद्रा भी शिथिल सी, झुकी सी, किसी अनाम बोझ को ढोने की सी है। कई तहों वाला यह एक मानस है, एक व्यक्तिमन या फिर 'मैं' या आत्म, जिसके मोह मंथनों और जटिलताओं की, उनकी कविता गहरी मैपिंग करती है। इस उदास छवि की गहरी सी खांस है जो जीवन-जगत को देखती है। यह जगत् तो उस मानस ही की तरह विभाजित, कई तहों वाला और जटिल है। इस जगत की तिलस्माती और भयावह, नर्म एवं खुरदुरी, प्यारी और खूबसूरत सच्चाइयों से इस व्यक्ति की आंख रूबरू होती है। यह पोट्रेट किसका है? क्या ये व्यक्ति मुक्तिबोध हैं□उन्हीं का अपना मानस है या उसमें तमाम मध्यवर्ग के प्राण समा गये हैं। एक ऐसा 'आम-जन' जो रोज़ी-रोटी की फ़िक्र में लगा, रोग-बीमारी, कर्ज़, बच्चों की पढ़ाई, गृह कलह से लड़ता हुआ जीने के लिए हर रोज़ लाख समझौते करता, महत् इच्छाओं को मारता और छोटी मोटी राहतें खोजता। एक ऐसा चेहरा है जिसमें मुक्तिबोध और हमारे आपके नक्श घुलमिल गये हैं। गरम चाय और बीड़ी पीने की तलब उनकी कविताओं और उपन्यास-कहानियों में कितनी बार भड़कती है और बड़े सरोकार पलते जाते हैं। क्षण के सुख के लिए ऐतिहासिक वेदनाएं दबी रह जाती है।

इस मानस को कठिन जीवन संघर्षों ओर निस्सार जीवन क्रम के आघातों ने बीच से तोड़ दिया है। एक गहरी दरार पैदा कर दी है। सामाजिक और निजी क्रूरताओं को सहते-सहते उसके सामाजिक रिफ़्लैक्सिज़ इस कदर शिथिल हो गये हैं कि कुल जमा वह निष्क्रियता, संवेदनहीनता तथा असंगता निसंगता की धूसर धूल खायी तस्वीर बन गया दिखता है।

लेकिन वह उसका वास्तविक रूप तो नहीं था। उसका वह मन जो कभी बेहद सुकोमल था, स्वप्नशील था, जनकरुणा की ओस में भीगा था, अब जड़ हो चुका है। इसके चारों तरफ़ मकड़ी के जाले हैं□बल्मीक की कठोर हो चुकी धूल की परतें हैं। ये परतें इतनी सख़्त हो चुकी हैं कि उसका प्यार-भरा, ज्ञानमय और सकर्मक मन अचेतन में कहीं गहरे डूब चुका है□या तहों में किसी पुरानी सभ्यता के अवशेष सा खो गया है□भुला दिया गया है कि आज अपने ही उस रूप से हमारा परिचय टूट चुका है। यह एक तरह का फ़ासला है जो अपने ही मूल रूप से बना रहता है। मुक्तिबोध के तमाम काव्य में फ़ासलों की वेदना चिलचिलाती रहती है।

यह सही है कि चिलचिला रहे फ़ासले
तेज़ दुपहर भरी

अपने उपन्यास, *विपात्र* में वे इन विडंबनात्मक फ़ासलों (पता नहीं) को बाक़ायदा सूत्रबद्ध करते हैं। ये फ़ासले तीन तरह के हैं। पहले को वे अक्षांश वाले फ़ासले कहते हैं, जो सत्ता वर्ग, हैसियत या शक्ति के मापदंड में उपजे हैं और समाज को अनेक तहों में बांट कर शोषण के अनिवार क्रम को सिरजते हैं। दूसरी तरह के फ़ासलों को वे देशांश वाले फ़ासले कहते हैं, जो समश्रेणी लोगों के बीच का अलगाव और दूरियां बनाये हैं। और अंतिम सबसे सूक्ष्म रूप है अपने ही दैनिक अस्तित्व ओर मूल व्यक्तित्व के बीच का फ़ासला। इनमें से कौन सा कम ट्रैजिक है□कहना मुश्किल है।

अतः उनके काव्य में अपने आत्म रूप से निर्वासित, अपने से अलग हुए 'मैं' की अनेक छवियां हैं। अनिश्चय, घिराव, कमज़ोरी का अहसास (घुटनों का दर्द) और उन्हीं से लगाव तथा सबसे बढ़कर अवसादग्रस्तता, उसके अनेक पक्ष हैं। उसके आसपास मानो एक अबूझ निकटता पसरी है। लेकिन मुक्तिबोध के काव्य में यह व्यक्तिव सबका ऐसा ही बना नहीं रहता... उसकी छवि धीरे-धीरे क्रमिक रूप से बदलती है□जब-जब अपने मूल रूप से उसका अचेतन सामना होता है।

मैं तो नायक है ही, याद करिए 'अंधेरे में' का एकांतप्रिय कलाकार

वह कलाकार था
गलियों के अंधेरे का हृदय में भार था।
पर, कार्य क्षमता से वंचित व्यक्तित्व
चलाता था अपना असंग अस्तित्व

बधिक सत्ता अपने में द्युतिमान उस सितारे को आसानी से मार डालती है। एक ही बार और माथे के बीचों-बीच सूराख हो जाता है। ऐसी ही असामान्य एवं एकाकी, भयावह और दीन मृत्यु ब्रह्मराक्षस की भी होती है :

जो सघन झाड़ी के कंटीले तम विवर में
मरे पक्षी सा विदा ही हो गया

क्या ये सब मनोवैज्ञानिक रूप से न्यूरोटिक, दोस्तोयवस्की के पात्रों की आंतरिक छटपटाहट को मूर्त करने वाले ट्रैजिक नायक नहीं हैं? लेकिन ट्रैजेडी होकर भी मुक्तिबोध में ट्रैजेडी से बाहर निकलने के अचेतन स्वप्न हैं। अनेक तरह के शेड्ज़ हैं अंधेरों के □पर कुछ है जो रह रहकर कौंधता है□कभी जुगनू, कभी

टार्च तो कभी मशाल की रोशनी में एक प्रदीप्त चेहरा। इस असंगत व्यक्तित्व के जीवन में एक अवचेतन व्यक्तित्व रहस्य बनकर उभरता है□डूब जाता है। चेतना में हल्की खलल बन कर फिर दृप्त हस्तक्षेप करने लगता है मानी कोई भूत-बाधा हो। लेकिन अपना ही रूप पहचान में कहां आता है! वह तो हमारे लिए एक 'अन्य' ही है जिससे कतराते और भागते हैं क्योंकि वह हमारे उस रूप से इतना भिन्न जो दिखता है

परम सुंदर आलोक भरी आंखें, चमकता ओजपूर्ण माथा-लेकिन फिर भी गुरबत का वेश धारण किये भव्यता और द्युतिमयता...

मुक्तिबोध की कविता उन विकृत आइनों की बात करती है (आत्मदृष्टि) जिनमें अपना चेहरा दिखता ही नहीं। दिखता है तो बहुत बड़ा या फूला-फूला (आत्म का महिमामडन-स्वैलिंग ऑफ इगो) या फिर विकलांग या छोटा-छोटा सा□

जो दीखता है वह
विकृत प्रतिविंब है उद्‌भ्रांत
ऐसा क्यों?

'अंधेरे में' का यह पात्र अधमरा सा, घोर असमर्थता से घिरा, क्षतविक्षत, ज़मीन में धंसा सा महसूस करता है, जब बाहर से सांकल बजती है (प्रोस्ट्रेशन)। टालना, कतराना, डरना उसके सामान्य रिफ़लेक्सिज़ हैं तथा स्थाई भाव हैं□आत्मदया, असमर्थता बोध और जोख़िमों का भय।

मुक्तिबोध ने आधुनिक मन के भीतर भय का जैसा भाष्य किया है□शायद ही किसी ने किया हो। उनके पात्र अक्सर इस भय की चर्चा करते हैं कि गर यह न होता तो हम कुछ और होते, हमारे संकल्प और जीवन की दिशाएं और होतीं। भय ने हमारे आवेगों को, करुणा और स्वप्नों को किस कदर रुद्ध कर रखा है। यह और बात है कि यह पात्र घुटनों की कमज़ोरी, चेहरे की रक्तहीनता को पोंछता किसी तरह, बमुश्किल दरवाज़ा खोलता है और आत्मबद्धता और आत्मसंकोच के दायरे से एक कांपता पैर बाहर रखता है।

यानी मुक्तिबोध ने जो पोर्ट्रेट (सेल्फ़ पोर्ट्रेट) रचा है, उसमें संवेदनशील मानस की जड़ताएं, तमाम विकृतियां, पलायन एवं कायरताएं, सुविधापरस्ती और उद्‌भ्रांतता और विखंडित मानसिकता, शक्ल और मुद्रा, गति और व्यवहार धारण करती हैं।

आत्मबद्धता के दायरे से बाहर निकलने के बिंदु से एक दूसरा महत् अभिप्राय उनकी कविता में फूटता है□और यह है□अनुगतता का अभिप्राय। बार-बार वे कहते हैं कि आत्मीय एक छवि तुम्हें भटकायेगी। उसके पीछे जाना होगा :

वह निकल गया है गांव में, शहर में!
उसको तू खोज अब
उसका तू शोध कर
वह तेरी पूर्णतम परम अभिव्यक्ति,
उसका तू शिष्य है (यद्यपि पलातक)
वह तेरी गुरु है / गुरु है...

यह शिष्यत्व, यह अनुगतता, यह शोधकता उनकी कविता में हर जगह है। अजब बात है न कि वे एक बार भी मसीहाई मुद्रा धारण करते नहीं दीखते□कभी ऊंचे आसन पर खड़ा महसूस नहीं करते□सदा सर्वहारा के श्रम के, दुखों के, प्यार और तजुर्बों के सामने नतमस्तक रहते हैं :

मुझे भ्रम होता है कि प्रत्येक पत्थर में
चमकता हीरा है;
...प्रत्येक वाणी में
महाकाव्य पीड़ा है

बहुत अच्छे लगते हैं
उनके तजुर्बे और अपने सपने...
सब सच्चे लगते हैं... ('मुझे क़दम-क़दम पर')

सर्वहारा की आत्मीय छवियों और शक्तियों से एकाकार होने की खोज निरंतर और अनंत है :

पता नहीं, कब कौन, कहां किस ओर मिले
किस सांझ मिले किस सुबह मिले। ('पता नहीं...)

वह जो जगत की गलियों में घूमता है प्रतिपल
वह फटेहाल रूप... ('अंधेरे में')

मुक्तिबोध 'एक साहित्यिक की डायरी' में लिखते हैं कि सर्वहारा से ही दुखों में जीने की, लड़ने की, गहन प्रेम करने की क्षमता सीखी जा सकती है। उनकी हर कविता इस भोले भाव की करुणा की क्रांतिकारिता को नमन करती है□सिद्ध करती है :

जिंदगी में जो कुछ है, जो भी है
सहर्ष स्वीकारा है
जो कुछ भी जाग्रत है अपलक है
संवेदन तुम्हारा है
मुस्काता चांद ज्यों धरती पर रात-भर
मुझ पर त्यों तुम्हारा ही खिलता वह चेहरा है

'अतःकरण का आयतन' में उनकी छांह न जाने कहां-कहां उड़ती फिरती है :

नाना देश-दृश्यों में
अजाने प्रियतरों का मौन चरण स्पर्श
उनका अनुभवात्मक ज्ञान-संवेदन
समूची चेतना की आग
पीती है।

वह अपनी सृजनात्मकता को उसी से पाते हैं□वे गऊ चेहरे, भयभीत आंखों वाले हंस और घाव भरे कबूतर, नीचे, टूटे, अंधेरे, झुके घरों के वासी-ढिबरियों की पीली लौ में दिखते हैं और वे कहते हैं :

अंधा हूं
खुदा के बंदो का बंदा हूं बावला...

और फिर यह ब्रह्मराक्षस के ज्ञान के सामने भी तो नतमस्तक है और उसके अंधूरे कार्य को पूर्ण करने की मार्मिक प्रार्थना करता है :

मैं ब्रह्मराक्षस का सजल उर शिष्य
होना चाहता
कि उसकी वेदना का स्रोत
संगत पूर्ण निष्कर्षों तलक
पहुंचा सकूं।

उनकी कविता का एक और बेहद मर्मस्पर्शी मोटिफ़ है मृत्यु का और उसी से फूटने वाले नव जीवन का। कोई इसे अध्यात्मवादी या ईसाई उत्स का कह सकता है, पर मुक्तिबोध में इसका आशय मुक्तिबोधीय ही है□अर्थात् मानव इतिहास, द्वंद्व और वर्ग संघर्ष से जुड़ा हुआ। मृत्यु के, हत्या के, शहादत के अनेक मार्मिक बिंब उनकी कविताएं सिरजती हैं :

जहां भी डालती वह दृष्टि
संवेदन-रुधिर-रेखा रंगी तस्वीर तिर जाती
गगन में भूमि पर सर्वत्र दिखते हैं
तड़प भरते हुए प्रतिबिंब
जग उठते हुए श्रुति बिंब
दोनों की परस्पर गुंथन
या उलझाव लहरीला

उनकी एक कविता 'रात, चलते हैं अकेले ही सितारे' तो हृदय के टुकड़े को धरती की गोद में सुलाने का इतना यथार्थ रेखाओं वाला, इतना दर्दीला, इतना गहरे रंगों वाला वर्णन करती है कि हृदय टूक-टूक हो जाता है :

हमारी आंख सा अपना
वही चेहरा जरा सिकुड़ा
पड़ा था पीत,
अपनी मृत्यु में अविभीत।

'एक भूतपूर्व विद्रोही का आत्मकथन' में भी कई विद्रोही सामंतीय ढांचे के भरभराने के साथ दबकर मर जाते हैं□ लेकिन फिर भी इन रहस्यमय पुरुषों के पंजर, फ़ॉसिल बनकर जी उठते हैं

ज़मीन में गड़ी देह की खाक से
खिलेंगे गुलाबी फूल।

सर्वहारा की ठठरियों का, पीड़ाओं और रुदन का, और उनके रक्त का रंग जगह-जगह है। 'बहुत शर्म आती है' में वे लिखते हैं :

देखी मैंने वह सांझ
जमा था जिसके लंबे विस्तारों में
केवल मौन तुम्हारा खून।

और ज्यों ही उनकी कविता अप्रत्यक्ष संवेदन के रूप में जब-जब उजाड़ भग्न विस्तारों में पहुंचती है, तो मानो मृत्यु को ही महसूस करती है।

उनके इर्द-गिर्द रक्तभरे महाकाव्यों के पन्ने फड़फड़ाते हैं। लेकिन फिर यह करिश्मा होता है कि वे सब मर कर भी इतिहास में जी उठते हैं, ज़मीन फोड़कर खड़े हो जाते हैं, कुहरे से ठोस पाषाण बन जाते हैं। 'अंधेरे में' में शिशु के बिंब और क्रांति का स्वप्न इस पुनर्जीवन का ही तो अक्स है। यानी मृत्यु-एक रूपकात्मक मृत्यु एक ओर तो साधारण जन एवं मध्यवर्गीय अर्थ में है, तो दूसरी ओर सत्ता एवं शक्तिशाली वर्ग में भी। पहले अर्थ में यह अपने ही आत्मज-आत्मसत्य को अपने हाथों धरती की गोद में दफनाने की बात है। और अब जो जीवन चलता-फिरता दिखायी पड़ता है, वह एक प्रेत जीवन है। हम सब कहीं न कहीं अपने ही शबों को, मृत्यु को, कंधों पर उठाये एक प्रेत जीवन जी रहे हैं।

लेकिन यह आत्मसत्य कभी न कभी मुक्तिबोध की कविता में, जीवन में फिर से देहाकार धारण करता है, पुनरुज्जीवित होता है, प्रकट होता है और इस मृत्यु को वास्तविक जीवन में बदलता है। तो यह मृत्यु शोषण के क्रम और दुर्दमनीय संघर्षों से पैदा हुई वेदनाओं का फल है। मुक्तिबोध दुखों का महिमामंडन नहीं करते। वे मानते हैं कि निरंतर असह्य वेदनाओं का प्रभाव संवेदनहीनता और जड़ता में होता है। ऐसे में व्यक्ति आत्मबद्ध हो जाये तो बड़ी बात नहीं। दूसरी ओर की नैतिक मृत्यु, सत्ता और प्रभुताशाली वर्ग में घटती है और वासनाओं का अतिरेक उसका कारण है। 'अंधेरे में' के 'मैं' की असंग जीवन और एकांत प्रिय कलाकार की मृत्यु अगर पहली मृत्यु के उदाहरण हैं तो रात में चलने वाला जुलूस शोषक शक्तियों के 'मृतदल की शोभायात्रा' का ही तो वर्णन है। संकेत और भी हैं जैसे

कोलतारी सड़क मानो मरी हुई खिंची हुई
कोई काली जिह्वा....
बिजली के द्युतिमान दिये या
मरे हुए दांतों का चमकदार नमूना... ('अंधेरे में')

एक अंतिम बात मुक्तिबोध के काव्य के विराट भूदृश्य की या आंतरिक की हो सकती है। उनकी कविता का भूगोल पूरे ब्रह्मांड तक पसरा है□पृथ्वी के प्रसारों को समाये हुए। *एक साहित्यिक की डायरी* में वे अपने एक मित्र के बारे में जो कहते हैं□वह स्वयं उनके लिए सच है। वे कहते हैं कि विचार एवं अनुभूतियां उसके लिए न विचार थे, न अनुभूतियां हैं। वे उसके मानसिक भूगोल के पहाड़, चट्टान, खाइयां, ज़मीन, नदियां, झरने, जंगल और रेगिस्तान थे। अपने भावों, विचारों को केवल प्रकट ही नहीं करता, वह उन्हें स्पर्श करता था, सूंघता था, उनका आकार प्रकार, रंगरूप और गति बता सकता था।

तो उनको कविता का भूगोल बड़ा व्यापक है□कविता की छाया पूरी दुनिया-पूरे अंतरिक्ष में भटकती है-कभी मैदानों और जंगलों में, सागरों के पार और ऊंचे नील पर्वतों पर तो कभी क्षितिज में मंडराते बादलों के बीच, तो कभी पाताली अंधेरों, गुहाओं, विवरों, कुओं, पोखरों, वाबड़ियों के तलों में प्रविष्ट होती है।

मेरी छांह सागर, तरंगों पर भागती-जाती
दिशाओं पार, हल्के-पांव...
नाना देश-दृश्यों में...

अंजाने रास्तों पर रोज़
मेरी छांह यूं ही भटकती रहती

मुक्तिबोध का यह ठोस देश-रूप या वास्तु रूप उनकी कविता का रूप नहीं बल्कि संवेदनात्मक अंर्तवस्तु है। उनके अभिप्राय इन्हीं में प्रत्यक्षतः बिंबित होते हैं क्योंकि वे कविता में कहते नहीं बिंबित ही करते हैं।

पहली बार उन्ही की कविता में आधुनिक शहरी स्केच उभरते हैं, जिनमें गलियां, चौराहे, मकान वग़ैरह अपनी ठोस उपस्थिति जताते हैं; वास्तुरूपों के उनके डिटेल्ज़ काफ़ी मार्मिक हैं। उनकी कविता में आम जन के झुके, गुमसुम, टूटे घरों का अंधेरा है। 'चांद का मुंह टेढ़ा है' में चांद की रोशनी रात में शहर के अजब कोनों को उजागर करती है। खिड़कियां हैं जहां से आकाश में चिंता के गणित अंक आसमानी स्लेट पट्टी पर चमकते दिखते हैं। दरवाज़े तो महान प्रतीक हैं ही 'नहीं इनकार वाले द्वारा खुलते' गैलरियों के नीचे चलती गतियां दीखती हैं। घरों के बाड़े और पिछवाड़े लुके-छिपे निहित स्वार्थो को अंकित करते हैं? सड़क, गलियां, चौरोहे उन्मुक्त तदाकारिता के रूप हैं। वास्तु में पुराने रूप भी है□जिनमें दुर्ग, प्रासाद, गुंबद, स्तूप, घंटाघर हैं, नक्काशीदार कक्ष और रहस्य भरे तहखाने हैं जो सत्ता के, गोपन जीवन के, आत्म-सुरक्षा और शोषण को आकार सा देते है। महलों में भी छज्जे, कंगूरे अनेक अंग-उपांग हैं। सीढ़ियां तो मुक्तिबोध का प्रिय मौटिफ़ है। कुछ सीढ़ियां हैं जो नीचे ले जाती हैं-पातालों में, बावड़ी के तल में, किसी गहरे गह्वर में उतरती हैं। ये अकसर किसी पुरानी कहानी से जुड़ी हैं-यह कहानी चाहे इतिहास की हो या व्यक्ति मन के अचेतन स्तरों की। दूसरी ओर, ऊपर की ओर ले जाती चक्करदार सीढ़ियां एक चालाक सफलता की चढ़ाई की ओर इंगित करती हैं।

प्रकृति रूपों के भी अपने साहचर्य हैं। आकाश, क्षितिज और हवाएं आत्मविस्तार के रूप हैं। अंधेरे में कुछ दृश्य घर के भीतर के हैं और कुछ घर के बाहर के। दोनों की संवेदनाओं में ध्रुवों का अंतर है। घर के दृश्य आत्मबद्धता और निस्पंदता के हैं□बाहर निकलने पर प्रवृत्ति का विस्तार फैलता जाता है और वहीं अपने छूटे हुए सच्चे रूपों का सामना भी होता है।

व्यवस्था का तब गलियारा और सड़कों के संजाल की तरह फैला है। यों उनकी कविता में वास्तु रूपों, नगरनिवेश और पुरातात्विक दृश्य एक अलग निबंध का विषय हैं।

आभासित वास्तविकता के कवि

बली सिंह

इन दिनों रूसी क्रांति के शताब्दी वर्ष पर चर्चा हो रही है और मुक्तिबोध का जन्म-शताब्दी वर्ष भी स्मरण किया जा रहा है। यानी मुक्तिबोध का जन्म वास्तव में क्रांति-युग की देन है। उन्होंने स्वयं एक कविता 'दमकती दामिनी' में लिखा है:

> 'मैं हूं क्रांति-युग का एक छोटा कवि,
> युग-क्रांति का विक्षोभ।' (*मुक्तिबोध रचनावली*: एक/151)

बीसवीं शताब्दी पर थोड़ी निगाह डालते ही समझ में आ जाता है कि यह सदी क्रांति की सदी रही है। रूस, चीन से लेकर कितने ही देश आज़ाद हुए। किसी को देसी पूंजीवाद से आज़ादी मिली तो किसी को विदेशी पूंजीवाद-साम्राज्यवाद से आज़ादी मिली। आज़ादी के अनेकों रूप इस सदी में दिखे, किसी से कोई तो किसी से कोई आज़ाद हुआ, इसका सबसे भयावह चेहरा रहा फ़ासीवाद और यह सदी फ़ासीवाद से भी मुक्ति की सदी रही है। इसमें पूरा युग जैसे क्रांति के गुस्से से, मन में उसकी कसक से भरा हुआ है। इसलिए यह क्रांति-युग है, कोई कलियुग नहीं है। मुक्तिबोध ने पौराणिक आख्यानों में प्रचलित शब्द-समूहों में तोड़-फोड़ बहुत की और उससे अपने समयानुसार बहुत-सारे एकदम नये शब्द-समूहों की रचना की है। यहां 'कलियुग' की जगह 'क्रांतियुग' का प्रयोग है तो 'अंधेरे में' कविता में **सत्-चित्-आंनद** के बरक्स **सत्-चित्-वेदना** है (*मुक्तिबोध की कविताएं*, पृ. 55, सं. त्रिलोचन)। ये वास्तव में उनके नये तरह के सौन्दर्यबोध के सूचक हैं। मुक्तिबोध की कविता में पायी जाने वाली एकदम नयी तरह की शब्दावली उनके नये तरह के सौन्दर्यबोध की परिचायक है। एक तरह से वह 'संकल्पधर्मा चेतना का रक्तप्लावित स्वर' है (*मुक्तिबोध रचनावली*: दो/392)। इस सौन्दर्यबोध में 'मानव-समता की संस्कृति' के निर्माण का संघर्ष है (मु.रा. एक/130)। इसलिए इसमें पुरानी तरह की वीरता की अनुभूति वाला स्थायी भाव 'उत्साह' नाकाफ़ी है। ये किसी की वीरता साबित करने का नहीं अपितु 'मानव-समता की संस्कृति की बजी नफीरी' है (वही)। समता के लिए क्रांति की यानी संघर्षात्मक अनुभूति है। लाल रंग इसका अलंकार हैं। इसमें क्रोध है, प्रतिशोध है। इसलिए इसका स्थायी भाव 'विक्षोभ' ही हो सकता है- 'युग-क्रांति का विक्षोभ' अकारण ही प्रयुक्त नहीं हुआ है। इसी से 'जनता का नव-युग आसमान छूता हुआ/ चलता है, बढ़ता है' (वही पृ. 313)। जनता के नये युग की निर्मिति की स्मृति और उसका स्वप्न मुक्तिबोध के सौन्दर्यबोध का एक अपरिहार्य अंग है। मुक्तिबोध की एक कविता है 'लाल सलाम'। यह

कविता सोवियत संघ में आये मज़दूरों के राज और विश्व पर पड़ते उसके दूरगामी प्रभावों को ही नहीं बल्कि कवि के मनोलोक पर पड़ने वाले गहरे असर को भी दर्शाती है। बीच-बीच में से कुछ पंक्तियां—'अरे आज काले सागर के, वोल्गा के उस पार/ जो प्रकाश के दरिया का लहरा उट्ठा है ज्वार/ मानो नया सत्य आया है दुनिया में पहली बार/ अरे वहां से जिसको कहते मज़दूरों का राज।/ लाल सोवियत देश कि नूतन मानव की वह आग /दुनिया के मजलूमों का वह जलता एक चिराग।/ फ़ासिस्टों की अंधकार मेघों की सेना चीर/ चली हज़ारों लाल किरण-सविताएं तीव्र अधीर।/ रामायण के एक युद्ध में हुई राम की कीर्ति/ मानवता के महायुद्ध में आदर्शों की जीत।/ उसके भुजदण्डों में दौड़ा एक भयंकर क्रोध/ वज्र वक्ष में प्रतिध्वनित है एक घोर प्रतिशोध।' (*मुक्तिबोध रचनावली*: एक/130)

मजलूमों की इस नयी सभ्यता में प्रकाश ही प्रकाश है, जैसे उसका ज्वारभाटा हो। जैसे हज़ारों लाल किरणों की नदियां बह रही हों। यह वास्तव में महायुद्ध में आदर्शों की जीत है जो पहले कभी युद्धों में नहीं हुई, इसलिए यह नया सत्य दुनिया में पहली बार घटित हुआ है। इसमें मनुष्यता की जीत हुई है, कोई यश मात्र नहीं मिला है। इसका मनोलोक पर गहरा असर यह हुआ कि कवि को वह सौ सूर्यों का प्रभात नज़र आया, सैकड़ों समुद्र, नदियां और चंद्र नज़र आये—'कोई नयी सभ्यता है, वह सौ सूर्यों का प्रात/ अब तो सौ समुद्र, सौ नदियां, सौ चंद्रों की रात' (वही 131)।

इसका असर यह भी हुआ कि कवि का सीमित मन व्यापक हो गया—'आज मन का कूप/ विह्वल वक्ष सागर बन गया है' (वही पृ. 151) और फिर वह उसे पाने के लिए व्यग्र हो चला—'मेरे हृदय में भी जल रहा है रात-दिन/ युग-क्रांति का विक्षोभ' (वही)।

क्रांति की यह स्मृति या 'ज्ञानात्मक संवेदन' हमारे देश के संदर्भ में एक सपना बन जाता है, यानी एक आभासित वास्तविकता बन जाती है जो मुक्तिबोध की कविताओं के केंद्र में हमेशा बनी रहती है। नयी-पुरानी स्मृतियां मिलकर इसको एक जटिल रूप दे देती हैं। कहते हैं, हज़ारों वर्षों की स्मृतियां—आदिम स्मृतियां भी आज के मनुष्य के भीतर गूंजती रहती हैं। और मुक्तिबोध की कविताओं में तो इसका कुछ अधिक ही दख़ल है। नये-पुराने आख्यानों से, उनकी स्मृतियों से मुक्तिबोध की कविता भरी पड़ी है। कहीं 'जिन्न' है, भूत है, तो कहीं ब्रह्मराक्षस हैं, कहीं लकड़ी का रावण है तो कहीं राम है, कहीं महाभारत के पात्र—द्रोण, कर्ण और भीष्माचार्य हैं तो घुग्घू-उल्लू और गिद्ध भी कम नही हैं। साथ में हैं दस्यु और सांवली आकृतियां। यानी नये-पुराने मिथकों का प्रयोग उन्होंने बहुत किया है। उनकी हर कविता अपने-आप में एक आख्यान है, इसीलिए लंबी होती है और 'अंधेरे में' कविता तो महाआख्यानपरक कविता है' (गोपेश्वर सिंह, *साखी*, मुक्तिबोध अंक, जुलाई-दिसंबर 2015, पृ. 70)। महाआख्यान इसलिए कि इसके अंतर्गत आख्यानों की बहुलता है; कोई एक बड़ा आख्यान है, इसका यह मतलब कतई नहीं है। ख़ुद इसके भीतर अनेकों मिथकीय आख्यान हैं, वे पुराने भी हो सकते हैं और नये भी—सभी एक साथ आभासित संसार के हिस्से हैं। कोई सत्य यदि काल का अतिक्रमण कर लेता है तो वह एक प्रतीकवत सत्ता ग्रहण करता हुआ मिथकीय रूप धारण कर लेता है—फिर चाहे वह व्यक्ति हो या कोई घटना। 'अंधेरे में' कविता में जन-क्रांति है, सेना का दमन है, भूत जैसी आकृति है, तिलस्मी खोह है, खंडहर है, पाताल और सुरंग है, 'सांवला बंदूक जत्था' है, अरुण कमल और जादुई झील है, अनेक आशंकाएं हैं और साथ ही तिलक हैं, गांधी जी हैं, ताल्सतायनुमा कोई है तो कोई पागल है। ये सारी चीज़ें स्मृति का हिस्सा हैं या स्वप्न का हिस्सा हैं, वर्तमान में कुछ घटित नहीं हो रहा है। हां, इस कविता में

गोर्की नहीं हैं। वे एक अन्य कविता में आये हैं-

किन्तु उन्हीं (थके) हियरों में
प्राणों के पिंजरों में तिरकर गोर्की गुरु के/ उपन्यास के पृष्ठ खुल रहे हैं। (मु. र. एक/407)

यहां कवि नागार्जुन द्वारा लिखी कविता 'गोर्की' की याद आना भी स्वाभाविक है। गोर्की भी वास्तव में उसी तरह जन-क्रांति के प्रतीक हैं जिस तरह गांधी, तिलक और ताल्सताय हैं।

इन दिनों एक अन्य व्यक्ति विकास-पुरुष का प्रतीक बनकर उभरा है जो पूंजीवादी विकास का ही मिथ हमारे सामने पेश कर रहा है। मुक्तिबोध ने बहुत पहले ही विकास के इस मिथ की विसंगतियों को हमारे सामने रख दिया था। विकास के इस मिथ के साम्राज्यवादी-फ़ासिस्ट आधुनिक चेहरे को उजागर करते हुए मुक्तिबोध ने उसका विरोध तो किया ही है, साथ ही इसका लुभावना और बहिष्कारी चरित्र 'जिन्न' के मिथ के माध्यम से हमारे सामने स्पष्ट भी किया है-

सुनहरे बादल में रहता है एक जिन्न
उसकी आंखों में बसा है एक विश्व-स्वप्न
किरणों का जगमगाता जाल फैलाता है!!
यह इलाक़ा विश्व-स्वप्न बन जाता है!!
दर्रे और घाटियां, दरख़्त और टीले सब
चढ़ाव-उतार और सूखे और गीले सब
दिखते ये सुन्दरतम परम के भाष्य से
केवल उस जिन्न की आंखों के प्रकाश से!! (मु. र. दो/231)

यानी पूंजीवाद अपनी चमक-दमक से सारी बुराइयों और विषमता को छिपा लेता है और एक सुंदर आभासित संसार की रचना करता है। उसका सपना विश्व में फैलना है। इसके लिए वह पूंजी का सहारा लेता है, दूसरे देशों को अपने ही रूप रंग में ढाल लेना चाहता है-

साम्राज्यवादियों के
पैसों की संस्कृति
भारतीय आकृति में बंधकर
दिल्ली को/ वाशिंगटन व लंदन का उपनगर/ बनाने पर तुली है। (वही पृ. 77)

आज यही प्रक्रिया भूमंडलीकरण या वैश्वीकरण के रूप में चल रही है। यानी जिन्न आज इस रूप में सक्रिय है। मुक्तिबोध को इसका आभास बहुत पहले हो गया था। जहां ये पैसों की संस्कृति काम नहीं आती वहां ताक़त के अन्य-अन्य रूप अपने उदेश्य की पूर्ति के लिए आजमाये जाते हैं जिससे उसका दमनकारी और विनाशक चरित्र हमारे सामने खुलता है-

साम्राज्यवादियों के बदशक्ल चेहरे
एटमिक धुएं के बादलों-से गहरे
क्षितिज पर छाये हैं,
जापान को ध्वस्त कर
ईरान को मारकर

ईजिप्ट के ख़ात्मे के लिए हैं उतावले/ अरब के ख़ात्मे के लिए है बावले!!
नये जन-राष्ट्रों को करने के लिए छार
मानवीय नाश के दानवी सुभोग की
तलाश में दिन-रात पगलाये हुए हैं। (वही, पृ. 73)

यही नहीं, इस 'प्रगति' का चक्का कितने ही मानवों को कुचलता रौंदता आगे बढ़ता है-

पूंजीवादी स्याह रेल के नीचे आकर
मरा पड़ा लोहे की पटरी पर यह मानव। (मु. र. एक/205)

और भी-

पूंजीवादी गाड़ी के वेगवान
लोहे के पहियों ने
मानव का पेट चीर
विज्ञानोन्नति की। (वही, पृ. 267)

यहां विकास का मतलब बलखाते चक्कदार ऊंचे-ऊंचे/ ज़ीने पर चढ़ते चले जाना है (वही, पृ. 271)। यह कोई आसान काम नहीं है, जीवन अस्मिता ही दांव पर लग जाती है। उन्नति के चक्करदार लोहे के घनघोर/ ज़ीने में अंधकार!! / गुम कई सीढ़ियां हैं/ भीड़ लेकिन खूब है/ बड़ी ठेलमठेल है/ ऊपर की मंज़िल तक/ पहुंचने में बीच-बीच/ टूटी हुई सीढ़ियों में कुछ फंस गये कुछ धड़ाम से नीचे गिर मर गये सचमुच (मु. र. दो/133)।

इस तथाकथित विकास का एक महत्वपूर्ण पहलू मुक्तिबोध की कविताओं में यह भी मिलता है कि इस जिन्न ने एक तरफ़ तो बहुत रंगीनियां बिखेरीं, लेकिन दूसरी तरफ़ कोहरे और धुंध में असंख्य मेहनतकश ज़िंदगियां गुम गयीं। मुक्तिबोध की कविता में आया हुआ अंधेरा इसी को इंगित करता है- अरूप अनाम इस/ कुहरे की लहरों से/ अगनित/ कई आकृति-रूप/ बन रहे, बनते से दीखते (मु. र. दो/369)।

ये वास्तव में सहज उपेक्षित, तिरस्कृत, बहिष्कृत और चिर निर्वासित असंख्य साधारण जन हैं (मु. र. एक/175)। मुक्तिबोध ने इन्हें सांवला समूह कहा है-

नभचुम्बी ज्वाला के प्रकाश में
भारतीय संस्कृति विकास किया जा रहा
शोषण के भयानक जबड़ों ने फूंक मार
झोपड़ियां गिरा दीं व मकान ढहा दिये
झुलसी हुई पुरानी धुनकी हुई रूई के
टुकडों-सी उड़ती है
मनुष्य के सांवले समूहों की जिन्दगी। (मु. र. एक/301)

यह वास्तव में ग़रीब दुनिया है। इसमें किसान हैं, कुली हैं, धोबी हैं, मज़दूर स्त्री-पुरुष हैं। मुक्तिबोध की कविताओं में इनकी प्रतीकवत उपस्थिति है, नागार्जुन की तरह इनका कोई विस्तृत चित्रण नहीं है। हां, इनके प्रति मुक्तिबोध में नागार्जुन की तरह ही गहरा लगाव है और उन्हीं की तरह इन्होंने भी साधारण

जनों की शक्ति और संघर्ष की पहचान की है। 'अंधेरे में' कविता में सांवला जत्था ही संघर्षरत है। वह सचेत और संगठित है (आज की तरह असंगाठित, अचेत और विभाजित नहीं) और मध्यवर्ग विभाजित, सशंकित और स्वार्थ के कुंड में डूबा है। मुक्तिबोध **असख्यं उत्पीड़ित अस्मिताओं के आख्यान** रचना चाहते हैं। 'मुझे क़दम-क़दम पर' कविता इसी बात की ओर इशारा करती है□'मुझे क़दम-क़दम पर/ चौराहे मिलते हैं/ बाहें फैलाये!! /एक पैर रखता हूं /कि सौ राहें फूटतीं/ व मैं उन सब पर से गुज़रना/ चाहता हूं' (मु. र. दो/172)। उनके हृदय की 'महाकाव्य-पीड़ा' को वे दर्ज करना चाहते हैं (वही), क्योंकि उन्हें उनसे प्रेम है और वे स्वयं को उन्हीं का हिस्सा समझते हैं□'अच्छा है कि अटाले में फेंका गया मैं/ एक प्रेमपत्र/ असंख्य इत्यादि जनों का मैं भाग' (वही, 395)। मुक्तिबोध द्वारा प्रयुक्त कुछ शब्दों को पकड़कर कवियों ने पूरी-पूरी कविताएं ही लिख डाली हैं। राजेश जोशी की 'इत्यादि' और बद्रीनारायण की 'प्रेमपत्र' इसके सबूत हैं। उनका महत्व इस बात से भी पता चलता है।

मुक्तिबोध ने अपनी कविताओं में श्याम चेहरों की संचित घनीभूत पीड़ा से मुक्ति के लिए एक दी हुई दुनिया से बेहतर दुनिया का सपना देखा और दिखाया है। उनकी मूल चिंता रही है कि ये सभी मानव सुखी, सुंदर व शोषणमुक्त न जाने कब होंगे। इसके लिए वे व्यक्तित्वांतरित होना चाहते हैं। व्यक्तित्वांतरित का तो पता नहीं, पर वे स्थानांतरित ज़रूर हुए। उन्होंने अपने मनोलोक में असंख्य इत्यादि जनों या उपेक्षित अस्मिताओं को स्थान दिया, उनके बारे में सोचा और लिखा। ऐसी अनगिनत बहिष्कृत अस्मिताएं उनके सपने का अभिन्न अंग बनीं, उनके सौन्दर्यबोध का अनिवार्य हिस्सा बनीं। इन्हीं के लिए उन्होंने जिन्न की लुभावनी दुनिया के मिथ के बरक्स जनक्रांति के भारतीय मिथ की रचना की और वे स्वयं मध्यवर्गीय बुद्धिजीवियों के बीच एक क्रांति के मिथ या प्रतीक बन गये।

इस प्रतीक के बनने की महत्वपूर्ण वजह एक और भी है। और वह है मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी के मनोलोक की अभिव्यक्ति। यह देश की स्वाधीनता के बाद थोड़ा जटिल हो गया, वह उन मूल्यों से कट गया या उनका परित्याग उसने कर दिया जिन मूल्यों की वजह से परिवर्तनकामी शक्ति का वह जगह-जगह प्रतीक बना और जन क्रांति में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हुए क्रांति गुरु कहलाया। अब समाज-हित की जगह व्यक्ति-हित के केंद्र में आ जाने से वह न तो दृढ़ बचा और ना ही निर्भीक। संघर्ष और त्याग की प्रवृत्ति भी उसमें उतनी नहीं रही, उल्टे वह जिन्न द्वारा बनाये हुए रंगीन विश्व-स्वप्न में, उसकी सुख-सुविधा में हिस्सेदारी करने लगा या फिर उसमें हिस्सेदारी की उसकी लालसा बढ़ गयी। इसका नतीजा यह हुआ कि उसने अन्य अस्मिताओं से, खासतौर से उपेक्षित सांवले समूहों से ख़ुद को अलग कर लिया-

> तुमने किसी जिन्न की छोटी खटिया पर
> अपने को उसकी बराबरी में करने
> सही-सही लेटने
> निज के ये ज़्यादा लंबे पैर
> काट डाले
> अपने ही ज़्यादा लंबे हाथ
> छांट डाले। (*मुक्तिबोध रचनावली*:/360)

अर्थात् जिन्न द्वारा दिखाये गये छोटे-छोटे सपनों, थोड़ी-सी सुख-सुविधाओं के लिए उसने बड़े समूह से यानी बड़े सपने से ख़ुद को काट डाला और मात्र व्यक्ति अस्मिता तक सीमित होकर रह गया। उसके आदर्श खो गये और उससे उत्पन्न विवेक को उसने स्वार्थों के तेल में डुबो दिया (*मुक्तिबोध की कविताएं,* पृ. 37)। इससे क्या हुआ कि वह क्रांति में सहयोगी के बजाय बाधा बन गया और अब उसकी परिवर्तनकारी और समाज-हितैषी छवि महज़ एक स्मृति या प्रतीक भर रह गयी। वही स्मृति मुक्तिबोध के यहां तिलक, गांधी, ताल्सताय, गोर्की के रूप में जगह-जगह प्रकट होती है।

मुक्तिबोध की विशिष्टता यह है कि उन्होंने स्थानांतरण का विचार और उसका सपना सबसे पहले अभिव्यक्त किया। 'स्वप्न के भीतर एक स्वप्न/ विचारधारा के भीतर और एक अन्य सघन विचारधारा प्रच्छन्न' (*मुक्तिबोध की कविताएं,* पृ. 106)। यहां सपने के भीतर सपने का मतलब जनक्रांति की आभासी प्रक्रिया के साथ ही साथ स्थानांतरण की आभासी प्रक्रिया का घटित होना। और विचारधारा के भीतर विचारधारा का मतलब हुआ□जनक्रांति की विचार-प्रणाली के भीतर स्थानांतरण की विचारप्रणाली की उपस्थिति। स्थानांतरण की प्रक्रिया यानी अन्य अनेक उत्पीड़ित अस्मिताओं से ख़ुद को जोड़ने की प्रक्रिया में उन कमज़ोरियों को समझने और उनसे लड़ने का सपना भी मुक्तिबोध ने हमारे सामने पहली बार मूर्त किया है। बाद में तो घूमिल से लेकर अरुण कमल तक कई कवियों ने इसे दोहराया और मुक्तिबोध स्वयं एक आदर्श के प्रतीक बन गये।

मुक्तिबोध की कविता में आख्यानों की बहुलता, असंख्य बहिष्कृत अस्मिताओं के आख्यानों की व्यापकता और साथ ही साथ 'स्वप्न के भीतर स्वप्न' यानी एक ही कविता में एकाधिक जटिल और विरोधी आख्यानों की समाई शृंखला अपने आप में फैंटेसी का रूप ग्रहण कर लेती है। इसी से इनके यहां ऊबड़-खाबड़ विशृंखलित बिम्बों का जमघट लगा रहता है। फैंटेसी से एडिटिंग का, कांट-छांट का काम लेने के बावजूद और बहुत सारी चीज़ों की प्रतीकात्मक उपस्थिति के बावजूद कविताएं लंबी हो जाती हैं। मनोलोक को स्पष्ट करने के लिए बीच-बीच में प्रसंगों- वर्णनों से भी काम लिया जाता है। और कहीं कुछ भी काम नहीं आ रहा है तो उक्तियों के ज़रिये ही बहुत कुछ कहने की कोशिश की जाती है। मुक्तिबोध की अनेकों उक्तियां लोकप्रिय हैं, जैसे अकेले में मुक्ति नहीं मिलती, रक्तपायी वर्ग से नाभिनाल बद्ध, पूंजीवादी उल्लू के साहित्यिक पट्ठे इत्यादि। इतने पर भी आभासित वास्तविकता पूरी तरह से अभिव्यक्त नहीं हो पाती, उसकी छटपटाहट और बेचैनी बनी रहती है। और अंत तक वे उसी खोयी हुई परम अभिव्यक्ति की खोज में तड़पते रहते हैं।

खोजता हूं पठार पहाड़ समुंदर
जहां मिल सके मुझे
मेरी वह खोयी हुई
परम अभिव्यक्ति अनिवार
आत्म-सम्भवा। (वही, पृ. 64)

ये पठार-पहाड़-समुद्र जितने भी रूपाकार हैं, यानी जो पहले से मौजूद पदार्थ हैं, उनकी भी अपनी सीमाएं हैं। उनमें आभासित सच रूपाकार तो ग्रहण कर लेता है, पर अपने सही-सही रूप में अभिव्यक्त नहीं हो पाता, क्योंकि उन्हें देखने की दृष्टियां भी असंख्य हैं, उसे किसी एक रूपार्थ में सुनिश्चित नहीं किया जा सकता, जैसे चांद नामक पदार्थ को ही लें। उसका एक सुनिश्चित वैज्ञानिक रूपार्थ है, पर न जाने

कितने ही रूपार्थों में उसे देखा गया है। फिर लगता है कि सौन्दर्य पूरी तरह से अभिव्यक्त नहीं हुआ और मुक्तिबोध को तो उसका मुंह ही टेढ़ा यानी वक्र लगता है। वह सौन्दर्यबोध की अभिव्यक्ति में अपने आप में ही नाकाफ़ी है। इस तरह देखा जाये तो आभासित संसार का सौंदर्य पदार्थ में समा नहीं पाता और उसका अतिक्रमण करता रहता है। यही वास्तव में खोयी हुई अभिव्यक्ति है जिसकी तलाश कवि को सदैव परेशान करती रहती है और इसलिए अभिव्यक्ति कभी पूर्ण हो ही नहीं पाती। वैसे स्वयं मुक्तिबोध ने पूर्णता की तलाश को मिथ्या कहते हुए जीवन जगत के लिए उसे भयावह भी बताया हैः

पूर्णता के स्वप्न की विशालतम मिथ्या ने
अपूर्ण को, फटे को व जीर्ण को
अपमानित भी खूब किया है कि
भयानक उभारा है। (मु. र. एक/399)

यह भयावह इसलिए है कि इस प्रयास में बहुत सारी अस्मिताएं अपमानित, निर्वासित और बहिष्कृत हो जाती हैं। उनका सत्य कहीं धुंध या कोहरे में खो जाता है। इसलिए पूर्णता के स्वप्न की तलाश अपने आप में व्यर्थ है, वह एक बहुत बड़ी मिथ्या चेतना है और अपने आप में एक तरह की आभासी वास्तविकता। पर मुक्तिबोध की कविताओं में पायी जाने वाली आभासित वास्तविकता भिन्न तरह की है, उसमें असंख्य उत्पीड़ित, बहिष्कृत और अपमानित अस्मिताओं की व्याप्ति है तथा उनका स्वप्न इन्हीं की असंख्य रूपाकृतियों से निर्मित हुआ है। उन्हीं के शब्दों में कहें तो यही 'सामान्यीकरण का असामान्यीकरण है।'

109, मनचाहत अपार्टमैंट,
प्लॉट नं. 42, सेक्टर-10,
द्वारका, नयी दिल्ली-110075
मोबाइल नं. : 09818877429
Email: balisingh02@gmail.com

गुंथे तुमसे बिंधे तुमसे

एक समय अंधेरे में

मंगलेश डबराल

गजानन माधव मुक्तिबोध के अनुभव संसार की 'परम अभिव्यक्ति' मानी जाने वाली कविता 'अंधेरे में' का अंतिम प्रारूप सन 1962 में तैयार हो गया था, लेकिन उसका प्रकाशन, *कल्पना* के नवंबर 1964 अंक में हुआ। वे इस कविता का प्रकाशित रूप देखने के लिए जीवित नहीं थे और क़रीब दो महीने पहले सिर्फ़ सैंतालीस वर्ष की उम्र में उनका निधन हो गया था। पांच साल बाद सन् 1969 के आख़ीर में जब मैं बीस साल के युवा के रूप में दिल्ली आया तो मुक्तिबोध की कविता गूंज रही थी और उनका मरणोपरांत प्रकाशित पहला कविता संग्रह, *चांद का मुंह टेढ़ा है* बहसों के केंद्र में था। संग्रह में प्रकाशित शमशेर बहादुर सिंह की अद्‌भुत-आत्मीय भूमिका, रामकुमार द्वारा चित्रित रोगशैय्या पर पड़े हुए मुक्तिबोध का पीड़ित चेहरा और भीतर के पन्नों पर वे कठिन-कठोर कविताएं, जिनसे गुज़रते हुए कुछ डर का एहसास होता था, जैसे वे अनजाने, बीहड़ जंगल और बियाबान हों जहां सघन अंधकार में कहीं-कहीं धुंधली-सी रोशनी दिख रही हो, उड़ती हुई आंधियां हों और हर क़दम पर यह आशंका बनी हुई हो कि पता नहीं आगे क्या घटित होगा। ख़ास तौर से 'अंधेरे में' एक उत्कट फ़ेंटेसी फ़िल्म की शैली में शुरू होती थी, उसके दृश्य-विन्यास में हर पंक्ति किसी अंधकार के पर्दे से सामने आती थी और यह सिनेमाई तकनीक अंत तक बरक़रार रहती थी। यह ऐसी अनोखी और पहले कभी न देखी हुई दृश्यात्मकता थी, जहां 'भीत से फूले हुए पलस्तर गिरते हैं', 'वृक्षों के शीर्ष पर बिजलियां नाच-नाच उठती हैं', 'सांवली हवाओं में काल टहलता है', 'सलिल के तम-श्याम शीशे में कुहरीला कोई बड़ा चेहरा फैल जाता है', 'कहीं आग लग गयी, कहीं गोली चल गयी' का भयाकुल परिवेश आता है और अंततः 'आत्मा के चक्के पर संकल्प-शक्ति के लोहे का मज़बूत ज्वलंत टायर चढ़ाया जाता हुआ' दिखता है। उन्हीं दिनों जापान के फ़िल्मकार अकीरा कुरोसावा की प्रसिद्ध फ़िल्म, *राशोमोन* आयी थी जिसमें कैमरा पहली बार जंगल के भीतर, उसके हृदय तक जाता है। ज़ाहिर है कि *राशोमोन* को मुक्तिबोध ने कभी नहीं देखा होगा, लेकिन उनकी कविता की प्राविधि अनायास उसकी याद दिला देती थी। आज यह याद करते हुए आश्चर्य होता है कि किस तरह 'अंधेरे में' के साथ 'एक भूतपूर्व विद्रोही का आत्मकथन', 'भूल-ग़लती', 'चांद का मुंह टेढ़ा है', 'लकड़ी का रावण', 'मुझे क़दम-क़दम पर', 'मैं तुम लोगों से दूर हूं', 'इस चौड़े ऊंचे टीले पर' और 'ब्रह्मराक्षस' आदि कविताएं इतनी तेज़ी और तात्कालिकता के साथ उस पीढ़ी की प्रिय कविताएं बन गयीं जो 'नयी कविता', 'साठोत्तरी कविता' और उस दौर में सबसे ज़्यादा बडबोली-उत्पाती क़िस्म की 'अकविता' से अलग अपनी राह खोजना चाहती थी। उसे मुक्तिबोध की कविता की लंबी-पेचीदा सुरंग के दूसरे सिरे

पर एक रोशनी दिखी और 'अंधेरे में' ख़ास तौर से उसकी संवेदना का केंद्रीय पाठ बन गयी। मुक्तिबोध के आख़िरी दिनों में तीन लेखक उनके साथ थे : शमशेर बहादुर सिंह, श्रीकांत वर्मा और अशोक वाजपेयी। इनमें से अशोक वाजपेयी सरकारी अधिकारी होकर मध्यप्रदेश जा चुके थे, श्रीकांत वर्मा की छवि अपने कवच में रहनेवाले एक दूरस्थ कवि की थी, लेकिन शमशेर अकेले ऐसे थे जिनसे नयी पीढ़ी का बहुत लगाव और संवाद था। हम लोगों ने उनसे मुक्तिबोध के बारे में बहुत कुछ जाना और यह देखकर रोमांच होता था कि मुक्तिबोध जैसे संतापों के कवि की किताब की भूमिका शमशेर ने लिखी है, जो निर्विवाद रूप से प्रेम और सौंदर्य के बड़े कवि हैं।

हमारे समाज और राजनीति में सन् 1964 से 1974 तक का दशक अभूतपूर्व ढंग से दहकता-खोलता हुआ समय था। उस नक्शे पर सताधारी कांग्रेस से मोहभंग, कम्युनिस्ट पार्टी का विभाजन, लोहिया का ग़ैर-कांग्रेसवाद, वियतनाम युद्ध का व्यापक विरोध, अमेरिकी बीट कविता, अमेरिकी ब्लैक पोयट्री, बांग्ला की भूखी पीढ़ी, तेलुगु की नग्न पीढ़ी, मराठी में दलित पैंथर, नक्सलबाड़ी में सशस्त्र किसान विद्रोह की 'वसंत गर्जना' और उसके भीषण दमन के बावजूद कई भाषाओँ के साहित्य पर उसका व्यापक प्रभाव आदि जलते-चिनगारियां छोड़ते हुए बिंदुओं की तरह थे। राज्यसत्ता से लेकर सांस्कृतिक सत्ता तक सब कुछ डगमग था और हवाओं में किसी अवश्यंभावी परिवर्तन की आहट सुनायी देती थी। पशिम बंगाल में नक्सलवादी कार्यकर्ताओं और उनके समर्थक छात्रों पर राज्यसत्ता का अत्याचार हदें पार कर रहा था, बड़े पैमाने पर बुद्धिजीवियों को गिरफ़्तार करके बिना मुक़द्दमे के हिरासत में यातनाएं दिये जाने का सिलसिला जारी था और प्रसिद्ध अर्थशास्त्री अशोक मित्र के शब्दों में, 'बेहतरीन दिमाग़ों वाले नौजवानों को कुत्तों की तरह मौत के घाट उतारा जा रहा था।'

नक्सलबाड़ी ने कम्युनिस्ट आंदोलन में फिर से जो विभाजन पैदा किया उसने भूखी और नग्न जैसी पीढ़ियों को उग्र वाम राजनीति की ओर मोड़ दिया। बांग्ला में भूखी पीढ़ी या हंगरी जनरेशन के एक प्रवर्तक और अपनी लंबी कविता, 'जख़्म' से प्रसिद्ध हुए मलय रॉय चौधरी ने यह कहते हुए अपनी कलम रख दी थी कि 'आज अगर आप दीवार पर रक्त से कविता नहीं लिख सकते, तो लिखना व्यर्थ है.' तेलुगु में 'दिगंबर रचयितालु संघम' के ज़्यादातर कवि वैयक्तिक विद्रोह छोडकर सशस्त्र संघर्ष की कविता लिखने लगे थे और उनके संगठन का नाम भी 'विप्लवी रचयितालु संघम' हो गया। इस सबकी गूंज हिंदी और शायद उससे भी अधिक पंजाबी में सुनायी दी और नक्सलवाद के पक्षधर कवियों की पीढ़ी सामने आयीः हिंदी में कुमार विकल, वेणु गोपाल, आलोकधन्वा, पंजाबी में पाश, अमरजीत चन्दन, लाल सिंह दिल, दर्शन खटकड़, सुखचैन मिस्त्री आदि उसके जुझारू नाम थे। मुक्तिबोध की कविताओं और ख़ासकर 'अंधेरे में' को पढ़ते हुए एहसास होता था कि यह उसी आतंक, दमन, हत्याओं और 'कहीं आग लग गयी, कहीं गोली चल गयी' के माहौल की पुनरावृत्ति है जो उनकी कविता में दर्ज हुआ है। वे कविताएं उसी दुस्वप्न का आइना थीं और लोकतंत्र का समूचा अंधेरा उनमें एकत्र हो गया दिखता था। ज़्यादातर नये कवियों को मुक्तिबोध की कविताएं मुंहज़बानी याद हुईं हालांकि उनका विन्यास दुरूह था और वे किसी भी तरह की 'कोमल कांत पदावली' से दूर थीं। 'ज़िंदगी के अंधेरे कमरों में लगातार', 'कहीं गोली चल गयी, कहीं आग लग गयी', 'भागता मैं दम छोड़ / घूम गया कई मोड़', 'अब अभिव्यक्ति के सारे ख़तरे उठाने ही होंगे, तोड़ने होंगे ही मठ और गढ़ सब', 'वर्तमान समाज चल नहीं सकता', 'पूंजी से जुड़ा हुआ हृदय बदल नहीं सकता', और 'हम एक ढहे हुए मकान के नीचे दबे हैं' आदि सैकड़ों पंक्तियां

हमारी पीढ़ी को याद थीं...शायद इस वजह से भी कि उनमें हमारी आतंरिक व्यथा का प्रतिबिंबन भी था। 'जिरह बख़्तर पहन कर दिल के तख़्त पर बैठी हुई' उस 'भूल ग़लती' का भी हमें एहसास था जिसके अंतिम अंश में एक बड़ी उम्मीद निहित थी :

महसूस होता है कि वह बेनाम
बेमालूम दर्रों के इलाक़े में
(सचाई के सुनहले तेज अक्सों के धुंधलके में)
मुहैया कर रहा लश्कर!
हमारी हार का बदला चुकाने आयगा
संकल्प-धर्मा चेतना का रक्तप्लावित स्वर,
हमारे ही हृदय का गुप्त स्वर्णाक्षर
प्रकट होकर विकट हो जायगा !!'

हृदय का वह 'गुप्त स्वर्णाक्षर' क्या था? क्या वह क्रांति का, बुनियादी परिवर्तन का स्वप्न था जिसे बेरहमी से कुचला जा रहा था? क्या इस कविता में नक्सलवाद की पराजय से उपजी हताशा का रूपक था? क्या यही वजह थी कि मुक्तिबोध की कई कविताएं नक्सलवाद से प्रभावित कवियों के बीच एकाएक लोकप्रिय हुईं और संदर्भ बिंदुओं जैसी बन गयीं? यह कहा जा सकता है कि नक्सलवाद से प्रभावित कवियों ने अपने वक़्त के लिए इस कविता का पुनराविष्कार किया, उसे फिर से व्याख्यायित किया। मुक्तिबोध ने खुद भी उस हताशा का अनुभव किया था...समाजवाद का स्वप्न अधूरा रह जाने और 'कब मुक्त होंगे मेरे जन' की गहन चिंता के साथ जीवित रहने का दंश। 'अंधेरे में' जिस सामाजिक-सांस्कृतिक वातावरण को चित्रित करती है, उसके भी कई रूप उस समय के हालात में मौजूद थे, इमरजेंसी की पृष्ठभूमि तैयार हो रही थी और संवेदनशील लोगों में एक मुक्तिबोधीय ग्लानि-बोध पसर रहा था :

'अब तक क्या किया, / जीवन क्या जिया,
ज़्यादा लिया और दिया बहुत-बहुत कम
मर गया देश, अरे जीवित रह गये तुम...'

'अंधेरे में' शायद हिंदी की पहली कविता थी जिसे नाटक के रूप में मंच पर प्रस्तुत किया गया। यह सिर्फ़ संयोग नहीं था, बल्कि इस बात का नतीजा था कि वह अपने समय के लिए कितनी प्रासंगिक और ज़रूरी बन गयी है। तब युवा चित्रकार और रंगकर्मी विजय सोनी पोलैंड से येर्जी ग्रोतोव्स्की का 'शारीरिक' और 'निर्धन' कहे जानेवाले रंगमंच' का प्रशिक्षण लेकर आये थे और उन्होंने कुछ ग़ैर-पेशेवर युवकों को इकठ्ठा करके 'अंधेरे में' का एक प्रभावशाली नाट्य रूप तैयार किया, जिसने दिल्ली के रंगकर्म में एक नयी हलचल पैदा कर दी। विजय यानी विको सोनी की पत्नी आग्नेश्का पोलैंड की थीं और उन्हें शायद मुक्तिबोध पर शोध करने वाली पहली स्कॉलर (पहली विदेशी और पहली महिला भी) होने का श्रेय भी जाता है। शमशेर बहादुर सिंह से उनकी अच्छी मित्रता थी जिनकी प्रेरणा से ही वह क़रीब आधा घंटे का मंचन संभव हुआ, दिल्ली और दूसरे शहरों में उसके सैकड़ों प्रदर्शन हुए और ग्रोतोव्स्की की शैली से प्रभावित रंगकर्मियों की जमात भी तैयार हुई। इस रूपांतर में कविता के कुछ ही अंश लिये गये थे, लेकिन अभिनेताओं की गतियों के संयोजन, शारीरिक मुद्राओं, भंगिमाओं और मंच पर निर्मित होनेवाली फ़ैंटेसी के ज़रिये पूरी प्रस्तुति न सिर्फ़ कविता को साकार बनाती थी, बल्कि उसे एक समकालीन अर्थ-स्तर भी

देती थी। मुक्तिबोध की कविता की कथित 'दुरूहता' छोटे अंशों में उद्धरणीय नहीं लगती थी, लेकिन अब अगर वे बहुत उद्धरणीय हो गयी हैं तो इसमें उस नाट्य-रूपांतर का भी हाथ है।

हिंदी के अकादमिक जगत में आज मुक्तिबोध का बहुत सम्मान है, लेकिन उस वक़्त अखिल हिंदी सत्ता-तंत्र उनकी कविता से बेख़बर था और सिर्फ़ कुछ वामपंथी-प्रतिबद्ध शिक्षक ही उनके महत्व को पहचानते थे। अकादमिक संसार में डॉ. नगेंद्र का साम्राज्य था जहां अज्ञेय तक के लिए जगह नहीं थी। प्राध्यापकगण रामचंद्रशुक्लीय 'हृदय की मुक्तावस्था' रचती, हृदयंगम होती रंजनात्मक-व्यंजनात्मक कविता में क़ैद थे और ऐसे में मुक्तिबोध की दिमाग़ को झकझोरनेवाली कविता के झंझट में भला कौन पड़ना चाहता! एक वाक़या याद आता है कि एक बार आलोचक मुरली मनोहर प्रसाद सिंह ने, जो तब तेज़-तर्रार वाम प्राध्यापक थे, दिल्ली विश्वविद्यालय के एक प्रोफ़ेसर से लाइब्रेरी में मुक्तिबोध का कविता संग्रह मंगाने के लिए कहा। प्रोफ़ेसर कुछ देर मुरली बाबू का मुंह देखते रहे और फिर बोले, 'अरे, मुक्तिबोध नाम के कोई कवि सचमुच हैं? कहीं आप मज़ाक़ तो नहीं कर रहे!' लेकिन अब हिंदी प्राध्यापकों को मुक्तिबोध के जंगल में मजबूरन भटकना पड़ता है। दरसल, मुक्तिबोध की कविताओं और ख़ासकर 'अंधेरे में' का व्यक्तित्व इतना बड़ा और वज़नी होता गया कि उनकी अनदेखी नहीं हो सकती थी।

मुक्तिबोध के प्रासंगिक बनते जाने की वजहें उनके यंत्रणा-बोध से भरे जीवन, अस्वस्थता और असमय निधन में नहीं हैं, बल्कि उन सामाजिक-सांस्कृतिक-राजनीतिक प्रक्रियाओं में हैं जो उथल-पुथल से भरी थीं और आनेवाले वक़्त की शक्ल तामीर कर रही थीं। उनके कथ्य की एक स्थूल क़िस्म की ही पड़ताल करें तो ज़्यादातर कविताएं हमारे समाज और मनुष्यों के संघर्षों-स्वप्नों और नियति के दस्तावेज़ की तरह हैं और 'अंधेरे में' की पटकथा (जो बहुत सिनेमाई है) तो स्वाधीनता की लड़ाई, उसके अधूरे रह जाने की हताशा, उसके संकटों, फ़ासिस्ट शक्तियों के जुलूस, मार्शल लॉ, चौराहे पर बंदूकों-टैंकों और गोलीबारी की घटनाओं और स्वाधीनता की संघर्ष-यात्रा से ही बुनी गयी है। एक अंश में गांधी काव्य-नायक के हाथ में एक शिशु को थमाकर उसे संभालने-सुरक्षित रखने के लिए कहते हैं जो कि हमारी आज़ादी का ही एक रूपक है, और जैसा कि हमारी आज़ादी के साथ हुआ, जल्दी ही यह शिशु अदृश्य हो जाता है और कंधों पर फूलों के लंबे गुच्छों की बजाय एक बंदूक आ जाती है। फिर आततायी सत्ता द्वारा हत्याओं, गिरफ़्तारियों और यंत्रणा दिये जाने के बिंब हैं, जिनमें अंग्रेज़ साम्राज्यवादियों से जन साधारण के संघर्ष और कम्युनिस्ट पार्टी के भूमिगत आंदोलन झलक उठते हैं। लेकिन ख़ास बात यह है कि यह पटकथा एकरैखिक नहीं, बल्कि बहुत संश्लिष्ट है और उसके भीतर से काव्य-नायक की ग्लानि बार-बार झांक उठती है: 'मर गया देश, अरे जीवित रह गये तुम...' यही ग्लानि हमारी पीढ़ी के संवेदनशील और यथास्थिति विरोधी लोगों में भी थी और नक्सलवाद से सहानुभूति रखने वाले बहुत से नये कवियों को इन पंक्तियों में अपने समय के बिंब नज़र आते थे :

गलियों के अंधेरे में मैं भाग रहा हूं,
इतने में चुपचाप कोई एक / दे जाता पर्चा,
कोई गुप्त शक्ति
हृदय में करने-सी लगती है चर्चा!!
मैं बहुत ध्यान से पढ़ता हूं उसको!
आश्चर्य!

उसमें तो मेरे ही गुप्त विचार व
दबी हुई संवेदनाएं व अनुभव
पीड़ाएं जगमगा रही हैं।

मुक्तिबोध की कविता ने एक ऐतिहासिक काम यह किया कि एक पूरी पीढ़ी को 'अकविता' की विकृत दैहिक भूलभूलैया में भटकने से रोक दिया, जिसका बाज़ार उन दिनों काफ़ी सजा हुआ था और कई वरिष्ठ कवि भी भाषा में यौन कुंठा और अराजकता के परनाले बहा रहे थे। 'अंधेरे में' के ज़रिये जैसे इस रुग्ण क्रोध को एक सामाजिक दिशा और राजनीतिक धार मिली। इस तरह इस कविता ने अगली पीढ़ी के संवेदन तंत्र में भी कुछ बदलाव किया और उसे एक ऐसा रूप दिया जो मुक्तिबोध को ही उद्धृत करें तो, 'स्थानांतरगामी' था। यह व्यक्ति से समाज की ओर जाने की शिक्षा देने वाली कविता थी। प्रगतिशील कविता की परंपरा और रघुवीर सहाय और कुंवर नारायण जैसे कवियों को छोड़ दें तो ज़्यादातर 'नयी कविता' मानसिक प्रत्याघातों का चित्रण अधिक थी और मुक्तिबोध ने उसकी आलोचना में कहा था कि वह 'भावनात्मक प्रतिक्रियाओं से आगे नहीं जाती।'

'अंधेरे में' और मुक्तिबोध की दूसरी कविताओं ने हमारी पीढ़ी को क्या सिखाया? उनकी संरचना और शिल्प की नक़ल शायद किसी ने नहीं की और यह संभव भी नहीं था...यहां तक कि अपने को मुक्तिबोध से सर्वाधिक प्रभावित माननेवाले कवि□विनोद कुमार शुक्ल, चंद्रकांत देवताले और विष्णु खरे आदि... भी मुक्तिबोध की संवेदना और शैली के चिन्हों पर नहीं चले। पिछले दिनों विष्णु खरे ने मुक्तिबोध को 'सृजन-पिता और असद जैदी ने खुद को 'मुक्तिबोध की काव्य-संतान' कहा है। दरअसल, हर नया समय एक बदली हुई संवेदना की मांग करता है या उसे उत्पन्न करता है और पूर्ववर्ती पीढ़ियां भी अपनी संवेदना से अधिक अपना जीवन-विवेक ही अगली पीढ़ी को सौंपती हैं। लेकिन मुक्तिबोध की काव्य संवेदना के कई पहलू नयी पीढ़ी तक पहुंचे और उनकी विकलता, बेचैनी, विडंबना-बोध, ग्लानि, स्थानांतरण की प्रवृत्ति और 'जड़ीभूत सौंदर्याभिरुचि' के निषेध को बाद की बहुत सारी कविता में देखा जा सकता है। इसी के साथ उनका काव्य-विवेक, जिसमें उनकी गहरी वैचारिक प्रतिबद्धता, मार्क्सवाद में विश्वास, प्रगतिशील कविता और आलोचना की ख़ामियों का एहसास और 'पार्टनर, तुम्हारी पॉलिटिक्स क्या है?' भी शामिल हैं, आगे आने वाली पीढ़ियों तक पहुंचता रहा। इस लिहाज से बीते चार दशकों की पड़ताल करें तो यह दिखेगा कि हिंदी की श्रेष्ठ कविता पर मुक्तिबोधीय विवेक की छाया सबसे अधिक है, और उसके बाद शायद रघुवीर सहाय की। यह अकारण नहीं है कि लघु विमर्शों के खंडित दौर के बावजूद 'अंधेरे में' का महावृत्तांत काल से होड़ ले चुका है और महाकाव्यों से रहित हमारे समय का महाकाव्य बन चुका है। उस दौर की बहुत सी कविताएं, जिनमें कई लंबी कविताएं भी शामिल हैं, समय में पीछे चली गयी हैं या उनकी उम्र किसी एक बिंदु पर रुक गयी है, लेकिन 'अंधेरे में' सहित मुक्तिबोध की बहुत सी कविताओं का जीवन समय में आगे और भविष्य की ओर जाता हुआ दिखता है। और 'अंधेरे में' का वह विकराल जुलूस जिसमें सत्ताधारियों, व्यापारियों और डोमाजी उस्ताद से लेकर लेखक-कवि-कलाकार-बुद्धजीवी तक 'मृत्यु-दल की शोभा-यात्रा' की तरह चल रहे हैं, भारतीय ही नहीं बल्कि विश्व कविता में भी ताक़त और अत्याचारी व्यवस्थाओं और उनके हाथ अपनी आत्मा बेच चुके लोगों को दर्ज करने, उनका प्रतिरोध करने और उनसे हमें आगाह करने वाले महान दृश्य की तरह अमिट है और अपने में भी एक संपूर्ण कविता है।

मो. : 09910402459

मुक्तिबोध बरास्ते त्रिलोचन

केशव तिवारी

एक बार त्रिलोचन जी से अलीगढ मिलने गया। वे वहां अलीगढ़ विश्वविद्यालय, भाषा विभाग में कुछ कार्य कर रहे थे। उन्होंने दो तीन दिन के लिए और रोक लिया। बात बात के दौरान शास्त्री जी ने कहा कि मुक्तिबोध को पढ़ते हो, मेरे चेहरे के भाव भांप बोले, 'पढ़ना वे बहुत ज़रूरी कवि हैं। भागना नहीं, समझने की कोशिश करना।' मैं जिस तरह बेधड़क शास्त्री जी का दरवाज़ा धकिया अंदर घुसा था, मुक्तिबोध के साथ लगातार एक हिचक बनी रही। पर मैं मडराता रहा ज़रूर उनके आसपास, उनके लिखे और व्यक्तित्व का एक मोह बना रहा मन में। इसी दौरान डॉ. जीवन सिंह के साथ दिग्विजय सिंह कालेज गया जहां मुक्तिबोध अंत के कुछ साल प्राध्यापक रहे, वहीं चक्करदार सीढ़ियां भी देखीं और ब्रहमराक्षस की बावड़ी भी, फिर नागपुर में बसंत त्रिपाठी के साथ उस मिल को देखने गया जहां की हड़ताल का ज़िक्र वे अपनी कविता में करते हैं। यहीं पता चला, डोमा जी उस्ताद 92 साल की लंबी उम्र पा कर मरा। मुक्तिबोध की कविता के बाद में पहले उनका गद्य पढ़ा या यों कहें, उसने पहले पकड़ा मुझे, उनके श्रम के सौंदर्यशास्त्र पर लेख बहुत अच्छे लगे। 'सतह से उठता आदमी' जैसी कहानी आज भी अपनी ओर खींचती है। इन रचनाओं से बिना भिड़े आगे की यात्रा संभव न हो सकती थी। मेरा मानना है कि उन्होंने गद्य और कविता से अपने समय में ऐसा मोर्चा लिया कि कोई दूसरा न ले सका। उन्होने पूरे के पूरे प्रगतिशील आंदोलन को एक मैदान दिया। अपने अंदर के चौकीदार को स्वयं जगाते रहे और पूरी की पूरी मध्यवर्गीय जड़ता और छद्म पर ऐसा प्रहार किया कि उसका यथार्थ समाज के सामने अपने मूलरूप में दिखने लगा। मुक्तिबोध ने अपनी कविताओं में लोक के उपादानों का जितना वैज्ञानिक और सार्थक प्रयोग किया वह सीखने समझने वाली बात है। अंत में यही महसूस हुआ कि धीरे धीरे, बहुत रम के और ठहर के ही मुक्तिबोध तक पहुंचा जा सकता है। यह बात मुझे त्रिलोचन जी से ही पता चली। प्रसंगवश, शमशेर जी की एक बात याद आती है जो उन्होंने अपने संदर्भ में कही थी कि 'अगर मेरी जटिलता में कुछ खोजने जाओगे तो तुम्हें कुछ न मिलेगा।' पर मुक्तिबोध का सबसे अच्छा उनकी जटिलता में ही छिपा है, यह मेरा पक्का मानना है। अगर मुक्तिबोध न होते तो आने वाले प्रगतिशील कवियों के लिए रास्ता बिल्कुल ऐसा न होता। कई कवि दोबारा चर्चा में आ पाये इसके पीछे मुक्तिबोध का ही संघर्ष है। केदारनाथ अग्रवाल कहते थे कि मेरा खनन हुआ है। यह और बात है कि मुक्तिबोध को लेकर उनकी राय जुदा थी। मुक्तिबोध के निकट मैं बरास्ते त्रिलोचन शास्त्री ही पहुंचा। यह एक बहुत बड़ी परंपरा थी, जो एक बड़ा कवि दूसरे बड़े कवि के पास पहुंचने का रास्ता बताता है।

मो. : 08090762827

नाटक की समझ से मुक्तिबोध का संसार खुला

संजय कुंदन

मुक्तिबोध की कविताओं से पहली बार सामना होने पर झटका लगा, बिल्कुल बिजली के करेंट जैसा। उन दिनों मैंने मैट्रिक की परीक्षा पास की थी और इंटर में मेरा दाख़िला पटना कॉलेज में हुआ था। तब इंटर की पढ़ाई कॉलेज में होती थी। तब मेरी बड़ी बहन बी ए में हिंदी साहित्य पढ़ रही थी। मुक्तिबोध उसके कोर्स में थे। मैं उसकी सारी किताबें पढ़ता था, सो मुक्तिबोध को भी पढ़ा। आश्चर्य हुआ कि क्या हिंदी ऐसी भी होती है और क्या कविता इस तरह भी लिखी जाती है। उस समय तक मेरे लेखन और रंगकर्म की शुरुआत हो चुकी थी। साहित्य में ख़ासी दिलचस्पी ले रहा था, पर मुक्तिबोध से सामना नहीं हुआ था। लेकिन उनकी कविता में मैंने घुसना शुरू किया तो आसानी से घुस गया। इसका कारण यह था कि मुझे 'अंधेरे में' बिल्कुल नाटक लगी। नाटकों की तरह ही दृश्य पर दृश्य। संवाद और चरित्र भी। तो इस तरह नाटक की अपनी समझ ने मुझे 'अंधेरे में' को पढ़ने का एक सूत्र दे दिया। मुझे पहली बार पता चला कि इस तरह नाटकीय शैली में भी आधुनिक कविताएं लिखी जा सकती हैं। दिनकर शैली के खंडकाव्यों से अलग। इस तरह मुझे कविता लिखने का भी एक सूत्र मिला। पहली बार पता चला कि भावों का भी मानवीकरण किया जा सकता है। जैसे भूल ग़लती भी जिरह-बख़्तर पहनकर बैठ सकती है। जैसे भारतेंदु के नाटक 'भारत दुर्दशा' में डिसलायल्टी भी एक चरित्र है। पटना में इसके एक मंचन में एक लड़की पैंट-शर्ट पहनकर डिसलायलटी बनी थी। तो इस तरह मुक्तिबोध के ज़रिये मैंने कविता और नाटक के अंतर्संबंध को भी जाना। *चांद का मुंह टेढ़ा है* पढ़ जाने के बाद मैं समझ गया कि हिंदी कविता की भाषा मुक्तिबोध के बाद एकदम बदल सी गयी। हालांकि यह सच है कि *चांद का मुंह टेढ़ा है* की ज़्यादातर कविताएं मेरी समझ में ही नहीं आयीं। कई बार लगता था कि एक ही कविता बार-बार लिखी जा रही है। पर कवि की बेचैनी को महसूस कर सकता था। उन्हें पढ़ते हुए लगा कि अपने जीवन को, इस जीव-जगत को देखने का एक तरीक़ा यह है कि उससे एकदम अलग एक संसार में जाकर उसे देखा जाये। मुक्तिबोध एक अलग ही परिवेश रचते हैं, एक जादुई परिवेश। लेकिन मुझे उसे लेकर कोई दुविधा नहीं थी। मैं अच्छी तरह समझ रहा था कि यह दरअसल हमारा ही जीवन है, जिसका यह रूप देखने के लिए मुक्तिबोध जैसी दृष्टि की ज़रूरत है। उन दिनों मैं रंगमंच के अलावा शहर के साहित्यिक सर्किल में भी उठने-बैठने लगा था। शहर के प्रमुख लेखक-प्राध्यापकों के बीच मुक्तिबोध को लेकर चर्चा होती रहती थी। उनकी बातचीत से भी मुझे मुक्तिबोध को समझने में मदद मिली। मुझे किसी ने बताया कि वह हर किसी से मिलते ही पूछते थे कि पार्टनर, तुम्हारी पॉलिटक्स क्या है। तब मुझे यह बात समझ

में आयी कि साहित्य लिखने या कोई भी गंभीर काम करने के पीछे एक पॉलिटिकल लाइन का होना ज़रूरी है। इस तरह मैंने मन ही मन अपनी एक राजनीतिक दिशा तय कर ली। फिर मैंने मुक्तिबोध का गद्य पढ़ डाला। *एक साहित्यिक की डायरी* पढ़ी। उनका कहानी संग्रह पढ़ा। उनकी कहानियों ने भी मुझे कम नहीं चौंकाया। उनकी कविताओं के विपरीत उनकी कहानियां मुझे कम नाटकीय लगीं। उनकी कहानियों में मुझे कोई ख़ास उतार-चढ़ाव नहीं दिखा। एक ख़ास लय है, जो धीरे-धीरे चलती होती है। वहां भी लगता है जैसे मद्धिम रोशनी में सब कुछ चल रहा है। कहानियों में घटना न के बराबर है। उनमें चीज़ें किसी परिणति पर पहुंचती हुई नहीं दिखतीं। सब कुछ अधूरा-अधूरा सा धुआं, धुआं सा लगता है। इस तरह मेरे सामने साहित्य का एक नया अध्याय खुला। फिर मुक्तिबोध के जीवन के बारे में पता चला। उनके संघर्षपूर्ण जीवन को जाना। मुझे लग गया कि यह शख़्स जीनियस है। उनकी बीड़ी पीती हुई तस्वीर में मुझे एक रूमानियत दिखायी देती थी। मैंने उन्हें मन ही मन अपना हीरो मान लिया। हालांकि यह बात मैंने आज तक किसी को नहीं बतायी। मैं ख़ुद पत्रकारिता के करियर के प्रति आकर्षित था, इसलिए मुझे इस बात ने भी प्रभावित किया कि वे एक अख़बार के संवाददाता के रूप में भी काम कर चुके हैं। उसके बाद जब भी मैं कविता लिखता उनकी भाषा मुझे परेशान करने लगती। मैं इस बात से डर जाता था कि मैं भी कहीं उसी भाषा में न लिखने लग जाऊं। ख़ैर, ऐसा नहीं हुआ। उसके बाद जब मैं ख़ुद बी ए में पहुंचा तो पाठ्यक्रम में मुक्तिबोध थे। मैं इस बात से रोमांचित रहता था कि मुक्तिबोध को तो मैं पूरा पढ़ चुका हूं। उनके कई भाष्य पढ़ और सुन चुका हूं। तभी एक दिन मुक्तिबोध की कक्षा में पटना विश्वविद्यालय के एक जाने-माने प्राध्यापक (जो आजकल बिहार सरकार के बेहद क़रीबी हैं) ने 'अंधेरे में' कविता की जो व्याख्या की, वह सुनकर मैं आश्चर्य में पड़ गया। उन्होंने मृतक दल की शोभायात्रा को सर्वहारा वर्ग का जुलूस बता दिया। तब मुझे लगा कि मुक्तिबोध को सही अर्थों में समझने वाले लोग बेहद कम हैं। मेरे जी में आया कि मैं अध्यापक महोदय को उनकी ग़लती का अहसास कराऊं, लेकिन तब हमलोग अध्यापकों का बहुत सम्मान करते थे। मुझे लगा कि उनसे बेवजह उलझना ठीक नहीं होगा। मैं अपनी समझ पर क़ायम रहूंगा, वे चाहे कुछ भी बतायें। तब से मुक्तिबोध को पढ़ने और समझने का सिलसिला आज भी जारी है। हर बार उन्हें पढ़ने पर कुछ न कुछ नया खुलता है।

मो. : 09910257915

मुक्तिबोध मेरे लिए

अच्युतानंद मिश्र

फ़िराक़ ने अपने प्रतिनिधि संग्रह *बज़्मे ज़िंदगी रंगे शायरी* के संदर्भ में लिखा है, जिसने इसे पढ़ लिया उसने मेरी शायरी का हीरा पा लिया। इस तरह की बात मुक्तिबोध के संदर्भ में कहनी कठिन है। इसका बड़ा कारण है कि मुक्तिबोध का समस्त लेखन किसी भी तरह की प्रतिनिधिकता के संकुचन में फिट नहीं बैठता। मुक्तिबोध सरीखे लेखकों को जब हम प्रतिनिधि रचना के दायरे में रखकर देखने की कोशिश करते हैं तो एक बड़ा आयाम हमसे छूटने लगता है।

यही वजह है कि स्वातंत्र्योत्तर हिंदी लेखन में मुक्तिबोध संभवतः अकेले लेखक है जिन्हें पूरी तरह समझने के लिए आपको उनकी रचनावली से गुज़रना होगा। मैं नहीं जानता कि यह बात तथ्यात्मक रूप से कितनी सही या ग़लत है, लेकिन मेरा अनुमान है कि तमाम रचनावलियों में मुक्तिबोध रचनावली सबसे अधिक पढ़ी जाती होगी।

मैंने जब मुक्तिबोध की कविताएं पढ़नी शुरू कीं, तब हिंदी साहित्य से मेरा परिचय बहुत गहरा नहीं था। स्वातंत्र्योत्तर कविता के नाम पर तब तक मैंने रघुवीर सहाय और सर्वेश्वरदयाल सक्सेना की ही कुछ कविताएं पढ़ रखी थीं। मुक्तिबोध की कविताएं इनसे भिन्न मिज़ाज की थीं और वे धैर्य की मांग करती थीं। लेकिन उस वक़्त मुक्तिबोध का प्रभाव मेरे ऊपर बहुत गहरा पड़ा। मैंने महसूस किया कि मुक्तिबोध की जटिलता महज़ संरचनात्मक उलझन नहीं है, वह पाठकों से एक आंतरिक तादात्म्य की मांग भी करती है।

थोड़े समय बाद कॉलेज की लाइब्रेरी से मैं *मुक्तिबोध रचनावली* खंड 6 लेकर आया और उसे पढ़ने लगा। उसमें मुक्तिबोध की इतिहास और संस्कृति वाली पुस्तक और उनके पत्र थे। मुक्तिबोध के पत्रों को मैंने कई बैठकों में किसी उपन्यास की तरह पढ़ना आरंभ किया। वहां निजता का एक बेहद पवित्र आख्यान मौजूद था। पत्रों के रास्ते मुक्तिबोध का आंतरिक संसार मेरे समक्ष खुला। मुक्तिबोध का आंतरिक जगत एक बीहड़ की तरह था, वहां एक घना अंधेरा था। लेकिन उस अंधेरे में रास्ता टटोलते मनुष्य की खटपट मौजूद थी। यह ध्वनि मेरे लिए मुक्तिबोध को समझने की पहली कोशिश थी। मुझे महसूस होने लगा कि पाठक के तौर पर मैंने कुछ ठोस अर्जित किया है। पत्रों को पढ़कर मैंने यह भी जाना कि लेखक के जीवन का उसकी रचना से, उसकी कल्पना और विवेक निर्माण से कितना गहरा संबंध हो सकता है।

विज्ञान में हर स्थिति के संदर्भ में आदर्श स्थिति की परिकल्पना को विकसित किया जाता है। ऐसे

में वास्तविक व्यवहार में विचलन को समझ पाना और उसे गुणात्मक रूप से व्यक्त करना आसान हो जाता है। इस तरह सिद्धांत और व्यवहार के मध्य एक, ऊबड़-खाबड़ ही सही, रास्ता विकसित होने लगता है। मुक्तिबोध को मैं उसी आदर्श स्थिति के तौर पर देखता हूं। वे मुझे मेरे अवचेतन तक ले जाते हैं। यह सिर्फ़ मेरा अवचेतन नहीं है, मेरे भीतर मौजूद मेरे समाज का अवचेतन भी है।

मनुष्य का आंतरिक संसार बेहद जटिल है। लेखक एक चाभी का गुच्छा है जिससे उन जटिल दरवाज़ों के खुलने की संभावना निर्मित होती है। एक सच्चा लेखक यही करता है। मुक्तिबोध ने मेरे लिए कई दरवाज़ों के ताले खोले।

लेखक आत्मा का डॉक्टर है। यह बात मुक्तिबोध को पढ़कर ठीक-ठीक समझी जा सकती है। मैंने मुक्तिबोध को जब-जब पढ़ा, मेरा स्व के साथ नये स्तर पर संवाद स्थापित हुआ। जब आप ख़ुद से बात करने लगते हैं तो गिरहें खुलने लगती हैं। निजी का एक सार्वजनिक स्वरूप विकसित होने लगता है।

मुक्तिबोध के संदर्भ में अक्सर कहा जाता है कि वे कठिन हैं, दुरूह हैं। तो क्या दुरूहता या कठिनाई को दुर्गुण की तरह देखा जाना चाहिए? फिर जीवन को हम किस तरह देखें? उसकी जटिलताओं का क्या करें? इस दुनिया और इस समाज का क्या करें? लेखक जटिलता या दुरूहता की खोज नहीं करता, वह सच्चाई की तलाश करता है। वह अपनी आत्मा के बीहड़ से समाज के बीहड़ तक लगातार आवाजाही करता है।

मुक्तिबोध लगातार जीवन को लिखते हैं। मुक्तिबोध के लिए लिखना और जीवन जीना दो भिन्न क्रियाएं नहीं हैं। वह एक दूसरे की प्रतिक्रिया भी नहीं है। मुक्तिबोध लेखन को और जीवन को एकमेक करते हैं। उनके यहां साहित्यिक गैर-साहित्यिक जैसी कोटि नहीं है। उनकी डायरी और उनकी कविता, उनकी आलोचना और उनकी कहानी सब एक दूसरे से गहरे रूप में जुड़ी हैं। डायरी का सार्वजानिक स्पेस और कविता का निजी स्पेस एक दूसरे में घुलमिल जाते हैं।

मुक्तिबोध को बहुत योजनाबद्ध तरीके से मैं नहीं पढ़ पाता हूं। आप उनकी कविता के किसी टुकड़े के साथ कहानी का कोई अंश पढ़ सकते हैं। वहां निष्कर्षों का होना न होना कोई बहुत अनिवार्य शर्त नहीं है। ज़रूरत है सतत गतिशीलता की। मुक्तिबोध के लेखन में मौजूद यह सतत गतिशीलता पाठकों के साथ एक नया जैविक संबंध बनाती है।

मेरे लिए मुक्तिबोध का एक अर्थ यह भी है कि अपने भीतर अपने गहरे अंधेरे में जाऊं। 1964 के 'अंधेरे में' नहीं, अपने समय के अंधेरे में। वहां ख़ुद को टटोलकर अपने अस्तित्व को पहचानूं और फिर आत्मा की स्लेट पर आड़ी-तिरछी इबारतों से अपने समाज को लिखूं। मुक्तिबोध को पढ़ते हुए मैंने जाना कि लेखक का काम अस्तित्व और समाज के बीच एक ऐसे पुल की तरह है जिस पर से कठिन वक़्त अपने फ़ौजी बूटों की खटखट के साथ गुज़रता है। अक्सरहां तो लेखक का आत्म नष्ट हो जाता है, लेकिन मुक्तिबोध सरीखे लेखक उन बूटों से उभरे ज़माने के दाग दिखलाते हैं और चेतना बनकर समय की भाप में मौजूद रहते हैं। मैं उस भाप की संघनित एक बूंद द्रव्य होना चाहता हूं।

मो. : 09213166256

ज़िंदगी की कतरन

दो दीमकें लो, एक पंख दो

योगेन्द्र आहूजा

मैं मुक्तिबोध जैसे कथाकार की कहानियों के बारे में कुछ कहना चाहता हूं जिनके बारे में बहुतों को संदेह हो सकता है कि क्या वह कथाकार था भी? मुझे भी है। प्रथमतः, अंततः वे एक कवि थे, हमारी भाषा में पिछले पचास वर्षों की सबसे तेजस्वी प्रतिभा। उनकी संवेदना कविताओं में व्यक्त होती थी और उनकी कविताओं में बेशुमार ऐसी हैं जिनकी पवित्रता और शक्ति की विपुल संपदा देखकर हमारी सांस रुकने लगती है। लेकिन कविताओं के हाशिये पर, किनारे, बीच के अंतरालों में वे जीवन भर कहानियां भी लगातार लिखते रहे□बहुत सी अधूरी छूट गयी, विशृंखल कहानियां, कहानियों के टुकड़े या नोट्स। उनकी कहानियों की संख्या कम नहीं है। बहुत से विशुद्ध कहानीकार भी अपने जीवन में इतनी ही कहानियां लिख पाते हैं। उनके बाद बहुत सी अधूरी कहानियां उनके काग़ज़ों में मिलीं जिनमें से कुछ के तो आख़िरी वाक्य भी अधूरे थे। जैसे एक चलती हुई फ़िल्म अचानक रुक जाये, अचानक अंधकार छा जाये।

हमारी भाषा में कहानी ने एक बहुत लंबा सफ़र तय किया है। जो कहानियों के नियमित पाठक हैं, जानते हैं कि पिछले कुछ वर्षों में हिंदी में कहानी का जैसे पुनर्जन्म हुआ है। हिंदी की कहानी अब विश्वस्तरीय है और इतनी विविधता उसमें है कि जो पाना चाहें वह आज की कहानियों में मिल सकता है□कहन का अनूठा अंदाज़, दृश्यों का रचाव, कहानी का नैसर्गिक ताना बाना, सधा हुआ, संतुलित, निर्दोष शिल्प और इन सबके संग जीवन की एक मर्मी आलोचना। इस समय भी कहानीकारों की कम से कम तीन पीढ़ियां एक साथ सक्रिय हैं, लगातार बेशुमार कहानियां लिखी जा रही हैं और ऐसी कहानियों की कमी नहीं जो अपने नवाचार या गठन से या कथ्य से हमें मुग्ध करती हैं। लेकिन मैं उन सबको छोड़कर, नामचीन, स्टार, चमकते हुए लेखकों को छोड़कर उस कथाकार की बहुत पुरानी कहानियों, ऐसी नाकाम कहानियों के बारे में बात करना चाहता हूं जो संभवतः कहानी कला के मानदंडों पर भी पूरा नहीं उतरतीं और जिनके कहानी होने में भी संदेह है। इसकी वजह यह है कि बेशक वो हों प्रचलित अर्थों में नाकाम, फिर भी आपका पीछा नहीं छोड़तीं। उन्हें भुला पाना या नज़रअंदाज़ या दरकिनार कर पाना मुमकिन नहीं हो पाता□और अनायास, कई बार चुपके से वो जो कुछ कह जाती हैं, वह आपकी चेतना का हिस्सा बनकर हमेशा साथ रहती है। मगर सिर्फ़ इतना ही नहीं। मेरा एक अपना, निजी अनुभव यह भी है□ज़रूरी नहीं कि वह औरों का भी हो□कि आपकी ज़िंदगी के कुछ नाज़ुक, कमज़ोर, निर्णायक, अंधेरे क्षणों में उन कहानियों का कोई हिस्सा, कोई वाक्य तड़ित की तरह कौंध जाता है और बहुत दूर तक आगे का रास्ता आलोकित कर देता है।

उन कहानियों के बारे में कुछ कहने से पहले मुझे इजाज़त दीजिये एक और कहानी, उसका आख़िरी हिस्सा, आख़िरी दृश्य, आख़िरी पैराग्राफ सुनाने की। हर लेखक या कवि काग़ज़ पर जो लिखता है या लिखने की आकांक्षा रखता है या नहीं लिख पाता, उसके अलावा भी उसके जीवन में हर पल, अपने आप, अनभिप्रेत एक अदृश्य टेक्स्ट लिखा जाता रहता है। एक अदृश्य, अलिखित कहानी जो उसके साथ चलती है। यह वही अदृश्य, अलिखित कहानी है, उसका आख़िरी हिस्सा... अपने में बहुत हृदय विदारक, मगर रोमांचक भी। वह भी कोई नयी कहानी नहीं, आप सब जानते हैं। यह 9 या 10 सितंबर 1964 की रात है। दिल्ली के एम्स के कमरा नं 208 के दरवाज़े के शीशे में से एक उम्रदराज़, 53 साल का कवि बेबस निगाहों से भीतर देख रहा है। वहां नीम अंधेरे में एक बेहोश जिस्म है, जिसकी सांस धीरे धीरे उठती और गिरती है। पास में आक्सीजन सिलिंडर हैं, मशीनें। वह कवि स्वीकार नहीं करना चाहता, लेकिन भीतर कहीं उसे एहसास है कि वह शख़्स जो भीतर है, धीरे धीरे मर रहा है और उसके संग बाहर खड़े उस शख़्स के भीतर भी कुछ मरता जा रहा है। उसकी बेहोशी उसके अपने होश का पैमाना बन गयी है। ढाई महीने पहले जून में रघुवीर सहाय ने तत्कालीन प्रधानमंत्री शास्त्री जी के कक्ष से एक बदहवास टेलीफोन किया था : कट थ्रू, दिस इज़ प्राइम मिनिस्टर्स ऑफ़िस, और उसके एक दिन के बाद नयी दिल्ली के रेलवे स्टेशन पर उनके चिंतित कविमित्रों ने उनके आने का इंतज़ार किया था। 26 जून 1964 को नयी दिल्ली के प्लेटफ़ॉर्म पर एक ट्रेन से वह शरीर, टर्मिनल कोमा में, सावधानी से नीचे उतारा गया था। पीछे पीछे एक स्टैंड पर ग्लूकोज की एक बोतल, हिलती-डुलती। वह बेहोश था, चेहरे पर जीवन भर की अस्थिरताओं का तनाव था। उसकी नकसीर फूटी थी। एक एंबुलेंस में वह वहां से सीधे एम्स ले जाया गया था।

बाहर बरामदे की धुंधली रोशनी में वह शख़्स, उम्रदराज़ कवि, बहुत देर इंतज़ार करता है□फिर जैसे किसी दुःस्वप्न में चलता हुआ बस पकड़कर एम्स से माडल टाउन अपने घर जाता है। उस काली, गाढ़ी रात के बीतने का इंतज़ार करते हुए, अपनी बेचैनी को अभिव्यक्ति देने के लिए वह चंद शेर लिखता है, कुछ इस तरह :

ज़माने भर का कोई इस कदर अपना न हो जाये
कि अपनी ज़िंदगी ख़ुद आपको बेगाना हो जाये।
और
सहर होगी, ये शब बीतेगी और ऐसी सहर होगी
कि बेहोशी हमारे होश का पैमाना हो जाये।

कमरा नं. 208 में जो शख़्स भीतर बेहोश है, उसने कभी लिखा था : *साहित्य हमेशा अन्य से संवाद है, इसलिए एक सर्जक की, उसके कर्म की पहली और बुनियादी ज़रूरत है 'स्व' की घेरेबंदी तोड़ पाना।* लेकिन बाहर बरामदे में जो शख़्स बेचैन खड़ा है, वह तो इसके भी आगे जाकर, केवल अपने 'स्व' के परे उस अन्य तक पहुंचना भर नहीं चाहता, वह तो जैसे उस अन्य में अपने को विलीन कर देना चाहता है। देखिये, वह क्या लिखता है :

इधर मैं हूं, उधर मैं हूं, अजल, तू बीच में क्या है।
फ़क़त एक नाम है। ये नाम भी धोखा न हो जाये।

उसी रात मुक्तिबोध का देहांत हो गया। उनकी शवयात्रा में एक युवा चित्रकार ने, जिसकी उम्र उस वक़्त 45 के आसपास थी, कंधा दिया था। वह उस शवयात्रा में नंगे पांवों क्या चला, फिर हमेशा या अधिकतर वैसे ही चलता रहा। उस चित्रकार का नाम था मक़बूल फ़िदा हुसैन और उस कवि का शमशेर बहादुर सिंह। यह वह कहानी है, उसका आख़िरी हिस्सा, जो मुक्तिबोध जीवन भर प्राणों और खून से लिखते रहे। इसमें न जाने कितनी अर्थव्याप्ति, कितने रहस्योद्घाटन हैं। जो दूसरी कहानियां उन्होंने लिखीं, वो इसी कहानी के हिस्से थे। मगर लिटरेचर की दुनिया बेमुरव्वत होती है। जब हमारे सामने रचना होती है तो सिर्फ़ वही सामने होती है। रचनाकार का कितना ही कष्टप्रद जीवन रहा हो, रचना के मूल्यांकन में किसी सहानुभूति का लाभ उसे नहीं मिलता, न दिया जाना चाहिए। तो आइये, उनकी कहानियों के बारे में हम बात करें जो वो जीवन भर कविताओं के किनारे लिखते रहे।

'अंधेरे में'। शायद आपको लगे कि मैं उस बहुत लंबी कविता के बारे में बात करना चाहता हूं जो इतनी चर्चित, इतनी ज़्यादा उद्धरित है, जिसकी बेशुमार आलोचनाएं मौजूद हैं और जो हिंदी कविता में अब एक आधुनिक क्लासिक का दर्जा हासिल कर चुकी है। पता नहीं, किसी को याद भी है या नहीं कि इसी शीर्षक की उनकी एक कहानी भी है। मैं उस कहानी के बारे में बात करना चाहता हूं (प्रसंगवश इसी शीर्षक की एक कहानी निर्मल वर्मा की भी है)। क्या है इस कहानी में? रात को 12 बजे ट्रेन से 25 साल का एक युवक उतरता है। वहां लोग हैं, शोरगुल, प्लेटफ़ॉर्म का परिचित दृश्य। ठंडी हवाएं, गर्म धुआं, चाय की बास। पांच साल पहले वह यहीं रहता था। बाहर तांगे, दुकानें, सराय, अफ़ीम का गोदाम, म्युनिसिपल पार्क, चौराहे, कॉलेज। युवक को रात का यह वातावरण अत्यंत प्रिय मालूम हुआ। रेल की पटरियों के पार मध्यवर्गीय नौकरों के क्वार्टर हैं। एक आंगन में दो खाटें बिछी हैं। एक खाट पर एक पुरुष टेबल लैंप की रोशनी में कुछ पढ़ रहा है। यकायक उसके मन में एक प्यार उमड़ आया। वे घर उसे अत्यंत आत्मीय जैसे लगे, मानो वे उसके अभिन्न अंग हों। मगर अपने ही मन की यह भावना उसे समझ में नहीं आयी। लेखक लिखता है□वह अब भावनाओं का इतना अभ्यस्त नहीं रह गया कि उनका आदर्शीकरण कर सके। यह युवक करता क्या है? बस कहानी के बीच में एक लाइन में संकेत है कि वह मज़दूरों की चालों में नित्य जाया करता है। उनके बीच काम करता है लेकिन शायद ख़ुद मज़दूर नहीं। अमीर दोस्तों के स्वच्छ, सुंदर मकानों में भी जाता, चंदा इकट्ठा करता, चाय पीता, वाद-विवाद करता है। रोज़ का कठिन, शुष्क, दृढ़ जीवन उसे एक विशेष तरह का आत्मविश्वास देता था। परंतु आज... पता नहीं क्यों, वह तरल और भावुक और कुछ कमज़ोर हो रहा है। वह परिचित शहर की गलियों में चलता जाता है। वह अपना लक्ष्यस्थान भूल चुका है। उसे अपने घर की, माता-पिता की, बहन की याद आती है। दूर एक दुकान पर कुछ लोग हैं, एक तांगे वाला, एक मुसलमान सज्जन, एक मौलवी साहब। पुलिस का एक गश्तवान सिपाही जो चेहरे से मुसीबतज़दा लगता है। युवक वहां जाकर चाय मांगता है। वे आपस में बातें कर रहे हैं। पुराने ज़माने की बातें, नये ज़माने का चलन। होटल वाला जो एक सैयद मुसलमान है, बातचीत के बीच में कहता है□मैं आपको एक क़िस्सा सुनाता हूं। दुनिया में बदमाशी है, बदतमीज़ी है। है, पर करना क्या। मौलवी साब, मेरा दिल एक सच्चे सैयद का दिल है। एक दफ़ा क्या हुआ कि हजरत अली अपने महल में बैठे हुए थे। वह हजरत अली का क़िस्सा सुनाता है। वो ग़रीबों के हिमायती हैं, महल में रहते हैं मगर कोई नहीं जानता कि वो बाज़ार में अनाज के बोरे भी उठाते हैं। रेशम का शाही लबादा सिर्फ़ ऊपरी लिबास है, अंदर वो मोटे बोरे के कपड़े पहनते हैं। क़िस्सा सुनाते

हुए सैयद होटल वाले की आंखों में आंसू आ जाते हैं। मौलवी साब, जिनकी चिंता बस एक चाय या बिस्कुट मुफ़्त या उधार लेने की थी, का सिर नीचा हो जाता है। उन्हें लगता है जैसे वो हार गये हों, उनकी विद्वत्ता भी हार गयी हो। युवक बातचीत में कोई शिरकत नहीं करता। वे मौलवी साहब उसके साथ चलने लगते हैं। वे अपने बारे में बताने लगते हैं कि वे मस्जिद में रहते हैं। दस साल पहले शादी हुई थी, मगर उनकी बीवी गहने समेट कर चंपत हो गयी। और तमाम बातें होती हैं। युवक बूढ़े की सूरत से ही कई बातें जान लेता है□वही दुख जो किसी न किसी रूप में प्रत्येक कुचले मध्यवर्गीय के जीवन में मुंह फाड़े खड़ा हुआ है। वह चालीस का है। उसके दिल में सूनापन है, बेचैनी है। एक असंतुष्ट जीवन है। उस वक़्त लड़ाई चल रही है यानी दूसरी जंगे अज़ीम। मौलवी साहब अख़बार पढ़ते हैं, रेडियो भी सुनते हैं। अपनी तरह से दुनिया को, उस वक़्त की राजनीति को और ज़माने की चाल को समझने की कोशिश करते हैं। ये बातें मामूली हैं मगर उनके आसपास भावना का आलोकवलय है। युवक को उनकी बातें अच्छी लगती हैं।

मौलवी जब गली में मुड़कर गया तो युवक की आंखें उस पर थीं। मौलवी का लंबा, दुबला और श्वेतवस्त्रावृत्त सारा शरीर उसे एक चलता फिरता इतिहास मालूम हुआ।

रात काफी हो चुकी है। युवक को अब सोना है। कहां सोये। फिर वह स्टेशन चल पड़ता है। वह वहीं सोना चाहता है। रास्ता अंधेरे से ढंका है। नींद के झोंकों में पैरों में कुछ नरम नरम लगता है। वहां मानव शरीर है, पता नहीं बच्चे का, स्त्री का, जवान का या बूढ़े का। वह भागने लगा किनारे की ओर। लेकिन वहां तक आदमी सोये हैं। सोते हुए मनुष्यों का एक समुद्र है।

युवक के मन में एक प्रश्न, बिजली के नृत्य की तरह, घूमने लगा□क्यों नहीं इतने सब भूखे भिखारी जगकर, जागृत होकर उसको डंडे मारकर चूर चूर कर देते हैं? क्यों उसे अब तक जीवित रहने दिया गया?

एक विस्तृत, शांत खुलापन युवक को ढंक रहा था और उसे सिर्फ़ अपनी आवाज़ सुनाई दे रही थी□पाप, हमारा पाप, हम ढीले ढाले, सुस्त, मध्यवर्गीय, आत्म-संतोषियों का घोर पाप। बंगाल की भूख हमारे चरित्र विनाश का सबसे बड़ा सबूत। उसकी याद आते ही, जिसको भुलाने की तीव्र चेष्टा कर रहा था, उसका हृदय कांपने लगता था और विवेक भावना हांफने लगती थी।

उस लंबी सुदीर्घ सड़क पर वह युवक एक छोटी-सी नगण्य छाया होकर चला जा रहा था।

बस इतनी ही है कहानी जो 1948 के आसपास लिखी गयी थी जब दूसरी बड़ी लड़ाई और बंगाल का अकाल अभी हाल की चीज़ थे। आइये, हम इसका विश्लेषण करें। इस छोटी-सी कहानी में जैसे मुक्तिबोध की सारी बाहरी और आंतरिक दुनिया सिमट आयी है। सारे मुक्तिबोधीय तत्व यहां हैं और वह ख़ास मुक्तिबोधीय आवाज़ तो है ही, गंभीर, भारी, दुर्धर्ष, कभी ग्लानि से भरी, कभी गुस्से से, और कुछ कुछ शोकाकुल जो उनकी हर रचना में हमें सुनायी देती है। एक अतिपरिचित रोज़मर्रा का हिंदुस्तानी दृश्य जिसे हम सब अपने हाथ की रेखाओं की तरह जानते पहचानते हैं। कहानी का पात्र, युवक जो उसे देख रहा है, वह भी इस दृश्य का ही एक हिस्सा है मगर फिर भी उससे बाहर है। उसके पास एक सचेत, जागृत, संवेदनशील, विश्लेषणपरक आंख है और सबसे बढ़कर, एक विशाल हृदय है। वह कष्ट से दबे लोगों के लिये सिर्फ़ सहानुभूति नहीं रखता, वह उन्हें गले लगा लेना चाहता है। उनसे अलग उसका अपना कोई जीवन हो, यह कल्पना उसके लिए नामुमकिन है। उसकी जो भी नियति या नसीब है, उन्हीं के साथ है। सड़क पर सो रहे लोगों को देखकर उसे अपना पाप याद आता है। वह शख़्स जैसे

ख़ुद मुक्तिबोध ही है। कहानी एक ओर एक प्राचीन मिथक को छू आती है। हजरत अली का, उनकी ग़रीबनवाज़ी का ज़िक्र। दूसरी ओर उस वक़्त की वैश्विक परिस्थिति... दूसरी बड़ी लड़ाई, बंगाल का अकाल।

मगर इसमें कहानी कहां है। इसमें तो इतने रिक्त स्थान हैं। तर्क का तार जहां तहां टूटा हुआ है। वह युवक जहां जाने के लिये आया है, वहां जाता क्यों नहीं? जिस काम से आया है वह काम क्यों नहीं करता? वह सिर्फ़ चाय पीने, बातें सुनने तो इतनी रात ट्रेन से नहीं आया होगा। वह इतना संवेदनशील है, लेकिन उसकी संवेदना मन ही में रहती है। वह किसी तरह का कोई हस्तक्षेप नहीं करता, बातचीत में भी अपनी ओर से कोई हिस्सा नहीं लेता, सिर्फ़ सुनता है और अंत में ग्लानि से भर जाता है। यह कहानी कहां है, यह तो सिर्फ़ एक स्केच, एक दृश्य है। कहानी के सारे तत्व यहां मौजूद हैं, मगर जैसे के तैसे, जड़ित, जमी हुई, मूर्च्छित अवस्था में पड़े रहते हैं। कहानी में गतिमयता का संचार नहीं होता। कहानी के अभाव की कुछ पूर्ति उनका विशाल हृदय करता है। बेशक, यह एक विशाल हृदय से उत्प्लावित कहानी है। कुछ हद तक उनकी भाषा उसकी क्षतिपूर्ति करती है। वह ख़ास मुक्तिबोधीय मानवीय आवाज़ भी, जिसका मैंने अभी ज़िक्र किया। मगर ये सब मिलकर भी, लगता है, कहानी में कहानी के अभाव की पूर्ति नहीं कर पाते।

आइये, उनकी एक दूसरी कहानी के बारे में बात करें। उनकी प्रसिद्ध कहानी **क्लाड ईथरली।** कहानी का नैरेटर, 'मैं', पीली धूप से चमकती हुई एक ऊंची भीत के सामने है। कांच के रोशनदान दूर से दीखते हैं। एक अहाता है, उसके पीछे एक आदमक़द दीवार। एक बिजली का ऊंचा खंभा। वह देखता है कि दुमंज़िला मकानों पर चढ़ने की एक ऊंची नसैनी, जिसका अर्थ शायद सीढ़ी होगा, उसी से टिकी हुई है। सहज जिज्ञासावश, अंदर का दृश्य देखने के लिए वह उस नसैनी पर चढ़ जाता है। सामने वाली ऊंची भीत के रोशनदान में से उसकी निगाहें पार निकल जाती हैं। वह जो देखता है, उससे स्तब्ध हो जाता है। दूर ढिलाई से गोल गोल घूमते पंखे के नीचे दो पीली स्फटिक-सी तेज़ आंखें, एक सलवटों भरा चेहरा, बाहर देख रहा है। आंखों से आखें लड़ पड़ती हैं। एक दूसरे को भेदती दो स्तब्ध, एकाग्र आंखें।

वह नीचे उतर पड़ता है। सुनसान रास्ता। कम से कम दो फर्लांग दूरी पर उसे एक आदमी मिलता है। सिर्फ़ एक आदमी। उसका चेहरा खुरदुरा, पंजाबी कहला सकता है, मगर जिस्म लचकदार है। एक नारीतुल्य, जनाना आदमी। उनमें परिचय होता है, बातें होने लगती हैं। वह शख़्स बताता है कि वह सी आई डी है। नैरेटर कहता है□बड़ी अच्छी बात है। मुझे भी इस धंधे में दिलचस्पी है। हम लेखकों का पेशा इससे कुछ मिलता जुलता है। पान की दुकान पर चार पांच आदमी और एक औरत उसे घेर लेते हैं। वे निचले तबके में पुलिस के इन्फ़ॉर्मर्स होंगे। फिर वे आगे बढ़ते हैं। नैरेटर उस शख़्स के जनानेपन में कोई अर्थ, कोई एक्स्प्लेनेशन ढूंढने की कोशिश करता है। वह शख़्स उस बिल्डिंग के बारे में बताता है कि वह एक पागलख़ाना है। अपने बारे में वह बताता है, 'मेरा क़िस्सा मुख़्तसर यों है। तुम मेरे दोस्त हो, इसलिये कह रहा हूं। मैं एक बहुत बड़े करोड़पति सेठ का बेटा हूं। उनके घर में जो काम करने वालियां हुआ करती थीं, उनमें से एक मेरी मां है जो अब भी वहीं है। मैं घर से दूर पाला पोसा गया, पिता के ख़र्चे से। मां मिलने आती। बमुश्किल तमाम मैट्रिक किया, फिर किसी की सिफ़ारिश से सी आई डी की ट्रेनिंग में चला गया। बाद में पता चला कि वहां का ख़र्च भी वही सेठ देता रहा। तुम लेखक वेखक भी हो। बहुत से लेखक और पत्रकार इन्फ़ॉर्मर हैं। इसलिये मैंने सोचा, चलो अच्छा हुआ, एक साथी मिल

गया।

वह शख़्स बातचीत के बीच कहता है□जो आदमी आत्मा की आवाज़ कभी कभी सुन लिया करता है और उसे बयान करके उनसे छुट्टी पा लेता है, वह लेखक हो जाता है। जो लगातार सुनता मगर कुछ कहता नहीं है, वह भोला भाला, सीधा सादा बेवकूफ है। जो उसकी आवाज़ बहुत ज़्यादा सुना करता और वैसा करने लगता है, वह समाज विरोधी तत्वों में शामिल हो जाया करता है। लेकिन जो आदमी आत्मा की आवाज़ ज़रूरत से ज़्यादा सुनकर हमेशा बेचैन रहा करता है और उस बेचैनी में भीतर के हुक्म का पालन करता है, वह निहायत पागल है।

बातचीत के बीच में वह शख़्स लेखक को प्रस्ताव भी दे देता है□तुम क्यों नहीं यह धंधा करते? यह सुनकर लेखक को बहुत कुछ सोचना होता है, धंधा शब्द पर भी वह ठिठक जाता है। आगे बातें होती हैं। वह बताता है कि वहां पागलख़ाने में जो है, उसका नाम है क्लाड ईथरली।

नैरेटर को आश्चर्य का धक्का लगता है। वह सोचता है कि यह कौन शख़्स है जो मुझसे इस तरह बात कर रहा है। लगा कि मैं सचमुच इस दुनिया में नहीं रह रहा हूं। दो सौ मील ऊपर आ गया हूं। पृथ्वी एक चौड़े नीले गोल जगत सी दिखायी दे रही है। मन में एक भयानक उद्वेगपूर्ण भारहीन चंचलता है। एक घनघोर, भयावह, संदिग्ध पल।□तो क्या हिरोशिमा वाला क्लाड ईथरली इस पागलखाने में है?

वह कहता है□हां, वह क्लाड ईथरली ही है।

□तो क्या यह हिंदुस्तान नहीं है? हम अमरीका में रह रहे हैं?

कौन था यह क्लाड ईथरली। कहानी उसके बारे में बताती है, मगर वहां एकाध ब्यौरा ग़लत भी है। वह हिरोशिमा मिशन में भाग लेने वाले ग्रुप में पायलट था। इस मिशन में सात बी-29 विमान लगाये गये थे जिनमें से एक का, जिसका नाम था **स्टेट फ्लश**, वह पायलट था। कहानी में है कि उसके गिराये बम से हिरोशिमा नष्ट हुआ था। लेकिन नहीं, उसने बम नहीं गिराया था। वह उस विमान का चालक नहीं था जिसने असल में बम गिराया था। 6 अगस्त 1945 को टिनियन आइलैंड से वह उड़ा था, रात को 1 बजकर 37 मिनट पर। बम गिराने वाले विमान, जिसका नाम था **एनोला गे**, से एक घंटा पहले। क्लाड ईथरली का काम सिर्फ़ इतना था कि वह हिरोशिमा के आसमान में जाये, वहां से मौसम का हाल बताये। न उसने बम गिराया था, न बम गिरना या विस्फोट या हिरोशिमा शहर का विनाश अपनी आंखों से देखा था। लेकिन बहरहाल, इससे फ़र्क़ नहीं पड़ता, उस मिशन का हिस्सा तो वह था ही। 1947 में उसने एयर फ़ोर्स छोड़ दी। इसके बाद उसका जीवन नरक सरीखा था। ग्लानि और पश्चाताप से भरकर एक या दो बार उसने आत्महत्या की नाकाम कोशिशें कीं। मानसिक चिकित्सालय में उसे डाल दिया गया। वहां वह चार साल रहा लेकिन उसकी हालत बिगड़ती गयी। अमरीकी सरकार ने उसे 'वॉर हीरो' का ख़िताब दिया था। लेकिन वह तो अपने को मानवता का एक घोर अपराधी मानता था। 'वॉर हीरो' का मिथ तोड़ने के लिए वह गुंडों के साथ मिलकर छोटे मोटे अपराध, चोरियां करने लगा। ऐसे अपराध जिनसे उसे कुछ फ़ायदा नहीं होता था। वह डाकघरों पर, बैंकों पर धावा मारता था। हिरोशिमा के मेयर को छोटी मोटी धनराशियां भेजता था। जब वह अस्पताल में था तो ऑस्ट्रिया के शांतिवादी विचारक गुंथर एंडर्स से उसका पत्राचार हुआ। उनके पत्र प्रकाशित भी हुए हैं। उसने लिखा है कि हम ऐसे भयानक संकट के रूबरू हैं जो मांग करता है कि हम अपनी पूरी मूल्य व्यवस्था और वफ़ादारियों पर पुनर्विचार करें। इस गुनाह में जो दूसरे लोग शामिल थे, वे अपनी अंतरात्मा को धोखा देते रहे यह कहकर कि वे

तो एक बहुत बड़ी मशीन या तंत्र का महज़ एक पुर्जा थे। उनका फ़र्ज़ था आज्ञापालन करना और वही उन्होंने किया। मगर यह क्लाड ईथरली के लिए नहीं मुमकिन हुआ। वह मानता था कि हम अपने विचारों और कामों के लिये ख़ुद ज़िम्मेदार हैं। यह ज़िम्मेदारी आप किसी राजनीतिक दल, ट्रेड यूनियन या संस्था या चर्च या राज्य पर नहीं डाल सकते। इनमें से किसी के पास आपसे उच्चतर नैतिकता नहीं, इसलिए किसी को नैतिक हक़ नहीं कि वह आपको कोई निर्देश दे सके। क्लाड ईथरली अपने आप में इतना बड़ा विषय है, उसके जीवन में कई महान उपन्यासों और फ़िल्मों की सामग्री है। दिलचस्प है कि जिस विमान ने सचमुच बम गिराया था, उसका चालक, जिसका नाम था कर्नल पॉल टिबेट्स, वह बिना किसी ग्लानि या पश्चाताप या कचोट के एक सुखी संतुष्ट जीवन जीता रहा और क्लाड ईथरली की परेशानी उसे कभी समझ में नहीं आयी।

मगर मुक्तिबोध की यह कहानी सिर्फ़ क्लाड ईथरली की कहानी नहीं है। वह यहां एक वास्तविक, ऐतिहासिक व्यक्ति तो है, मगर एक रूपक भी है। वह शख़्स कहता है कि भारत के हर बड़े नगर में एक एक अमरीका है। वहां की संस्कृति और आत्मा का संकट हमारी संस्कृति और आत्मा का संकट है। यही कारण है कि आजकल के लेखक और कवि अमरीकी, ब्रिटिश तथा पश्चिमी यूरोपीय साहित्य तथा विचारधाराओं में गोते लगाते हैं, वहां से अपनी आत्मा को शिक्षा और संस्कृति प्रदान करते हैं। क्या यह झूठ है? क्या हमने इंडोनेशियाई या चीनी या अफ्रीकी साहित्य से प्रेरणा ली है या लुमुंबा के काव्य से? छिः छिः, वह तो जानवरों का, चौपायों का साहित्य है। अगर वहां की संस्कृति हमारी संस्कृति है, उनकी आत्मा हमारी आत्मा और उनका संकट हमारा संकट है□जैसा कि सिद्ध है कि, ज़रा पढ़ो अख़बार, करो बातचीत अंग्रेज़ीदां फर्राटेबाज़ लोगों से□तो हमारे यहां भी हिरोशिमा पर बम गिराने वाला विमानचालक क्यों नहीं हो सकता और हमारे यहां भी साम्राज्यवादी, युद्धवादी लोग क्यों नहीं हो सकते! मुख़्तसर क़िस्सा यह है कि हिंदुस्तान भी अमरीका ही है।

क्लाड ईथरली अणुयुद्ध का और सारे युद्धों का विरोध करने वाली आत्मा की आवाज़ का दूसरा नाम है। वह मानसिक रोगी नहीं है। आध्यात्मिक अशांति का, आध्यात्मिक उद्विग्नता का ज्वलंत प्रतीक है। पुराने ज़माने में हमारे बहुतेरे विद्रोही संतों को भी इसी तरह पागल कहा गया। इसके आगे वह शख़्स कहता है कि हमारे अपने मन-हृदय-मस्तिष्क में भी ऐसा ही एक पागलख़ाना है जहां हम अपने उच्च, पवित्र और विद्रोही भावों और विचारों को फेंक देते हैं। जिससे धीरे धीरे या तो वे ख़ुद बदल कर समझौतावादी पोशाक पहनकर सभ्य, भद्र हो जायें यानी दुरुस्त हो जायें या उसी पागलखाने में पड़े रहें।

कहानी का अंत यहां होता है। वह शख़्स कहता है कि व्यापक अन्याय का अनुभव करने वाले मगर उसका विरोध न करने वाले लोगों के अंतःकरण में पाप भावना रहती है, रहनी चाहिए। ईथरली में और उनमें यह बुनियादी एकता और अभेद है। उससे सिद्ध हुआ कि तुम सरीखे सचेत जागरूक संवेदनशील जन क्लाड ईथरली हैं।

उसने मेरे दिल में खंज़र मार दिया, लेखक कहता है, हां यह तो सच है। अवचेतन के तहख़ाने में पड़ी हुई आत्मा विद्रोह करती है। पापाचारों के लिए अपने को ज़िम्मेदार मानती है। यह मेरा भी तो रोग है। 'लेकिन यह सब तुम मुझसे क्यों कह रहे हो?' 'इसलिये कि मैं सी आई डी हूं और तुम्हारी स्क्रीनिंग कर रहा हूं।'

आइये, इस कहानी का विश्लेषण करें। कहानी में बाहरी दुनिया और मनुष्य की आंतरिक दुनिया

के बारे में इतनी चिंताएं हैं कि लगता है कि वे कहानी में सिमट ही नहीं पातीं। इसमें आधुनिक मनुष्य के अंतःकरण की स्क्रीनिंग है, उसके अवचेतन की पड़ताल है, उसका एक सटीक मनोविश्लेषण है। साम्राज्यवाद के, युद्ध के, अणुबम के लिये नफ़रत है। दूसरे विश्वयुद्ध के बाद जो नैतिक सवाल और संकट मनुष्य के सामने खड़े हो गये थे, उनका ज़िक्र है। कहानी में एक तरह की सभ्यता समीक्षा है। आज की कहानी के बारे में कभी कभी कहा जाता है कि उसमें विवरणों की बहुतायत है□इसके विपरीत इस कहानी में जैसे सत्यों की बहुतायत है। कुछ रोज़मर्रा के आमफ़हम सत्य, कुछ दार्शनिक सत्य। लेकिन बहुत सारे अनुत्तरित सवाल इस कहानी में भी हैं। वह जो सी.आई.डी. है, उसका जिस्म जनाना क्यों है। अगर वह मर्दाना होता तो क्या कहानी में कुछ फ़र्क़ पड़ता? वह एक करोड़पति सेठ की नाजायज़ संतान बताया गया है, कहानी के सत्य से इसका क्या संबंध है? थोड़ी देर की मुलाक़ात में ही वह कैसे अपनी निजी, गुप्त बातें उसे बता देता है, बिना किसी उकसावे के? ये बातें कहानी के कथ्य से, या उसके अभिप्रेत से असंबद्ध लगती हैं मगर वो इतनी जीवंत हैं, इस कदर मानीखेज़, कि हम उन्हें महज़ पृष्ठभूमि मान कर, नज़रअंदाज़ करके आगे नहीं बढ़ पाते। फिर वह मैट्रिक पास शख़्स क्या इतनी सटीक सभ्यता समीक्षा, ऐसी राजनीतिक टिप्पणी, और ऐसा गहन मनोविश्लेषण कर सकता है! और वह शिकायत तो अपनी जगह रहती ही है कि कहानी में कुछ घटित नहीं होता। अंत तक बस कुछ घटित होने का इंतज़ार रहता है। कहानी में कोई वाकया, घटना या दुर्घटना नहीं, सिर्फ़ बात होती है□या तो दूसरों से या अपने से□लेकिन क्या केवल वार्तालाप से कहानी बनती है? निर्मल वर्मा मुक्तिबोध की कहानियों के बारे में लिखते हैं कि उनकी कहानियों में सब कुछ स्थिर है, सिर्फ़ बात चलती है। यहां घटनाएं स्थगित हैं, वक़्त और चीज़ें फ्रीज़्ड हैं। उनके बीच मुक्तिबोध के पात्र अपने या दूसरों से बातें करते हुए निकल जाते हैं। वो लिखते हैं कि ऐसा लगता है कि वो चीज़ों के संचारी जीवन को इसलिये फ्रीज़ करते हैं कि मन की प्रयोगशाला में उन तत्वों का एक एक कर परीक्षण कर सकें जिनके सम्मिश्रण से वेदना बनती है। कैसी वेदना, किस तरह की वेदना? 'वेदना' तो अपने में एक अमूर्त लफ़्ज़ है। क्या कोई जन्मजात, जैविक वेदना जो इंसान के मन में पैदा होती है या उसके होने से, उसके वजूद से जुड़ी होती है? या वह जिसके स्रोत इंसान के मन में नहीं, उसके बाहर कहीं समाज व्यवस्था में, जीवन स्थितियों में, अर्थतंत्र में होते हैं। निर्मल जी इसके बारे में कुछ नहीं कहते। वो इस बात को नज़रअंदाज़ करते हैं कि मुक्तिबोध मार्क्सवादी थे, और मार्क्सवाद में उनकी एक प्रबल, जिद्दी आस्था थी। मार्क्सवाद उनके लिए आजीविका का साधन नहीं था, वह जीने मरने का प्रश्न था।

निर्मल जी की 'वेदना' वाली बात को याद रखते हुए हम उनकी एक और कहानी देखते हैं। **भूत का उपचार।** मुक्तिबोध कहानी लिखने की कोशिश कर रहे हैं मगर नहीं लिख पाते। कहानी आगे बढ़ने से इंकार कर देती है। फिर लेखक, जैसा कि उसका स्वभाव है, आत्मविश्लेषण करने लगता है। वो बताते हैं कि उसका पात्र ऐसी आबोहवा में रहता है जो उसके आत्मविकास के विरुद्ध है। वह व्यक्ति जब घर में समय नहीं मिलता तो ऑफ़िस में डिफ़रेंशियल केलकुलस में सिर खपाता है। वह गणित के नशे में, साहित्य और संगीत की दुनिया में रहता है, हालांकि वह न साहित्यकार है, न संगीतज्ञ, न गणितज्ञ। इन सबमें पारंगत होने का उसे अवकाश नहीं मिला। उसका कठिन जीवन है। वह तंगी में रहता है, नया कर्ज़ लेकर पुराना चुकाता है। मुक्तिबोध शायद उसकी इसी दुरवस्था को, उसकी दीन हीन हालत को, उसके दबे कुचले होने को कहानी का विषय बनाना चाहते हैं।

वह पात्र लेखक के सामने आ धमकता है। उनमें वार्तालाप होने लगता है। पात्र कहता है□मुझे इतना निकम्मा न समझो। मैंने भी एक नया धंधा सीख लिया है।

> मुझे आश्चर्य का धक्का लगा। यह क्या करने वाला है। सट्टा या जुआ। दफ़्तरी राजनीति से शुरू होकर बातें फिर वहां आ जाती हैं जहां वह लाना चाहता है। मैंने कहा□मिस्टर, ज़िंदगी मैथेमेटिक्स नहीं है। वह ज़िंदा चीज़ है, सस्पंद। क्या समझे।

पात्र लेखक को देखकर हंसता है मानो वह सिर्फ़ एक 'शब्द तत्पर मूर्ख' हो।

> एकाएक मुझे महसूस हुआ कि पात्र का मस्तक दीप्त हो उठा है। वह कुछ कहना चाहता था। उस दिक् के बारे में जो काल का ही एक विस्तार है। ऋण एक यानी माइनस एक का वर्गमूल एक काल्पनिक संख्या है।

माइनस एक का वर्गमूल यानी **स्क्वायर रूट ऑफ माइनस वन**, इसे याद रखियेगा। इसका ज़िक्र उनकी एक अन्य कहानी में भी आता है। पात्र की धारणा है कि सृष्टि यानी प्रकृति इस संख्या को मानती है और उसके गणितशास्त्रीय नियमों के अनुसार बरताव करती है। इसी कारण गणित-विद्या विज्ञान की रानी है। शुद्ध तार्किक भावों में भी प्रतीक होते हैं। यहां ये सांख्यिक प्रतीक हैं। पात्र पूछता है□एक जमा एक क्या होता है? दो। क्या यह सार्वभौम सत्य है? क्या ऐसा हमेशा होता है? वह उदाहरण देता है। एक नदी इधर से आयी एक उधर से। दोनों एकाकार हो गयीं। जब नदी एक हो गयी तो उसे दो नहीं कहा जा सकता। जड़ गणित के नियम हमेशा प्रकृति नहीं मानती। उसमें अपनी एक स्वयं गति है। फिर वह पूछता है□लकीर की क्या परिभाषा है? वह आइंस्टाइन, तारा बिंदुओं, ब्रह्मांड, स्पेस के, समय के बारे में बातें करता, सवाल पूछता है। लेखक की घिग्घी बंध जाती है। वह जो कुछ भी कहता है, पात्र उसकी धज्जियां उड़ाता चला जाता है। फिर वह कहता है□क्षमा करें आप मेरे स्रष्टा हैं। लेकिन आपमें ऑब्जेक्टिव इमेजिनेशन नहीं है। आप नहीं जानते कि शुद्ध तार्किक भावों में भी एक भारी रोमांस होता है।

लेखक चिढ़कर कहता है□आप मुझे अपना पांडित्य क्यों बता रहे हैं?

इसके जवाब में पात्र जो कहता है, उसे साहित्य के पंडित किस तरह लेते हैं, मुझे नहीं पता, लेकिन वह मेरी नज़र में तो हिंदी लिटरेचर का एक 'जेम' है। इसे बार बार पढ़ा जाना चाहिए। वह कहता है□*मेरे भीतर का जीवन आप क्या जानो। जो भीतर है वह धुंआ या कुहरा है, यह ग़लत है। आप मुझे ऐसा पेंट करना चाहते हैं जैसे मैं दुख के, असंगति के, कष्ट के एक गटर का कीड़ा यानी निम्नमध्यवर्गीय हूं। जी नहीं स्रष्टा महोदय, मैं इतना आधुनिक नहीं हूं। मेरी आत्मा आधी क्लासिकल है, आधी रोमांटिक। ईश्वर के लिए आप मुझे ग़लत चित्रित न कीजिये। ठीक है कि मैं तंग गलियों में रहता हूं और बच्चे को कपड़े नहीं हैं, या कि मैं फटेहाल हूं। किंतु मुझ पर दया करने की कुचेष्टा न कीजिये।*

वह आगे कहता है□*क्षमा कीजिये, लेकिन यह सच है कि आप लोग मन की कुछ विशेष अवस्थाओं को ही अत्यंत महत्वपूर्ण मानकर चलते हैं□विशेषकर उन अवस्थाओं को जहां वह अवसन्न है, और बाहरी पीड़ाओं से दुखी है। मैं उस अवसन्नता और पीड़ा का समर्थक नहीं, भयानक विरोधी हूं। ये पीड़ाएं दूर होनी चाहिए। लेकिन उन्हें अलग हटाने के लिए मन में एक भव्यता लानी होती है□चाहे वो भव्यता पीड़ा दूर करने संबंधी हो या गणितशास्त्रीय कल्पना की एक नयी अभिव्यक्ति! उस भव्य भावना को यदि*

उतारा जाये तो क्या कहना!

इसलिए, जनाबेआली, मैं इस बात का विरोध करता हूं कि आप निम्न-मध्यवर्गीय कहकर मुझे ज़लील करें, मेरे फटेहाल कपड़ों की तरफ़ जान-बूझकर लोगों का ध्यान इस उद्देश्य से खिंचवायें कि वे मुझ पर दया करें। उन सालों की ऐसी-तैसी!

निर्मल जी ने मुक्तिबोध की कहानियों में वेदना की बात की थी। मुक्तिबोध उसकी वेदना को उसकी अंदरूनी मस्ती या भव्यता से पृथक कर अपनी कहानी का विषय बनाना चाहते थे, और इस बात पर लड़ने झगड़ने के लिए ख़ुद उनका पात्र उनके सामने चला आया।

यह कहानी बहुत महत्वपूर्ण है। लेकिन कहानी के रूप में नहीं, इस कहानी में साहित्य के बारे में जो सिद्धांत निरूपण है, उसके कारण। कहानी तो यह है ही नहीं। कहानी को भूल जाइये, साहित्य को भी भूल जाइये। लिटरेचर के अलावा और उसके बाहर भी तो एक दुनिया है। मुझे तो इन लफ़्ज़ों ने इंसान को देखने का एक नज़रिया दिया। मुझे उसके चेहरे की लकीरों के पार देखना, उसकी अंतरात्मा में झांकना सिखाया। मुझे बताया कि फटेहाली, फ़ाक़ाकशी, भूख, दारिद्र्य, दुख, अपमान... बेशक ये सब घृणित चीज़ें हैं, उन्हें सबसे पहले दूर करना ज़रूरी है और लिटरेचर का एक उद्देश्य है कि उन्हें दूर करने के लिए जो हज़ारहा लड़ाइयां चल रही हैं, उनमें वह भी शामिल हो। मगर फटेहाली और दारिद्र्य मनुष्य की पूरी परिभाषा नहीं है, यहां तक कि फटेहाल और दरिद्र की भी पूरी परिभाषा वह नहीं है। फटेहाली के भीतर भी खजाने छुपे हो सकते हैं, होते हैं। हर मनुष्य के भीतर एक भव्यता, एक कल्पनाशीलता, सौंदर्यबोध होता है। हर मनुष्य अपने में एक विश्व होता है। इस धरती पर जितने मनुष्य हैं, उतने विश्व हैं। उसमें असीम सौंदर्य, अनंत संभावनाएं होती हैं, जिनसे निगाह हटनी नहीं चाहिए। साहित्य का संबंध सिर्फ़ मनुष्य की ऊपरी दरिद्रता से नहीं, उसकी अंदरूनी भव्यता से भी है। सिर्फ उसकी वेदना से नहीं, उसकी मस्ती से भी। अदब महज़ ज़िंदगी के वाकेयात की मुसव्वरी नहीं है, वह ज़िंदगी के बुलंद मक़ासिद की मुसव्वरी है। यह बात **मार्क्सवादियों** की बात से थोड़ा अलग या दूर की महसूस हो सकती है, मगर यह बात **मार्क्स** के करीब है। यहां इस बात को विस्तार देने का अवकाश नहीं है लेकिन जान लें कि मार्क्स बेशक अपने ज़माने के तरक़्क़ीपंसद अदीबों के साथ थे, मगर जिन पर वे फ़िदा थे, वे थे शेक्सपीयर।

ब्रह्मराक्षस का शिष्य

आप जानते हैं, 'ब्रह्मराक्षस' शीर्षक की उनकी एक प्रसिद्ध कविता भी है। उसमें शहर के बाहर एक खंडहर में एक परित्यक्त सूनी बावड़ी के ठंडे अंधेरे में जल की गहराइयां हैं। वहां न जाने कब से जमे पुराने पानी में बावड़ी की अनेक सीढ़ियां डूबी हुई हैं। उस बावड़ी को बहुत सारी उलझी शाखाओं ने घेर रखा है। शाखों पर लटकते घुग्घुओं के घोंसले हैं। बावड़ी की उन घनी गहराइयों में एक ब्रह्मराक्षस पैठा है। इस कविता में मुक्तिबोध स्वयं उस ब्रह्मराक्षस का सजल-उर-शिष्य होने और उसके अधूरे कार्यों को पूरा करने की इच्छा ज़ाहिर करते हैं। कविता लंबी है। उसकी आख़िरी पंक्तियां मैं आपको याद दिलाता हूं:

पिस गया वह भीतरी
औ' बाहरी दो कठिन पाटों बीच
ऐसी ट्रेजडी है नीच !!

बावड़ी में वह स्वयं
पागल प्रतीकों में निरंतर कह रहा
वह कोठरी में किस तरह
अपना गणित करता रहा
औ' मर गया...
वह सघन झाड़ी के कंटीले
तम-विवर में
मरे पक्षी सा
विदा ही हो गया
वह ज्योति अनजानी सदा को सो गयी
यह क्यों हुआ
क्यों यह हुआ
मैं ब्रह्मराक्षस का सजल-उर-शिष्य
होना चाहता
जिससे कि उसका वह अधूरा कार्य,
उसकी वेदना का स्रोत
संगत, पूर्ण निष्कर्षों तलक
पहुंचा सकूं।

जब वे यह कविता लिख रहे थे, उसी समय, उसी के दौरान, इसी कविता के हाशिये पर उन्होंने वह कहानी भी लिखी थी□'ब्रह्मराक्षस का शिष्य'। ये दोनों रचनाएं 1957 में साथ साथ लिखी गयी थीं, जैसे उन्होंने एक ही रचना को दो तरह से लिखा हो, या वो एक ही रचना के दो हिस्सं हों। ग़ौर करें कि कविता में वे जो इच्छा ज़ाहिर करते हैं□उस ब्रह्मराक्षस का शिष्य होने की, उसे जैसे इस कहानी में पूरा करते हैं। इस कहानी में वह ब्रह्मराक्षस किसी खंडहर की सूनी बावड़ी के अंधेरे जल में नहीं, एक बहुमंज़िला भव्य भवन में रहता है। कहानी की शुरुआत दिलचस्प है, माहौलसाज़ी ज़बरदस्त। उस महाभव्य भवन की आठवीं मज़िल के ज़ीने से सातवीं मंज़िल के ज़ीने की सूनी सूनी सीढ़ियां उतरता हुआ एक विद्यार्थी है। अभी अभी उसने एक चमत्कार देखा है। तीन कमरे पार करता हुआ एक विशाल वज्रबाहु हाथ। वह बारह साल के बाद इस भवन से बाहर आ रहा है। जब वह चिड़ियों के घोंसलों और बर्रों के छत्तों भरे ऊंचे सिंहद्वार के बाहर निकला तो यकायक राह से गुज़रते हुए लोग भूत भूत कहकर भाग खड़े हुए। आज तक उस भवन में कोई नहीं गया था। बारह साल पहले दक्षिण के एक देहात से वह लड़का भूखा प्यासा वहां आया था। पढ़ने लिखने से बैर रखने के कारण उसके विद्वान पिता ने उसे घर से निकाल दिया था। जंगल जंगल घूमता, राह पूछता वह वहां पहुंचा। उसे गुरु की तलाश थी। दो विद्यार्थी उसकी बात सुनकर ज़ोर-ज़ोर से हंसने लगे। एक ने कहा□देख बे, सामने सिंहद्वार है। उसमें घुस जा, तुझे गुरु मिल जायेगा। उन विद्यार्थियों को पता है कि उस भवन में एक ब्रह्मराक्षस रहता है।

वह भूखा प्यासा मासूम लड़का भीतर जाकर देखता है कि वहां आठ मंज़िलों का एक विशाल भवन है। हर मंज़िल पर विशाल, भव्य, सूने बरामदे, जैसे अभी अभी कोई साफ़ करके गया हो। चादर लगी गद्दियां, वाद्ययंत्र, फानूस, अगरबत्तियां। मगर इतनी प्रबंध व्यवस्था के बाद भी उसे कहीं किसी मनुष्य

के दर्शन नहीं होते। वह मंज़िलें चढ़ता जाता है। उसे डर भी लगता है। आठवीं मंज़िल पर फिर एक भव्य बरामदा मिलता है जहां एक ऋषि मनीषी ध्यान मुद्रा में बैठे हैं।

तुमने यहां आने का साहस कैसे किया? यहां कैसे आये?

लड़का आतंकित हो गया। मुंह से कोई बात नहीं निकली।

कैसे आये? क्यों आये? एक गरज जैसी आवाज़ में वह कहता है।

मैं मूढ़ हूं, निरक्षर हूं। ज्ञानार्जन के लिये आया हूं।

वह उसे तरह तरह से आजमाता है, उसके संकल्प की हर तरह से परीक्षा लेता है। फिर गुरु बनना स्वीकार करता है। वह एक दिल दहलाने वाली, मगर धीमी आवाज़ में कहता है□बारह वर्ष के भीतर तू वेद, शास्त्र, पुराण, गणित, आयुर्वेद, साहित्य, संगीत, समस्त शास्त्र और कलाओं में पारंगत हो जायेगा। केवल भवन त्यागकर बाहर जाने की इजाज़त नहीं होगी।

बारह वर्ष तक वह वहीं रहता है, आठवीं मंज़िल पर। उस भयानक निःसंग, शून्य, वीरान भवन में विद्याध्ययन की गूंजें उठती रहती हैं। दोनों में कोई इस दौरान सातवीं मंज़िल तक भी नहीं उतरता। केवल एक ही बात वह नहीं जान सका, न जानने का प्रयास किया कि वहां यदि और कोई व्यक्ति नहीं है तो यह सारा मामला चलता कैसे है? निश्चित समय पर उन्हें भोजन मिल जाता है। भोजन के समय वे विवादग्रस्त विषयों पर बहसें करते हैं। वहां आठवीं मंज़िल पर एक नयी दुनिया बस गयी। बारह वर्ष के बाद अध्ययन समाप्त होता है। गुरु शिष्य से कहता है□बेटा! आज से तेरा अध्ययन समाप्त हो गया है। आज ही तुझे घर जाना है। बारहवें वर्ष का आज आख़िरी दिन है। स्नानादि से निवृत्त होकर आओ और अपना अंतिम पाठ लो।

पाठ के समय वे दोनों उदास, गंभीर हैं। उनका दिल भर रहा है।

अंतिम पाठ के बाद वे भोजन के लिये तैयार हैं। गुरु कहता है□बेटे खिचड़ी में घी नहीं डाला है?

शिष्य उठने वाला है कि गुरु कहते हैं□नहीं नहीं, उठो मत। वह अपना हाथ इतना बढ़ा देता है कि वह कक्ष पार करता हुआ, दूसरे कक्ष में प्रवेश कर, एक क्षण में घी की लुटिया ले आता है। शिष्य कांपकर स्तंभित रह गया। गुरु बताता है□मैं एक ब्रह्मराक्षस हूं, फिर भी तुम्हारा गुरु हूं। अपने मानव जीवन में मैंने विश्व की समस्त विद्या को मथ डाला। दुर्भाग्य से मुझे कोई योग्य शिष्य न मिला जिसे मैं अपना समस्त ज्ञान दे पाता। इसीलिए मेरी आत्मा संसार में अटकी रह गयी और मैं ब्रह्मराक्षस के रूप में यहां विद्यमान हूं। तुमने मेरा ज्ञान प्राप्त कर मुझे मुक्ति दिला दी। यह उत्तरदायित्व अब तुम पर आ गया। जब तक मेरा दिया तुम किसी और को न दोगे, तब तक तुम्हारी मुक्ति नहीं।

यह कहानी आधुनिक यथार्थवादी कथाओं के शिल्प में नहीं है, एक फ़ैंटेसी है और पुरानी नीति कथाओं, बोध कथाओं के, फ़ेबल के शिल्प में है। इस वक़्त की कहानी, आधुनिक कहानी इस शिल्प में नहीं लिखी जाती। हमारे वक़्त की जटिलता और बहुआयामिता शायद इस शिल्प में नहीं समा सकती। यह शिल्प आज हमें एकायामी लगता है, उसे हम कब का छोड़ आये हैं। यह कहानी कहानी के रूप में कितनी महत्वपूर्ण है, मुझे नहीं मालूम। मगर उसमें जो ज्ञानमीमांसात्मक अवधारणा है, वह बहुत महत्वपूर्ण है। ज्ञान किसी की पर्सनल प्रॉपर्टी नहीं है। वह परंपरा की, सामाजिक व्यवहार की उपज है, उनकी आपसी अंतःक्रिया का परिणाम। इस तरह वह हमेशा एक सामाजिक उत्पाद है और उसे समाज को वापस लौटा देना, यह उसके साथ जुड़ी एक आवश्यक ज़िम्मेदारी है। इस तरह यह हमारे समय की,

पूंजीवादी ज्ञान धारणा का विरोध करती है। इस वक़्त तो ज्ञान पर कब्ज़ा जमाने की और इंटेलेक्चुअल प्रॉपर्टी राइट्स की बातें होती हैं। ज्ञान के मायने भी अब सीमित हैं□उपयोगितापरक या तकनीकी ज्ञान या महज़ सूचनाएं या जानकारियां। ज्ञान पर कब्ज़ा जमाने की चाहना ज्ञान की प्रकृति से बेमेल है। लेकिन सिर्फ़ हमारे समय की नहीं, यह उस बहुत पुरानी ज्ञान धारणा के भी विरुद्ध है जिसके अनुसार ज्ञान पर हक़ केवल कुछ ख़ास वर्णों का था। वह जो हमारी परंपरा का सबसे बड़ा पाप रहा है, *मनुस्मृति* नाम की घृणित किताब। ग़ौर करें कि कहानी में ब्रह्मराक्षस युवक को आजमाने के लिए बहुत सारे सवाल पूछता है, लेकिन उसकी जाति नहीं। इस कहानी को पढ़कर हम समझ पाते हैं कि क्यों मुक्तिबोध ब्रह्मराक्षस को इतने स्नेह से याद करते हैं, उनका सजल-उर-शिष्य होना चाहते हैं। क्यों चाहते हैं कि उसका अधूरा कार्य, उसकी वेदना का स्रोत संगत, पूर्ण निष्कर्षों तलक पंहुचा सकें। कहानी में वे लिखते हैं□*भाग्यवान है वह जिसे ऐसा गुरु मिले।* जब मैं इस कहानी के बारे में सोचता हूं तो मुझे उनकी दूसरी कहानी 'मैं फ़िलासफर नहीं हूं' भी अनिवार्यतः याद आती है। यह 1939 में लिखी गयी एक छोटी सी कहानी है, और उनकी शायद ऐसी अकेली कहानी जिसमें उनका स्वर तंज से भरा है। तंज या व्यंग्य मुक्तिबोध की मूल आवाज़ नहीं है। उस कहानी में भी एक गुरु हैं, एक आधुनिक गुरु। एक डाक्टर ऑफ़ फ़िलॉसफी, विद्वान माने जाने वाले प्रोफ़ेसर साहब जो विद्यार्थियों को मेटाफ़िज़िक्स पढ़ाते हैं। वो दार्शनिक, क्रांतिकारी, साम्यवादी, मैटीरियलिस्ट, एथीस्ट, प्रैगमेटिस्ट, सब कुछ एक साथ हैं। उनके दिमाग़ में बहुत बारीक ख़याल आते हैं□मगर सब ख़यालों के पीछे जो ख़याल आता है, वह यह कि वो बिल्कुल कोरे हैं। टैब्यूला रासा।

वे सफलता की सीढ़ियां चढ़ते जाते हैं। हर सफलता पर अपने आप से पूछते हैं□कहो भाई, अब तो तुम पढ़ लिख गये हो?

फिर आवाज़ आती है□मैं बिल्कुल कोरा हूं। टैब्यूला रासा।

वे कहते हैं□पढ़ाते पढ़ाते ऐसा जी होता है कि कप भर चाय पी लूं और उनसे साफ़ साफ़ कह दूं कि मुझे कुछ नहीं आता है। मुझ पर विश्वास मत करो। मेरी विद्वत्ता इंद्रजाल है। इसके साथ फंसोगे तो जीवन भर धोखा खाओगे और मुझे नहीं भूलोगे। तब मुझे ऐसा लगता है मानो मेरे दिल से खून बह रहा हो।

टैब्यूला रासा लैटिन शब्द है जिसके माने हैं□खाली स्लेट। यह एक पारिभाषिक शब्द भी है, एक ज्ञानमीमांसीय अवधारणा जिसके अनुसार जन्म के साथ मनुष्य कोई पूर्वज्ञान, पूर्व सस्कार लेकर नहीं आता। इस अवधारणा के अनुसार जन्म के समय उसका मस्तिष्क एक खाली स्लेट की तरह होता है। सारा ज्ञान अनुभव और अवबोध से, सामाजिक व्यवहार से आता है। उस ब्रह्मराक्षस जैसे गुरु का मिलना सौभाग्य है। और ज्ञान की प्राप्ति के रास्ते में इस टैब्यूला रासा से टकरा जाना घोरतम दुर्भाग्य।

पक्षी और दीमक मेरी एक और प्रिय कहानी है। इसे तकरीबन तीन दशक पहले, तीस साल पहले पहली बार पढ़ा था और तब से उसे भूलना मेरे लिये संभव नहीं हो पाया। दरअसल, इस कहानी ने ही अपने को भुलाने नहीं दिया। वह बार बार मेरे सामने आती रही।

इस कहानी में भी, पहले पाठ में, लगता है कि कुछ घटित नहीं होता, सिर्फ़ बात होती है। मगर सतह से थोड़ा नीचे उतरें, तली तक जायें तो हम जान पाते हैं कि यहां बहुत कुछ घटित हो रहा है। इस कहानी में नायक या कहानी का मुख्य पात्र अपनी आजीविका के लिये किसी संस्था से जुड़ा है।

यह कोई एनजीओ जैसी संस्था है। उसका सर्वेसर्वा एक सांवले नाटे कद का भगवा खद्दर कुर्ता पहनने वाला शख़्स है। वह शेवरलेट चलाता है। संस्था को कुछ शिक्षा संबंधी कामों के लिये सरकार से कुछ ग्रांट मिला करती है। एक पूरा, सुव्यवस्थित तंत्र है झूठी रसीदें पेश कर ग्रांट हड़प कर जाने का। नायक इसका हिस्सा नहीं है मगर उसमें प्रतिरोध की इच्छाशक्ति भी नहीं है। वह सिर्फ़ खामोश देखता रहता है। उसके दिल के किसी कोने में एक अंधियारा गटर बहता है□आत्मालोचना, दुख और ग्लानि का, उसे लगता है कि वह एक जाल में, बुराई की अनेक चक्रों वाली दैत्याकार मशीन में फंसा है। मगर वह यह महसूस करने के अलावा, दुखी होते रहने के अलावा कुछ नहीं कर पाता। एक श्यामला नाम की नारी है जिससे उसे प्रेम है। वह उसकी उदासीनता पर कुछ वक्र वाक्य कहती है। उस संस्था में उसकी क्या स्थिति है, यह स्पष्ट करने के लिए वह उसे एक कहानी सुनाता है। दरअसल यह वह उसे नहीं, अपने आपको ही सुना रहा है। उसके बहाने यह उसका ख़ुद अपने से ही एक वार्तालाप है। एक प्रकार का आत्म-स्वीकार या कन्फ़ेशन।

एक पक्षी था। नीले आसमान में खूब ऊंचाई पर उड़ता जा रहा था। एक दिन वह नौजवान पक्षी ज़मीन पर चलती हुई एक बैलगाड़ी देखता है। उसमें बड़े बड़े बोरे भरे हैं। गाड़ी वाला चिल्ला कर कहता है□**दो दीमकें लो, एक पंख दो।** उस पक्षी को दीमकों का शौक था। वे हवा में या ऊंचाई पर नहीं, सिर्फ़ ज़मीन पर मिलती थीं। नौजवान पक्षी को लगता है कि यह तो बड़ी सुविधा है। दोनों का सौदा तय हो जाता है। अपनी चोंच से एक पर को खींचकर तोड़ने में उसे पीड़ा भी होती है। मगर बदले में बड़े स्वाद के साथ दो दीमकें दबाकर वह उड़ जाता है। अब उसे गाड़ी वाले से रोज एक पंख के बदले दो दीमकें ख़रीदने की लत लग जाती है। एक दिन उसका पिता देख लेता है। वह समझाता है कि बेटे, दीमकें हमारा स्वाभाविक आहार नहीं हैं। और उनके लिये पंख तो हरगिज़ नहीं दिये जा सकते। मगर नौजवान पक्षी को लत लग गयी थी। उसके पंखों की संख्या घटती गयी। अब वह ऊंचाइयों पर पहले की तरह उड़ान नहीं भर पाता, अपना संतुलन नहीं साध पाता। धीरे धीरे उसकी हालत यह हो गयी कि वह आकाश में उड़ ही नहीं सकता था। वह सिर्फ़ एक पेड़ से दूसरे पेड़ तक उड़ पाता। फिर यह भी कम होता गया। अब वह केवल एक डाल से दूसरी डाल तक फुदक पाता था। मगर उसका दीमकें खाने का शौक नहीं छूटता। कभी कभी वह गाड़ी वाला आता ही नहीं था। तब उसे अपने भीतर एक भयानक ख़ालीपन महसूस होता था। उसने सोचा, मैं ख़ुद दीमकें ढूंढूंगा। वह पेड़ से उतर कर ज़मीन पर आ गया। फिर एक दिन उसके मन में न जाने क्या आया। वह खूब मेहनत से ज़मीन में से दीमकें चुनकर खाने के बजाय उन्हें जमा करने लगा। अगली बार वह गाड़ी वाला नज़र आता है तो वह कहता है□देखो मैंने कितनी दीमकें जमा कर ली हैं।

तो मैं क्या करूं?

ये दीमकें ले लो और मेरे पंख मुझे वापस दे दो।

गाड़ी वाला ठठा कर हंस पड़ा। बेवकूफ, मैं दीमक के बदले पंख लेता हूं। पंख के बदले दीमक नहीं।

गाड़ी वाला चला गया। वह पक्षी छटपटाकर रह गया। एक दिन एक काली बिल्ली आयी और मुंह में उसे दबाकर चली गयी। पक्षी का खून टपक टपक कर ज़मीन पर बूंदों की लकीर बना रहा था।

लेखक लिखता है□श्यामला ध्यान से मुझे देख रही है। कहानी कह चुकने के बाद मुझे एक झटका लगा। हर व्यक्ति के जीवन में एक निर्णायक क्षण आता है जब उसकी सारी शक्तियों को एक साथ

जागृत होना होता है। उसके जीवन में यह वही मोमेंट है। एक संकल्प, एक निश्चय उसके भीतर जागता है। मैं उस पक्षी जैसा नहीं मरूंगा। मैं अभी भी बच सकता हूं। मुझमें उड़ने की ताक़त अभी बाक़ी है। वह फ़ैसला करता है कि उसका जितना क्षरण होना था, हो चुका। वह अपने आप को वापस पायेगा। वह मुश्किल जीवन जियेगा, कष्ट उठायेगा, संघर्ष करेगा। कहानी में सिर्फ़ इतना ही नहीं, इसके अलावा और भी बहुत कुछ है। कहानी इतनी सरलीकृत नहीं है, उसमें बहुत सारी गुत्थियां और जटिलताएं हैं। शुरुआत में एक खिड़की का ज़िक्र आता है जिसे बंद रखना होता है। खिड़की के पार झाड़ियां हैं। वहां पक्षी रहते हैं और अंडे देते हैं। कभी कभी रात बिरात उनकी चीखती आवाज़ें सुनायी देती हैं। वहां शिकार की खोज में एक सांप आता है। उन झाड़ियों में रेंगता फिरता है। एक रात उस खिड़की से कथानायक के कमरे में भी चला आया था। उसे मुश्किल से किस तरह मारा गया, इसकी बारीक डिटेल्स कहानी में हैं। कहानी के अंत में भी एक मरा सांप आता है। कथानायक श्यामला से प्रेम करता है मगर उसे अपने प्रेम पर ख़ुद ही शंका है। श्यामला भी गीले सपनों की दुनिया में रहने वाली नहीं, वह बहस करने वाली एक आधुनिक, सचेत नारी है, उसमें एक पथरीलापन है। इन सबकी अपनी व्यंजनाएं हैं जिनकी वजह से कहानी सघन और अनेकार्थी और बहुआयामी है। मगर कहानी पढ़ने के बाद याद रह जाता है वही पक्षी। मैंने कहा था कि यह कहानी बार बार मेरे सामने आती रही है। सबके जीवन में कभी या अक्सर ऐसा मौक़ा आता है, कोई आपको दो दीमकों का ऑफर देता है और चुपके से एक पंख ले लेता है। ऐसे मौक़ों पर आपको दृढ़ता से, बिना किसी शंका के, एक साफ़ और निश्चयात्मक तरीक़े से कहना होता है□'नहीं'। जब भी ऐसे पल मेरे जीवन में आये, जैसे वे सबके जीवन में आते हैं और आपके जीवन में भी आते रहेंगे, तब यह कहानी मुझे हमेशा याद आयी। *दो दीमकें लो, एक पंख दो।* इस कहानी ने मुझे ऐसे पलों में याद दिलाया कि क्या कहना है, और वह कह पाने की ताक़त भी दी।

मुक्तिबोध की केवल एक कहानी का ज़िक्र और करूंगा। यह कहानी है **'जलना'**, जो उनकी अंतिम नहीं तो अंतिम कहानियों में है। यह उन्होंने अपने अंतिम वर्षो में लिखी थी और उनके जीवन काल में प्रकाशित न हो सकी। यह 1960 में लिखी गयी थी यानी 'नयी कहानी' के दौर में, उस वक़्त जब मोहन राकेश, कमलेश्वर, निर्मल वर्मा इत्यादि की शुरू की रचनाएं सामने आ चुकी थीं। प्रकाशित यह हुई थी उनकी मृत्यु के बाद, 1968 में। यह कहानी कहानी-कला के मापदंडों पर भी मुकम्मिल कहानी है।

कहानी में जो घटनाक्रम है, वह इतना साधारण, इतना मामूली है कि आश्चर्य होता है□और उसका वक़्फ़ा इतना छोटा है कि कहानी बस आधे या अधिक से अधिक एक घंटे के अंतराल में पूरी हो जाती है। एक निम्नमध्यवर्गीय परिवार में सुबह का एक परिचित दृश्य है। परिवार के लोग अभी पूरी तरह जगे नहीं हैं। बाहर आड़ी तिरछी बारिश हो रही है। चुन्नीलाल वर्मा उर्फ चुन्नू, एम एस सी, असिस्टेंट टीचर, परिवार के लोगों के लिये चाय बना रहा है। आप चुन्नीलाल वर्मा उर्फ चुन्नू से पहले मिल चुके हैं। अगर आपको याद नहीं आया तो मैं याद दिलाता हूं। यह वही तो है, जो **भूत का उपचार** कहानी में लेखक से, अपने स्रष्टा से बहस करने, लड़ाई करने चला आया था। जी हां, बिल्कुल वही। जिसकी शिकायत थी कि आप केवल मेरी दुरवस्था का ज़िक्र करते हैं, मेरे भीतर की भव्यता का नहीं। जिसने कहा था कि जो लोग मुझ पर तरस खाते या दया करते हैं, उनकी ऐसी की तैसी।

वह एक विचारशील, कल्पनाशील व्यक्ति है। वह गणित के नशे में, साहित्य और संगीत की दुनिया में, विचारों की दुनिया में रहता है। यह मुक्तिबोध के पात्रों की ख़ासियत है□वे जिन जीवन स्थितियों

में रहते हैं, उन तक महदूद नहीं रहते, उनके द्वारा कुचले नहीं जा पाते। उनका एक हिस्सा यहां होता है, बहुत कष्टकारी जीवन स्थितियों में, मगर दूसरा हिस्सा इतिहास, भूगोल, फ़िलॉसफी, दिक् और काल ... कहां कहां उड़ान भरता है। मैं इसे कहता हूं **'मुक्तिबोधीय उड़ान'**। यह उड़ान वे अंत तक भरते रह सके, तो इसका कारण यह था कि जब भी कोई उनके सामने यह प्रस्ताव लेकर आया, 'दो दीमकें लो, एक पंख दो', तो हर बार उन्होंने एक मजबूत आवाज़ में कहा, बिना किसी दुविधा के□नहीं।

उसकी स्त्री की आंख खुलती है, वह पाती है कि छाती का उसका दबाव अभी दूर नहीं हुआ है। सपने में न मालूम वह किस किस पर चिड़चिड़ा रही थी। बाहर पानी बरस रहा है, आड़ा तिरछा। वह अपने पति को देखती है। उसके मन में तेजाबी काला गटर बहने लगा। यह वह आदमी था जिस पर एक ज़माने में वह जान देती थी। लेकिन अब वह बदल गया है। वह उसका पति है। उसके गुस्से का, विक्षोभ का कोई तात्कालिक कारण नहीं है। वह बरसों से उसके भीतर बूंद बूंद जमा होता आया है। वह तड़ से एकदम उठी। दिल में ज़हर भर कर उसने अपने बगल में सोये हुए बच्चे को इस तरह झकझोर कर जगा दिया कि जिससे वह खूब रो उठे, चीखे, इतना तीखा शोर करे जिससे सब लोग, सास ससुर, पति, बड़ा लड़का, छोटे चिल्लर पिल्लर, सब उस कर्कश क्रंदन को सुनकर अशांत और बेचैन हो उठें, हाय हाय करने लगें। घर भर पर यह उसका प्रतिशोध है। वह सबसे बदला लेना चाहती थी, उस आक्रोश के द्वारा जो ख़ुद उसका अपना नहीं था। पति अस्तव्यस्त बालों वाली अपनी पत्नी को देखता है और सन्न रह जाता है। वह चुपचाप चाय बना रहा है। जान लेता है कि आज हालात पेचीदा हैं।

चुन्नीलाल वर्मा उर्फ चुन्नू का कठिन जीवन है। वह तंगी में रहता है। नया कर्ज़ लेकर पुराना चुकाता है। इस कहानी में भी दिक् का, काल का ज़िक्र आता है। आपको ध्यान होगा कि 'भूत का उपचार' कहानी में ऋण एक यानी माइनस एक के वर्गमूल का ज़िक्र आता है। वह यहां भी आता है। मुक्तिबोध इससे अभिभूत जान पड़ते हैं और क्यों, इसे हम लोग गणितज्ञ नहीं हैं, फिर भी समझ सकते हैं। आप जानते हैं कि किसी संख्या का वर्गमूल होता है वह संख्या जिसे उसी से गुणा करें तो परिणाम वही आये। जैसे चार का वर्गमूल दो। दो गुणा दो बराबर चार। माइनस एक का वर्गमूल एक असंभव, एक काल्पनिक संख्या है। ऐसी कोई संख्या संभव नहीं है जिसे उसी से गुणा करें तो परिणाम माइनस एक आये। प्लस एक को प्लस एक से गुणा करें तो परिणाम आता है प्लस एक। माइनस एक को माइनस एक से गुणा करें तो भी परिणाम आता है प्लस एक। इस तरह माइनस एक का वर्गमूल एक तार्किक असंभावना है। उसका जीवन में, प्रकृति में कोई वजूद नहीं है। आप कहेंगे कि उसमें अभिभूत होने वाली क्या बात है। वह बात यह है कि एक असंभव संख्या होने के बावजूद गणित में उसका इस्तेमाल वास्तविक कैलकुलेशंस में किया जाता है। गणित जो तर्क का, लॉजिक का शुद्धतम, उच्चतम रूप है, उसमें एक तार्किक असंगति का सहारा लिया जाता है। उसे गणित में अंग्रेजी के 'आई' से डीनोट करते हैं। अगर गणित में हर संख्या या सिंबल नेचर की किसी वास्तविक घटना या परिघटना का प्रतीक है, तो इस 'आई' का नेचर में कोई वजूद नहीं है। वह सिर्फ़ एक कल्पना है। फिर भी उसकी मदद से विज्ञान की वास्तविक गुत्थियां सुलझायी जाती हैं, एक झूठ की उंगली पकड़कर सच तक पंहुचा जाता है। इसमें जो कविता या भव्यता है, वह मुक्तिबोध से अलक्षित कैसे रह सकती थी!

हम उस कहानी पर वापस लौटें। बालों का उलझा जंगल लिये मां का खांसता हांफता बदन, रक्तहीनता के कारण काला और विद्रूप, गिड़गिड़ाकर कहता है□मुझे एक गरम चाय और दे, चुन्नू।

चुन्नू का मन उस आर्त वाणी को सुनकर दुखी हो गया। कहां गयी मां की वह पुरानी शान, जब वह घर भर पर शासन करती थी। किंतु आज वह निश्चित संख्या से अधिक एक कप चाय के लिए गिड़गिड़ा रही है। नहीं, उसका कर्तव्य है कि दमे से जर्जर इस देह के लिये व्यवस्था की जाये। अवश्य। अवश्य।

मगर दूध तो ख़त्म हो चुका है। सिर्फ़ दो चम्मच गिना गिनाया उसकी पत्नी के लिये रखा है। अब क्या किया जाये। उसने मां की तरफ़ देखा और एकाएक ज़ोर से हंस पड़ा। मां को अपनी बांहों में भर लिया। मां को तकलीफ़ होने लगी। वह चीख उठी□अरे छोड़, छोड़। उसने मां को ज़बरदस्ती हाथों से उठा लिया और उसको लेकर लगा नाचने गोल गोल।

पति कुछ रद्दी काग़ज़ बेच कर दूध लाने के लिए गया है। उसके पीछे पत्नी उस बचे खुचे दूध से अपने लिए चाय बनाती है। चूल्हे के लाल अंगारों पर उसकी दृष्टि स्थिर है। वह लकड़ियों को आगे सरकाती जा रही है। उनका प्रकाश और गरमी बढ़ते जा रहे हैं। वह याद करती है, कल क्या हुआ था, क्यों वह इतनी विक्षुब्ध थी। उसे ऐसी कोई घटना याद नहीं आती। संभवतः ऐसी कोई घटना हुई ही नहीं थी। बस एक विक्षोभ था जिसने उसके मन में आत्मनाशक सपने और भाव तैरा दिये थे। वह सोच रही है। उसके दिल में अभाव का, हानि का दुख भरता गया। हर तीसरे साल बच्चे, जन्म और मृत्यु, कर्ज़ और अपमान, बढ़ती हुई ज़िम्मेदारियां, और काम, काम, काम। वह चूल्हे के सामने अपने इन्हीं ख़्यालों में गिरफ़्तार है। चूल्हे में से एक चिंगारी तड़ाक से साड़ी के किसी कोने में दुबककर बैठ जाती है। पति जब लौटता है तो पाता है कि वहां कुहराम मचा हुआ है। बच्चे रो रहे हैं। बूढी मां रोती हुई कांप रही है। बूढ़े बाप के चेहरे पर श्मशान की छाया है। उसकी पत्नी नीचे औंधी पड़ी है, पानी में तर। सारा फर्श गीला है। शुक्र है, आग ज़्यादा नहीं फैली। स्त्री अब भी चुप है, निश्चेष्ट है। वह फटी फटी आंखों से न जाने क्या सोच रही है। उसका दारिद्र्य और भयानक हो उठा है।

और अकस्मात चुन्नीलाल को लगा कि अब वह अपने एकांत की रक्षा नहीं कर सकेगा। उसे लड़ाई में कूद पड़ना होगा, उसे मुठभेड़ करनी ही होगी। उसे अपने सपने भूल जाने होंगे, परिस्थितियों को वश में करने के कार्य में उसे दक्ष और समर्थ होना होगा। इसके बाद कहानी सिर्फ़ इतनी है कि उसे बरनॉल की व्यवस्था करनी है।

कहानी में जो कथा है, वह इतनी मामूली है। मगर यह मुक्तिबोध के समर्थ और जादुई हाथ हैं कि कहानी ऐसी बन पड़ती है कि उसके टेक्सचर को जहां छुओ, वहां अर्थों का विस्फोट होता है। पत्नी का यह चिड़चिड़ापन, उसका गुस्सा, विक्षोभ, उसका लड़ाकूपन... हमें पता चलता है कि यह तो उसके प्रेम की अभिव्यक्तियां हैं। वह अपने पति से बेहद प्रेम करती है। यह तो उनका तंगी और अभाव का जीवन है जिसने उनके सहज मनोवेगों को उलट दिया है। मुक्तिबोध बार बार वह उड़ान लेते हैं जिसे मैंने कहा है मुक्तिबोधीय उड़ान, और एक से अधिक बार□और ऐसे स्थलों पर उनका गद्य भी ऐसी ऊंचाई हासिल करता है कि मानवीय और कलात्मक सच्चाई की एक मिसाल बन जाता है। उसे मैं अपने शब्दों में नहीं कह सकता। मुझे इजाज़त दें एक हिस्सा पढ़ने की।

> और अकस्मात उसे भान हुआ कि मनुष्य अपने इतिहास से जुदा नहीं है, वह कभी भी अपने इतिहास से जुदा नहीं हो सकता। न अपने बाह्य जीवन के इतिहास से, न अपने अंतर्जीवन के इतिहास से। उसका अंतर्जीवन अपने स्वप्नों में, अपने तर्कों और विश्लेषणों में, डूबता आ रहा है। उसे अधिकार है कि वह

उसमें डूबता रहे, अपने से बाहर निकलने की उसे ज़रूरत नहीं है। अपने से बाहर वे निकलें, जिनका बाह्य से कोई विरोध हो।

क्या यह सच नहीं है कि गणितशास्त्र में, जिसका उसने एमएससी तक अध्ययन किया था, एक काल्पनिक संख्या भी होती है? क्या यह काल्पनिक संख्या फिजूल है? क्या प्रकृति की सूक्ष्म क्रियाएं इसी संख्या का अनुसरण नहीं करतीं? क्या ऋण एक राशि का वर्गमूल एक भ्रामक वस्तु है? क्या सीधी रेखा वक्र रेखा का ही एक विशिष्ट रूप नहीं है? क्या यह झूठ है कि एक समय वह भी आयेगा, जब वैज्ञानिक विधि-शिल्प इतना बढ़ जायेगा कि मानव जीवन प्रकृति की शक्तियों का आज से अधिक दोहन करके, अधिक विकसित होते हुए, अपने आप को बदल डालेगा? कि आज के प्रश्न और समस्याएं इतिहास की वस्तु होकर बहुत बार हास्यास्पद भी प्रतीत होती होंगी, उसी प्रकार हास्यास्पद जिस प्रकार बुंदेला नरेश राणा के युद्ध! क्या यह सच नहीं है कि आज से सौ साल बाद सामान्य मनुष्य इतना सुविज्ञ हो जायेगा कि विज्ञान प्राप्त नयी सुविधाओं के कारण, वह फ़िलॉसफी और पोएट्री के प्रश्नों पर बहस करने लगेगा? अजी, दुनिया और समाज की ज़िंदगी में सौ साल बहुत थोड़े होते हैं। इतिहास की एक पलक गिरती और उठती है कि एक सौ साल हो जाते हैं। उसमें धरा क्या है? मेरे बच्चे के बच्चे उस नयी आभा को अवश्य देखेंगे। अजी उसके पहले भी यह संभव है। I don't care. I will live in my dreams, this is my private world, and I am entitled to live in it, I am not prepared to let others destroy it.

मुक्तिबोध की कहानियों पर गंभीरतापूर्वक विचार नहीं हुआ है। उनके कवि, आलोचक, साहित्य चिंतक ने उनके कथाकार पक्ष को आच्छादित किये रखा। फिर ये कहानियां अपने रूप और गठन में इस कदर जुदा हैं कि कहानियों जैसी लगती ही नहीं। यही मानकर चला गया कि वे महज़ उनकी कविताओं के किनारे यूं ही दर्ज कर दी गयी एंट्रीज़ हैं और उनके मानियों को खोल पाने की कुंजी भी वहीं कहीं होगी□उनकी कविताओं के भीतर। निर्मल वर्मा ने लिखा है□वे अधूरी और प्रतीक्षारत कहानियां हैं। उनमें पहले वाक्य से अंतिम पूर्णविराम तक, सब कुछ सपाट, निश्चित, पूर्वनिर्धारित जान पड़ता है। किंतु किस बात की प्रतीक्षा? इसका जो उत्तर वे देते हैं, वह यह है□यह होने वाली घटना कोई और नहीं, कविता है□कहानियों में कविता होने की संभाव्य घटना। कहानी के कथ्यस्थल मे कहीं कविता का टाइमबम है। उसके विस्फोट की प्रतीक्षा में पेड़, झाड़ियां, चट्टानें, सरोवर, तालाब, अंधेरी गलियां, बर्फ से जमे, सहमे और स्तब्ध खड़े रहते हैं। वे स्थिर, बिना हिलेडुले खड़े रहते हैं और हम समझ नहीं पाते, वे वहां क्यों हैं, क्योंकि वे इतने जीवंत और प्राणवान हैं कि केवल कहानी की पृष्ठभूमि नहीं जान पड़ते, लेकिन वे इतने स्थिर, मूक और तटस्थ भी हैं कि कहानी में कहीं भी प्रत्यक्ष रूप से दख़ल नहीं देते। वे मुक्तिबोध के अजन्मे रूपक हैं□कहानी के ठहरे उपादान□जो होने वाली कविता में सहसा अंधेरी गुफाओं और रहस्यमय सरोवरों में अपना दूसरा जीवन ग्रहण करते हैं।

यह अपने में एक बहुत गहन बात है। शायद कुछ ज़्यादा ही गहन... कुछ कुछ रहस्यमय। क्या कविता के लिए यह आवश्यक होता है कि पहले कहानी लिखी जाये और फिर उनके कविता होने का इंतज़ार किया जाये। निर्मल जी हमारे बहुत आदरणीय हैं... लेकिन कहे बिना नहीं रहा जाता कि ऐसी रहस्यवादी आलोचना रचना का रहस्य नहीं उजागर करती, उसे भी अपनी तरह रहस्यमय बना देती है। हम यह क्यों न मानें कि इन कहानियों में वह कुछ है जो कविता के तंग कलेवर में नहीं अंट सका, जिसने कविता होने से इंकार कर दिया। बहरहाल, मुक्तिबोध की कहानियां उनकी कविताओं की तैयारी हैं या उनका विस्तार, कविताओं की तलछट हैं या उनके ऊपर जम आयी पपड़ी, इस तरह के सवाल मैं

विद्वान आलोचकों के लिये छोड़ देता हूं। मुझ सरीखे ग़ैर-अकादमिक, साधारण पाठक समीक्षा पद्धतियों और सिद्धांतों से परिचित नहीं होते। पढ़ने के दौरान कुछ सीधी सादी कसौटियां या मानदंड अचेतन रूप से अपने आप बन जाते हैं। वे शायद औरों के लिये बहुत काम के न हों, फिर भी मैं उनमें से कुछ का ज़िक्र करूंगा, क्योंकि वादा कर चुका हूं अपने आप को पूरी तरह उंड़ेल देने का।

यह तो एक बुनियादी शर्त है ही कि भाषा के भीतर के दृश्यों का भाषा के बाहर की दुनिया से मिलान होना चाहिए। यह आवश्यक नहीं कि बाहर की दुनिया यथावत भाषा में चली आये, लेकिन उसमें हमारे वक़्त के सचों, रहस्यों, द्वंद्वों और तनावों को समझने के संकेत ज़रूर होने चाहिए। रचना से शायद बाहर की दुनिया में कुछ न बदलता हो, मगर हमारे भीतर तो कुछ बदलना चाहिए। उसे पढ़ने के बाद हम वह न रह जायें जो पहले थे। दूसरी कसौटी यह है कि बेशक लेखक को सचाई को तथ्यपरक और निर्मम तरीक़े से रखना चाहिए, लेकिन हताशा फैलाते हुए नहीं। उनमें कोई सपना या उम्मीद ज़रूर होनी चाहिए, चाहे वह प्रच्छन्न हो, थोड़ी-सी हो, धुंधली हो। ऐसी कहानी लिखना गुनाह है जिसमें कोई उम्मीद न हो। एक मायूस कहानी लिखना कुफ़्र है जिसके लिए कोई भी सज़ा काफ़ी नहीं।

लेकिन लोग दुनिया में टूटते, हारते, हताश भी तो होते हैं। तो क्या उनकी कहानी न लिखी जाये? या लिखी जाये तो आख़िर में कोई नकली, झूठी उम्मीद दे दी जाये? यह भी नहीं। इसीलिये तो रचना करना एक तनी हुई रस्सी पर चलना है, वह इतनी बड़ी ज़िम्मेदारी है। राइटर का लाड़ला संबोधन ऐसे ही नहीं मिलता। टूटना बिखरना या पराजय हमेशा शर्मनाक नहीं होते। टूटने बिखरने से भी एक उम्मीद पैदा होती है, लेकिन उसे पहचानने की आवश्यकता होती है। दरअसल, मैं जो कहना चाहता हूं, वह मुक्तिबोध ने ही अपने शब्दों में बहुत अच्छी तरह कहा है :

ओ दृषद आत्मन
कट जाओ, टूट जाओ
टूटने से विस्फोट□शब्द जो होगा
गूंजेगा जग भर।
किंतु अकेले की, तुम्हारी ही वह सिर्फ़
नहीं होगी कहानी।

इस कविता का आसान भावानुवाद अपने शब्दों में करूं जो वह कुछ इस तरह होगा : *जिस तरह दो अकेलेपन मिल कर एक 'साथ' बन जाते हैं, उसी तरह दो मायूसियां मिलकर एक उम्मीद बन जाती हैं। और बहुत सारी मायूसियां मिलकर बहुत सारी उम्मीदें, या कोई एक बहुत बड़ी उम्मीद।*

मुक्तिबोध की कहानियों के बीच में कुछ डराने वाले वाक्य अनायास चले आते हैं। 'क्लाड ईथरली' कहानी में एक वाक्य आता है□बहुत से लेखक और पत्रकार इन्फ़ॉर्मर हैं। कौन हैं ये लोग? क्या इन्फ़ॉर्म करते हैं और किसे? इसी कहानी में वे लिखते हैं□बड़े बड़े शहरों के मामूली होटलों में जहां दस पांच आदमी तरह तरह की गप लड़ाते हुए बैठते हैं, उनकी बातें सुनकर, अपना अंदाज़ जमाने के लिए कई भीतरी सूची-भेद्य-तम-प्रवेशक आंखें भी सुनती रहती हैं। यह सब मैं जानता हूं। ख़ुद के अनुभव से बता सकता हूं। हमें एहसास होता है कि इस शख़्स को इस दुनिया की रग रग का पता है। वह तहख़ानों से लेकर आसमानों तक सब कुछ जानता है□इंसान का मन, मानव जाति का अतीत, इतिहास... क्लाड ईथरली, माइनस एक का वर्गमूल, आइंस्टाइन, जगत की रचना, टाइम, स्पेस, तारामंडल और टेब्यूला रासा।

वह इर्द गिर्द से लेकर क्लाड ईथरली तक के बारे में सब कुछ जानता है। वह अनंत दूरियों के पास किसी असंभव तक पहुंचना चाहता है। वह सिर्फ़ एक सचेत, संवेदनशील लेखक नहीं, एक बेचैन, प्रश्नाकुल लेखक है। वह विश्वचेता है। उसका एक हिस्सा आज और यहां रहता है, मगर उसमें पूरा समा नहीं पाता। दूसरा हिस्सा... वह शमशेर जी के शब्दों में पहाड़ों को कुहनियों से ठेलता है, पूरब से पश्चिम को एक कदम से नापता है, शताब्दियों के आर-पार आता जाता है। एक निगाह ज़मीन पर रहती है, एक निगाह सितारों की ओर। सिर्फ़ सुबह को शाम से नहीं, वह ज़मीन को आकाश से मिलाता है, टाइम और स्पेस मापता और नापता है। मगर कहानियों में इतना कुछ सिमट नहीं पाता। शायद इतनी विराट सच्चाइयों के लिए कहानी की विधा ही कुछ छोटी हो जाती है। उनकी कहानियां किसी अनगढ़ थरथराते विश्व में ले जाती हैं और भाषा भी कांपती, थरथराती-सी जान पड़ती है। मगर, जैसा आचार्यों ने कहा है, भाषा की थरथराहट से रचना श्रेष्ठ या महत्वपूर्ण तो हो सकती है, मगर महान रचना तब होती है जब यह थरथराहट थमती है, जब वह संतुलन हासिल करती है। इसलिए कहानी विधा के मानदंडों पर वे कहानियां, विशुद्ध अकादमिक आलोचना के मानदंडों पर, कुछ कमज़ोर, यहां तक कि असफल जान पड़ सकती हैं।

मगर किसे परवाह है सफलता की। रहें वे असफल, मगर फिर भी हमें इतना कुछ देती हैं। वह एक भव्य, महान असफलता है। उनकी यह महान नाकामी मुझमें रश्क जगाती है और उसके आगे सारी सफलताएं निस्तेज, निरर्थक जान पड़ती हैं। पता नहीं यह किसने कहा था□*कलाकार होने का अर्थ है असफल रहना, और कला असफलता के प्रति वफादारी है।* यह वफादारी वे जीवन भर निभाते रहे।

बस एक आख़िरी बात। निर्मल जी ने यह तो सही लिखा है कि मुक्तिबोध की कहानियां अधूरी और इंतज़ार करती हुई कहानियां हैं। मगर किस चीज़ का इंतज़ार, इसका जवाब ढूंढने की कोशिश में वे पता नहीं किस मुश्किल, रहस्यवादी रास्ते पर चले गये। मेरे ख़्याल में इसका उत्तर बहुत सीधा सादा है। एक कहानी की आत्यंतिक आकांक्षा क्या हो सकती है। हर कहानी पूरा होना चाहती है, कहीं पंहुचना चाहती है। वह किसी और चीज़ का नहीं, पूरा होने का, पूरा किये जाने का इंतज़ार कर रही है। जो उन्हें पूरा करेंगे, वे कहीं और से, किसी दूसरी दुनिया से, कहीं आसमानों के परे से नहीं आयेंगे। वे आपमें से ही तो कुछ होंगे। अब हमें इस सवाल का जवाब मिल गया है कि वे कहानियां किसका इंतज़ार कर रही हैं। **दोस्तो, आपका, आप सबका।**

11/63, सेक्टर-3
राजेन्द्र नगर, साहिबाबाद
गाजियाबाद (उ.प्र.)
फोन : 9899398693

सतह से उठते सवाल : 'सतह से उठता आदमी'

लाल्टू

कहा जा सकता है कि 'सतह से उठता आदमी' मूलतः एक अस्तित्ववादी रचना है। ग़ौरतलब बात यह है कि जब यह कहानी लिखी गयी तब विश्व साहित्य में अस्तित्ववादी चिंतन अपने शिखर पर था। पर अस्तित्ववाद आख़िर है क्या? अस्तित्ववाद पर आलोचकों की कई तरह की राय रही है। अक्सर अस्तित्ववाद का उल्लेख आलोचना की गंभीरता मात्र जताने के लिए होता है। सचमुच आलोचक क्या कहना चाहता है यह साफ़ नहीं होता। अस्तित्ववाद जीवन में किसी बृहत्तर मक़सद को ढूंढने से हमें रोकता है। पर 'सतह से उठता आदमी' कहानी हमें अपने अस्तित्व का एक बड़ा मक़सद ढूंढने को कहती है, बशर्ते हमारी संवेदनाएं बिल्कुल कुंद न हो गयी हों, जिसका ख़तरा आज व्यापक है। हमारी कोशिश यहां गंभीर आलोचना की नहीं, महज़ एक खुले दिमाग़ से पुनर्पाठ की है।

'सतह से उठता आदमी' में तीन मुख्य चरित्र हैं□कन्हैया लेखक का प्रतिरूप है या कथावाचक की भूमिका में है, कृष्णस्वरूप उसका मित्र है, जो कभी ग़रीब होता था और अब अच्छी नौकरी मिल जाने से आर्थिक रूप से बेहतर स्थिति में है, और रामनारायण, जिसे कृष्णस्वरूप जीनियस मानता है, जो कभी धनी घर का बिगड़ा लड़का था और अब बौद्धिक उलझनों में खोया हुआ शख़्स है। चरित्रों को भरपूर उभारा गया है, जैसा अमूमन उपन्यास लेखन में होता है, पर यह एक कहानी है, उपन्यास नहीं। पर चरित्रों के उभार पर ध्यान देना ज़रूरी है, नहीं तो सतह से उठने की सतही समझ भर रह जा सकती है।

कौन है जो सतह से उठता है? क्या वह कन्हैया है, या कृष्णस्वरूप या रामनारायण? किस सतह से कोई उठता है? कहां पर, कहां तक उठता है? कहानी के आख़िर में कन्हैया अकेले में गटर में थूकता है। क्या यह सतह से उठने की स्थिति है? हम किसी एक समझ को प्रतिष्ठित न कर अलग-अलग संभावनाओं को सामने आने दें तो बेहतर होगा।

कन्हैया और कृष्णस्वरूप पुराने दोस्त हैं। दोनों के बचपन और किशोर उम्र मुफ़लिसी में, ग़रीबी में बीते हैं। सालों बाद कन्हैया कृष्णस्वरूप से मिलता है तो उसे पता चलता है कि कृष्णस्वरूप संपन्न हो चुका है, पर संस्कारों से वह अभी भी आम ग़रीबों जैसा ही है। कृष्णस्वरूप के घर पर ही रामनारायण कन्हैया से इस तरह मिलता है, जैसे कि उनमें पुरानी पहचान हो, पर सचमुच वे पहले कभी मिले नहीं हैं। रामनारायण धनी मां-बाप का लड़का है, जिनमें आपसी मेल नहीं है। रामनारायण बहुत पढ़ा-लिखा है और अपने पिता की तरह ही आडंबरों से बचता है, पर वह कुछ हद तक विक्षिप्त भी है। कृष्णस्वरूप की माली हालत के बदलाव में रामनारायण की मां का हाथ है और लगता है इस वजह से रामनारायण

कृष्णस्वरूप के साथ अपमानजनक ढंग से बातचीत करता है।

राजकमल से प्रकाशित नेमिचंद्र जैन द्वारा संपादित *रचनावली* के तीसरे खंड में यह कहानी संकलित है। इस संस्करण में अक्सर कुछ लफ़्ज़ों को भारी टाइप शैली में रखा गया है। मसलन इस कहानी में 'भई वाह! उन दिनों कृष्णस्वरूप रोज़ *गीता* पढ़ता था' वाक्य में '*गीता*' पर जोर है। क्या यह मुक्तिबोध का ख़ुद का किया हुआ है, या संपादकीय निर्णय है□यह सवाल शोध का विषय है। 'उन दिनों' यानी वे जो मुफ़लिसी के दिन थे। ज़ाहिर है कि 'उन दिनों' कहते हुए इसके बाइनरी विलोम 'इन दिनों' की ओर भी संकेत रहता है□इन दिनों क्या वह *गीता* पढ़ता है? इस पर कहानी में कोई तथ्य उजागर नहीं होता, पर हो सकता है कि इन दिनों वह *गीता* नहीं पढ़ता। *गीता* का पढ़ा जाना या न पढ़ा जाना क्या बतलाता है? भारतीय मानस में ख़ास कर जिन्हें अब हिंदू कहा जाता है, *गीता* को सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ मानना आम बात है, वैसे ही जैसे और समुदायों में *बाइबिल, कुरान, गुरु ग्रंथ साहब* आदि को सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ मान लिया जाता है। *गीता* में सांख्य और योग के महत्वपूर्ण तत्व हैं और इनका इस्तेमाल कृष्ण द्वारा अर्जुन को जंग लड़ने के लिए तैयार करने के लिए किया गया है। एक स्वच्छंदतावादी (ऐनार्किस्ट) नास्तिक *गीता* को कैसे देखेगा? इसके मद्देनज़र और यह ध्यान में रखते हुए कि अक्सर मुक्तिबोध को मार्क्सवाद के दायरे में रखकर देखा गया है, यह बात ग़ौरतलब है कि *गीता* लफ़्ज़ बोल्ड फोंट में है। इससे मुक्तिबोध का कैसा पाठ बनता है? अगर यह संपादकीय हस्तक्षेप है, तो क्या किसी विशेष पाठ को सामने लाने की, उभारने की कोशिश है?

कहानी पढ़ कर यह भी लगता है कि मुक्तिबोध हमें नैतिकता बोध की ओर ले जा रहे हैं, पर क्या सचमुच ऐसा है? क्या कृष्णस्वरूप में नैतिकता बोध ख़त्म हो गया है कि वह अपने आदर्शों को छोड़कर अचानक मिल रही सुविधाओं को एक के बाद एक ग्रहण करता गया है? वह कृष्णस्वरूप जो 'कहा करता था, चाहिए, चाहिए, चाहिए।' ने सभ्यता को विकृत कर डाला है, मनुष्य-संबंध विकृत कर दिये हैं। तृष्णा बुरी चीज़ है। हमारा जीवन कुरुक्षेत्र है। वह धर्मक्षेत्र है। हर एक को योद्धा होना चाहिए। आसक्ति बुरी चीज़ है, वही आज 'खुशहाल तो है ही, खुशहाली से कुछ ज़्यादा है। उसकी चाल-ढाल बदल गयी है। वह मोटा हो गया है। पेट निकल आया है। ढाई सौ रुपये का सूट पहनता है।' इस नैतिकता बोध में नया कुछ नहीं है। आज के घोर पूंजीवादी, नवउदारवादी युग में तो इसे ओल्ड-फ़ैशन्ड ही कहा जायेगा। जो खुशहाल है या खुशहाली से कुछ ज़्यादा है, उसे लेकर परेशानी क्यों। दुनिया जाये भाड़ में, समाज में दलित, पिछड़े, ग़रीब हों तो हों, पैसे कमाओ, जै सिरीराम बोलो, ऐश करो, दारू-शारू पिओ और खर्राटे मारते हुए सोओ। कृष्णस्वरूप ही तो आज का नॉर्मल है, समाज के लिए परेशानी का सबब तो रामनारायण है, भले ही जिसकी 'बात में मज़ा आता है,' जिसका 'भाषा पर प्रचंड अधिकार है।' फिर भी अगर ऐसा है कि कहानी के केंद्र में नैतिकता का सवाल है तो यह महज़ अस्तित्ववादी रचना नहीं है।

कृष्णस्वरूप के किरदार का एक मज़ेदार पक्ष यह है कि 'उन दिनों' उसके सपने में शंकराचार्य, महात्मा गांधी और जवाहरलाल भी आते थे। ऐसा वह कहता था। कहानी में हमें पता चलता है कि कृष्णस्वरूप सचमुच कन्हैया को प्रभावित करता था। लेकिन किस ढंग से?

इसके बाद का कथन है कि 'उसको' फ़िलॉसफ़ी की ज़रूरत थी, इसलिए कि 'उसका जीवन दुर्दशाग्रस्त था।' किसको? कृष्णस्वरूप को ही शायद, क्योंकि जीवन तो उसका दुर्दशाग्रस्त था। कन्हैया के बारे में भी हम बाद में जान पाते हैं कि उसका जीवन भी कृष्णस्वरूप जैसा ही रहा होगा। तो फ़िलॉसफ़ी

की ज़रूरत कन्हैया को भी थी। कन्हैया कथावाचक की भूमिका में है, या कथावाचक हमें कहानी की दुनिया को कन्हैया की नज़रों से दिखलाना चाहता है? तो क्या मुक्तिबोध अपनी उलझनों को ही हमारे सामने रख रहे हैं? मुक्तिबोध उलझे हुए तो थे ही, यह एक बात उनके बारे में साफ़ कही जा सकती है कि अपने वक़्त के और दीगर रचनाकारों की तुलना में मुक्तिबोध में बौद्धिक सवालों को लेकर जद्दोजहद कहीं ज़्यादा सघन थी।

मुक्तिबोध जिस वक़्त और जिन परिस्थितियों में रहकर साहित्य-लेखन कर रहे थे, उनको जीते हुए वे उन्नीसवीं सदी के अंत या बीसवीं सदी की शुरुआत तक की यूरोपीय आधुनिकता के प्रभाव से अछूते नहीं रह सकते थे। उनके पास 'फ़िलॉसफ़ी ऑफ़ द ऐबसर्ड' की जगह नहीं थी। या जगह बहुत थी तो वह शंकराचार्य, महात्मा गांधी और जवाहरलाल से अलग मार्क्स को जगह दे सकती होगी, पर आधुनिक भारत का जो अति-यथार्थ उनके सामने खुलता जा रहा था, उसके लिए सही फ़िलॉसफ़ी क्या हो सकती है, यह सवाल उन्हें तड़पाता होगा। मसलन कहानी में हम देखते हैं कि रामनारायण देखने में भयानक है। उसमें से 'अज्ञात, अप्राकृतिक विचित्रता' का भय जन्म लेता है। ज़ाहिर है कि इस किरदार को भयानक शक्ल देते हुए कथाकार हमसे मुख़ातिब है। हम अपनी उस भयानक या विक्षिप्त शक्ल को देखने को मजबूर हो जाते हैं, जो न्याय पर अन्याय की जीत सह नहीं पाता, जो तड़पता रहता है।

'कन्हैया ग़रीबी को, उसकी विद्रूपता को, और उसकी पशु-तुल्य नग्नता को जानता है। साथ ही उसके धर्म और दर्शन को भी जानता है। गांधीवादी दर्शन ग़रीबों के लिए बड़े काम का है। वैराग्य भाव, अनासक्ति और कर्मयोग सचमुच एक लौह कवच है, जिसको धारण करके मनुष्य आधा नंगापन और आधा भूखापन सह सकता है। ... उसके आधार पर आत्मगौरव, आत्मनियंत्रण और आत्म दृढ़ता का वरदान पा सकता है।'□यह कौन चीख रहा है? आगे और है□'ग़रीबी एक अनुभवात्मक जीवन है। कठोर से कठोर यथार्थ चारों तरफ़ से घेरे हुए है, एक विराट नकार, एक विराट शून्य-सा छाया हुआ है। लेकिन, इस शून्य के जबड़ों में मांस नोचने वाले दांत और रक्तपायी जीभ हैं।' तो क्या *गीता*, गांधीवादी दर्शन, शंकराचार्य और जवाहरलाल उन्हें उसी कठोर यथार्थ में दिखते हैं? अव्वल तो कहानी में कहानी होना पहली शर्त है, दर्शन हो तो बढ़िया, न हो तो भी ठीक। अगर बौद्धिकता में जाना ही है तो हज़ार साल पहले के पुनरुत्थानवादी वेदांती और अपने समय में पश्चिम के शांतिवादियों से प्रभावित घोषित राष्ट्रपिता और इतिहास में रुचि रखते एक राष्ट्रनेता का नाम एक साथ क्यों? क्या यह महज़ उलझन है, या बयान है? इस रचना के दो ही दशकों बाद कुछ मार्क्सवादी चिंतकों ने *गीता* में मुक्तिकामी सोच प्रतिष्ठित करने की कोशिश की थी। भारतीय वाम चिंतन में ऐसी उलझनों की भरमार है।

क्या मुक्तिबोध के लिए जीवन का कोई तार्किक आधार था? क्या जीवन का कोई मक़सद है□क्या वह मक़सद अपने वक़्त के दक्षिण एशिया में महानायक रह चुके शंकर, गांधी और नेहरू जैसे नामों में है, या वह उस 'अनुभवात्मक जीवन' में ही कहीं है, जो ग़रीबी है? एक साहित्य-रचना के रूप में 'सतह से उठता आदमी' में सबसे बड़ी खूबी यह है कि इन सवालों को मुक्तिबोध खुला छोड़ देते हैं, जो कि उनके समकालीन ही नहीं, बाद के रचनाकारों में भी विरल है। कन्हैया को जीवन की सचाइयों का पता है, पर उसके साथ हम कृष्णस्वरूप और जीनियस रामनारायण के खेल को निर्लिप्त भाव से देखते हैं। खेल कहें या कि पुराने ढंग से भव-लीला कहें। यह जो नये पुराने के बीच का आवागमन है, इसमें मुक्तिबोध अद्वितीय हैं। कहानी में दुर्योधन की प्रसिद्ध उक्ति 'जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्ति / जानाम्यधर्मं

न च मे निवृत्तिः / केनापि देवेन हृदिस्थितेनध्यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि' का इस्तेमाल किया गया है। कृष्णस्वरूप का दुर्योधन धर्म-अधर्म के सामान्य द्वंद्वों में से आराम से गुज़रता है। जो भी सही-ग़लत है, वह सब विधि का विधान है, इस को मानने वाला हीनता से ग्रस्त ग़रीब कृष्णस्वरूप बाद में स्वेच्छा से ख़ुद को बदलता है। हो सकता है कि तब भी वह 'यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि' मानता हो, या कि उसके लिए इसे मानते रहना मजबूरी है, क्योंकि ऐसा न हो तो वह भयानक दिखता रामनारायण जो उसके अंदर भी कहीं बैठा है, उसे जीने न देगा।

नैतिकता बोध के सवाल रुकते नहीं हैं। जो शानदार खूबसूरत है, क्या वह सचमुच शानदार और खूबसूरत है? रामनारायण के पिता जात-पात नहीं मानते, हरि का नाम लेते हैं तो उनकी शानदार खूबसूरत पत्नी उन्हें ताना देकर कहती है कि 'जाओ, उस रंडी के पास जाकर बैठो।' एक उदार पुरुष अपनी खूबसूरत, पर रुढ़िवादी पत्नी का साथ कैसे निभाये, अहंकारी मां रामनारायण को उच्छृंखल बनने से कैसे रोके, ये अस्तित्व के सामान्य संकट हैं। पर इन सबके साथ कृष्णस्वरूप में आ रहे बदलाव, उसके अंदर का लोलुप, महत्वाकांक्षी इंसान जो सतह से ऊपर उठने को बेताब है, उसके संकट विकट हैं। अपने विपन्न अतीत से निकलकर सुविधाओं से लदते रह कर भी वह लाचार है कि भयानक दिखता रामनारायण उसे हेय नज़रों से देखे, उसे दुत्कारे और वह कुछ न कर पाये, सिर्फ़ इसके कि वह कहता रहे कि 'सचमुच जीनियस' है। उन दिनों का उसका *गीता* पाठ, उसके सपने में आते महानायक, सभी इन दिनों बेअसर हैं।

हम इन सवालों का जवाब नहीं ढूंढेंगे, क्योंकि जवाब तो हमें मालूम हैं। कृष्णस्वरूप के अंदर कोई रोता, चिंघाड़ता होगा, यह हम जानते हैं क्योंकि हम सब अपनी-अपनी सतह से उठने की प्रक्रियाओं में फंसे हुए हैं। ये प्रक्रियाएं हमारे निजी दायरों में चल रही हैं और ये हमारे बड़े सामाजिक दायरों में भी चल रही हैं। हम चीख चिल्ला कर झूठ को सच कहने वालों के साथ खड़े हो जाते हैं, हत्यारों को जन-गण-मन अधिनायक बना देते हैं। हमारे अंदर कोई हमें रोकने की, सचेत करने की कोशिश करता है, तो हम उसे जीनियस कह कर अपने से दूर कर लेते हैं, उसकी झिड़कियों को झेल लेते हैं। हम जानते रहे, देखते रहे कि देश की आधी जनता को और भी विपन्नता की ओर धकेला जा रहा है, और हममें इतना भी विवेक नहीं बचा रहा कि हम भयानक दिखते जीनियसों को पहचान कर वापस अपने अंदर कभी देख सकें।

अच्छी अस्तित्ववादी रचना में उदासीनता लाज़िम है, हालांकि अक्सर ऐसी रचनाएं पढ़ने के बाद मुख्य बोध अवसाद का होता है। पर मुक्तिबोध का उदासीन कथावाचन दरअसल उदासीन है नहीं, और समझौतों के किस स्तर तक हम गिर सकते हैं, जो उठना है, वह किस गटर में गिरना है, कन्हैया इसे थूकता हुआ हमें दिखलाता है। मुक्तिबोध हमें कहानी में सीधे नहीं कहते कि हम नैतिक सवालों पर ग़ौर करें, पर पूरी कहानी इसी संकट पर केंद्रित है। कन्हैया की कहानी हमारी कहानी है। यह बस दुनिया को देखना भर नहीं है, उसे और उसमें जीना है। हम कितना उठ रहे हैं और कितना गटर में गिर रहे हैं, यह केंद्रीय सवाल बन कर सामने आता है। इसलिए अस्तित्ववादी जैसी लगती हुई भी यह कहानी बहुत कुछ और है।

फोन : 9966878063

कविता व कहानी की समानांतरता में मुक्तिबोध का ब्रह्मराक्षस

सत्यदेव त्रिपाठी

कविता है ब्रह्मराक्षस की कुंठा, और कहानी है उसकी मुक्ति

वैसे तो साहित्य में एक प्रबल धारणा यह भी है कि हर कृतिकार की कोई एक थीम होती है, जो उसके पूरे सृजन-संसार में फैल जाती है। नागार्जुन ने 'कालिदास से' कविता में कविकुलगुरु के उदाहरण से इसे सिद्ध कर दिया है। तो फिर एक ही बात को भिन्न शैलियों, भिन्न विधाओं और एक ही विधा की भिन्न रचनाओं में कहने की सृजनात्मक आकुलता से इनकार कैसे किया जा सकता है, जो कला की अनिवार्य प्रकृति है। इससे कुछेक सरनाम उदाहरण देना हो, तो -

एक ही विधा (कविता) की भिन्न शैलियों में रामकथा पर आधी दर्जन रचनाएं लिखने वाले तुलसीदास से बडा प्रमाण शायद खोजे से भी न मिले। परिवेश ही मनुष्य का निर्माता है, पर क्लासिक अंदाज़ में *चित्रलेखा* लिखने के बाद उसी बात को दुनियादारी के दायरे में कहने के लिए *सबहिं नचावत रामगुसाईं* लिखने वाले भगवती चरण वर्मा को साहित्य में कौन नहीं जानता? इसी सिलसिले में मुक्तिबोध जी की कविता 'ब्रह्मराक्षस' व कहानी 'ब्रह्मराक्षस का शिष्य' को देखना रोचक भी होगा व उपयोगी भी।

मुझे यह कहने में संकोच नहीं कि 'मुझे कदम-कदम पर', 'भूल ग़लती' जैसी कुछ गिनी-चुनी कविताओं के अलावा 'चांद का मुंह टेढ़ा है' की तमाम कविताओं की तरह 'ब्रह्मराक्षस' कविता भी मेरी समझ में नहीं आयी और इसीलिए एम.ए. की तैयारी में मैंने इस किताब को अपना विकल्प नहीं बनाया, क्योंकि इतनी माथापच्ची करनी हो, तो साहित्य क्यों पढ़ा जाये, फिर गणित व विज्ञान आदि से एम. ए. न कर लिया जाये। लेकिन 'काठ का सपना' पढ़ते हुए 'ब्रह्मराक्षस का शिष्य' कहानी पढ़ते ही कुछ ऐसा झलका कि कविता खोली और समझ में आने लगी।

मेरा ख़याल है कि एक ही बात को दुबारा लिखने के लिए उद्यत होने का सबसे प्रमुख कारण संप्रेषणीयता की यही समस्या है□चाहे उसका रूप जो भी हो। *चित्रलेखा* को पाप-पुण्य के विवेचन में उलझा कर असंप्रेषणीय न बना दिया गया होता, तो शायद वर्माजी *सबहिं नचावत रामगुसाईं* न लिखते। बाबा तुलसीदास इस मामले में अपवाद हैं। उन्होंने अपने राम को मूल्यों का ऐसा विशाल पुंज बना दिया कि छंद बदल-बदल कर ज़िंदगी भर लिखते रहे और न वह अक्षय कोष चूका, न ही असंप्रेषणीय हुआ,

बल्कि संप्रेषणीयता व कला के नये आयाम खोलता गया...।

कविता और कहानी दोनों का ब्रह्मराक्षस कठिन अध्यवसाय से बना उद्‌भट विद्वान है। किसी को अपना समूचा अर्जित-संचित दे देना चाहता है, पर ऐसे सुयोग्य शिष्य के अभाव में कुंठित होकर ब्रह्मराक्षस हो जाने की मनोवैज्ञानिकता का शिकार बन बैठा है। इस तरह यह मूलतः संप्रेषण की वही भयावह व्याकुलता है, जो प्रसव न हो पाने की गर्भ-गुरुता की मर्मांतक पीड़ा का प्रतिरूप है। इससे अभिशप्त विद्वान की वेदना को कविता और कहानी दोनों विधाओं में लिखने वाले मुक्तिबोध भी संप्रेषण की ऐसी पीड़ा के गहन भोक्ता और अन्यतम सर्जक रहे हैं। हालांकि उन्हें एक ख़ास विचारधारा का प्रबुद्ध पाठक वर्ग मिला, वे बहुत-बहुत विवेचित भी हुए, पर 'सकल जनरंजनि' तक न पहुंच सके। 'अहि-गिरि-गज सिर' से उतर कर 'नृपकिरीट, तरुनी तनु' तक पहुंच कर 'सकल सोभा अधिकाई' न पा सके। लेकिन इस मुक़ाम पर न वे पाठक की परवाह (उत्पस्यसे हि मम कोपि समानधर्मा...) न करने वाले भवभूति बन सके और न गाढ़ी फ़ारसी के साथ बोलचाल की उर्दू में लिखकर गलियों से कोठों तक की आम जनता के गलेहार बन जाने वाले ग़ालिब के रास्ते चल सके। यह संकट ही उनके ब्रह्मराक्षसत्व की श्रेणी का उत्स व परिणाम है।

तो क्या मुक्तिबोध ने भी 'ब्रह्मराक्षस' कविता की जटिलता को भांप लिया था? इसीलिए कहानी लिखी? और यदि ऐसा है, तो कविता पहले लिखी गयी होगी, कहानी बाद में। लेकिन दस्तावेज़ (रेकॉर्ड) कुछ और कहते हैं। कहानी *नया खून* के जनवरी, 1957 और कविता *कवि* के अप्रैल, 1957 के अंक में छपी, जिसका मतलब है कि कविता 4 महीने बाद की है। परंतु ध्यातव्य है कि यह रेकॉर्ड प्रकाशन का है□रचना का नहीं। वरना दोनों रचनाओं की फ़ितरत बताती है कि कविता पहले लिखी गयी थी□कहानी बाद में। इसे दो तरह से समझा जा सकता है।

पहला तरीक़ा है रचनात्मक, जिसका प्रमाण है दोनों रचनाओं में आया शिष्य। कविता में शिष्य का ज़िक्र भर है, वह रचना ब्रह्मराक्षस की है, पर कहानी तो ब्रह्मराक्षस के शिष्य की ही रचना है। ब्रह्मराक्षस तो कारण भर है□कार्य शिष्य का ही है। इसीलिए कविता ब्रह्मराक्षस की कुंठा है, और कहानी उसकी मुक्ति। कविता में शिष्य की उपस्थिति एक कामना भर है□'मैं ब्रह्मराक्षस का सजल उर शिष्य / बनना चाहता हूं' □इस योजना के साथ, 'जिससे कि उसका वह अधूरा कार्य / उसकी वेदना का स्रोत/ संगतपूर्ण निष्कर्षों तलक / पहंचा सकूं'...इस प्रकार कविता की कामना कहानी में साकार हो गयी। शिष्य आ गया कर्त्ता बनकर□जैसे 'बन जाते सिद्धांत प्रथम, फिर पुष्टि हुआ करती है'।

दूसरा तरीक़ा है विवेचनात्मक, जिसमें सबसे ठोस बात वही है जो ऊपर कही गयी□कविता की कठिनता की यानी संप्रेषण की। यदि कहानी पहले लिखी गयी होती, तो संप्रेषित हो जाती□लेखक की संतुष्टि के अहसास में और पाठक की चेतना से मन तक। यह फ़र्क़ बहुत दूर तक विधागत प्रकृति के कारण है। ऐसा हुआ होता, तो फिर कविता की ज़रूरत न पड़ती। लेकिन मुक्तिबोध जी कवि पहले हैं, इसलिए उनकी चेतना में उपजी-उपजायी(कंसीव्ड) हर चेतना, हर भाव व हर विचार पहले कविता-रूप में आकार ग्रहण करना चाहता है।

फिर जैसा कि विश्रुत व सिद्ध है कि उनकी कविता की अपनी एक फ़ितरत है□वह ऐसी-ऐसी फ़ैंटेसी गढ़ लेती है, फ़ैंटेसिकल बिंब खड़े कर लेती है, ऐसा विधान रच लेती है, जो अबूझ और बहुबूझ हो जाते हैं। 'ब्रह्मराक्षस' कविता तो शुरू होते ही ख़ुद कह देती है : 'समझ में आ न सकता हो / कि

जैसे बात का आधार...'। पर कविता के विधान में भी एक आधार है□'मैं', जो वाचक (नैरेटर) है, लेकिन अंत तक पता नहीं चलता कि जो कुछ (पूरी कविता ही) 'मैं' बताता है, उसका पता उसे कैसे चला। वह शुरू में तो द्रष्टा जैसा है, लेकिन धीरे-धीरे निरीक्षक (ऑब्जर्वर) बन बैठता है और पूरी कविता उसी का निरीक्षण है, जिसमें व्यक्त ब्रह्मराक्षस के सारे निशानात (सिमटम्स) एक ऐसे बहुपठित विद्वान के हैं, जिसने वेद-पुराण से लेकर मार्क्स-ऐंजिल्स तक सब कुछ को आत्मसात कर लिया है। और यदि यह मुक्तिबोध का ही प्रतिरूप है, तो यह 'मैं' भी उन्हीं की छाया है। यही ब्रह्मराक्षस के सब कुछ को जानने का अनकहा, पर अंडरस्टुड मामला है। यही 'मैं' न होता, तो कविता और जटिल हो जाती□आत्मालाप या प्रलाप हो जाती। वरना अब यह बयान (नैरेटिव) या 'आंखो देखा हाल' है, जो निरीक्षण की प्रक्रिया में ब्रह्मराक्षस की विद्वत्ता और कुंठा को हमें समझा जाता है। इस कुंठा के लिए उसका अपने शरीर को घिसने की आत्मरति या आत्मपीड़न से लेकर उस श्रेष्ठता ग्रंथि (सुपीरिऑरिटी कॉम्प्लेक्स) तक जाता है, जहां 'किंतु, गहरी बावड़ी की/ भीतरी दीवार पर / तिरछी गिरी रवि-रश्मि के/ उड़ते हुए परमाणु, जब / तल तक पहुंचते हैं कभी/ तब ब्रह्मराक्षस समझता है, सूर्य ने/ झुककर नमस्ते कर दिया / पथ भूल कर जब चांदनी की किरन/ टकराये कहीं दीवार पर, तब/ ब्रह्मराक्षस समझता है/ वंदना की चांदनी ने / ज्ञानगुरु माना उसे / अति प्रफुल्लित कंटकित तन-मन / वही करता रहा अनुभव/ कि नभ ने भी विनत हो मान ली है श्रेष्ठता उसकी!!'

कहानी में ऐसा भ्रमित-कुंठित नहीं है ब्रह्मराक्षस। वह रवि-किरन या चांदनी के आने को अपनी वंदना मानने जैसी ख़ामख़याली में नहीं जीता। उसे विश्वास है अपनी विद्वत्ता पर, अपने ज्ञान पर। तभी वह लंबे अरसे बाद आये शिष्य को भी सबकुछ के बावजूद अपनी शर्तों पर ही शिक्षित करने को तैयार होता है। यही शिष्य कविता के ब्रह्मराक्षस को नहीं मिलता। उसकी आवाज़ें सूनी बावड़ी से टकराकर वापस आ जाती हैं। उसे प्राचीन औदुम्बर, करौंदी के सुकोमल फूल ही सुन पाते हैं। उन्हीं ध्वनियों को नैरेटर 'मैं' भी सुनता है□'सुन रहा हूं मैं वही/ पागल प्रतीकों में कही जाती हुई/ वह ट्रेजेडी/ जो बावड़ी में अड़ गयी।' कविता की यह बावड़ी शाखों, औदुम्बर और घुग्घुओं के घोंसलों से घिरी है, जहां रहता ब्रह्मराक्षस उतना ही छिपा हुआ है, जितना कहानी का ब्रह्मराक्षस अपने बड़े भवन में खुला रहता है। बावड़ी में सीढ़ियां हैं। पानी से टंकी हैं। उनसे होकर बावड़ी में उतरना सचमुच 'अंधेरे में' की यात्रा है□अधोमुखी यात्रा। उसे मुक्तिबोधजी 'आभ्यंतर निराले लोक की' यात्रा का आयाम भी देते हैं। लेकिन उन सीढ़ियों पर 'एक चढ़ना औ उतरना, पुनः चढ़ना औ लुढ़कना' की कशमकश में हासिल होता है□'मोच पैरों में/ व छाती पर अनेकों घाव'। इन सब आत्मसंघर्षों के बीच 'अतिरेकवादी पूर्णता की तुष्टि करना / कब रहा आसान'? और नतीजा यह कि 'अनगिन दशमलव से / दशमलव-बिंदुओं के सर्वतः / पसरे हुए उलझे गणित मैदान में/ मारा गया, वह काम आया/ और वह पसरा पड़ा है...'।

कविता के ब्रह्मराक्षस की इस असामयिक मृत्यु की इस नियति के समक्ष कहानी के ब्रह्मराक्षस का भवन खुला है□कहानी विधा की तरह। उसकी सीढ़ियां खुली हैं, जिनसे होते हुए ब्रह्मराक्षस तक पहुंचना ऊर्ध्वमुखी यात्रा है। उसमें ध्वनियां शिष्य की हैं। और टकराकर लौटती नहीं। गुरु मिलते हैं उसे, जिसके लिए पछताता रह जाता है कविता का वाचक 'मैं'□मेरा उसी से उन दिनों होता मिलन यदि/ तो व्यथा उसकी स्वयं जीकर/ बताता मैं उसे उसका स्वयं का मूल्य/ उसकी महत्ता'! इसी के बिना तो राक्षस बनकर रह गया कविता का ब्रह्म□उसके ब्रह्मत्व को समझा सिर्फ़ 'मैं' ने जो मुक्तिबोध निर्मित माध्यम है पाठकों

के लिए□यानी काव्य का औजार और कविता की मुखरता-सार्थकता। और इसी की पूर्ति है कहानी, जब कविता का औजार (मैं) स्वयं बन जाता है कहानी।

मुक्ति होती है दोनों की□शिष्य की सांसारिक मुक्ति और गुरु की मानसिक मुक्ति। लेकिन यहां आकर 'ब्रह्मराक्षस' की वह ट्रेजिडी ख़त्म हो जाती है, जो कविता या अमूमन सृजन का प्राण होती है, क्योंकि वही तो कचोट बनकर पाठक के दिल में रचना को क़ायम रखती है। लेकिन कहानी विधा की शुरुआत ही ट्रेजिडी के सुखांत बन जाने की प्रकृति से जुड़ी है□'जैसे राजा-रानी के दिन फिरे, वैसे ही ही सबके दिन फिरें'...के रूप में। सो, कहानी में ब्रह्मराक्षस के दिन फिरे, फिर कर सार्थक हुए और कविता में नहीं फिरे और न फिर कर ही ट्रेजिडी के रूप में सार्थक हुए। तो क्या मुक्तिबोध का सर्जक प्रकारांतर से रचनात्मकता के एक स्तर पर दोनों विधाओं को परिभाषित भी कर रहा था? दोनों की प्रकृति का मुकम्मल उपयोग करके रचनात्मकता की सार्थकता भी रच रहा था?

इसीलिए मेरा निश्चित मानना बनता है कि कविता-कहानी दोनो को मिलाकर ही मुक्तिबोध के ब्रह्मराक्षस को समझा जा सकता है और समझा जाना चाहिए।

लेकिन दो बातें और□

पहली यह कि 'ब्रह्मराक्षस का शिष्य' में आये 'ब्रह्मराक्षस' को सिद्ध करने के लिए कहानी में भी दो फ़ैंटेसीज़ का उपयोग हुआ है□जबकि तब तक 'आइंसबर्ग' व 'रीछ' तथा 'वारेन हेस्टिंग्स का सांड़'... आदि जैसी नितांत फ़ैंटिसिकल कहानियां आनी अभी बाकी थीं। एक तो विदा के वक़्त वाले अंतिम भोजन के दौरान दूसरे कमरे में पड़ी घी की लुटिया को हाथ फैलाकर लाने में और दूसरे, इतने बड़े घर के सारे इंतजाम के चलने में। पहला तो कहानी में विवेचित है□'तीन कमरे पार करता हुआ वह विशाल वज्रबाहु हाथ उसकी आंखों के सामने फिर से खिंच जाता। उस हाथ की पवित्रता ही उसके ख़याल में जाती किंतु वह चमत्कार, चमत्कार के रूप में उसे प्रभावित नहीं करता था। उस चमत्कार के पीछे ऐसा कुछ है, जिसमें वह घुल रहा है, लगातार घुलता जा रहा है। वह 'कुछ' क्या एक महापंडित की ज़िंदगी का सत्य नहीं है? नहीं, वही है! वही है!' और हमारी ज्ञान-परंपरा में गुरुकुल वाले सिद्ध ऋषियों की ऐसी सिद्धियों के प्रमाण हैं, जिन्हें बस चमत्कारी रूप में बदल करके मुक्तिबोधजी ने ब्रह्म व राक्षस दोनों को साध दिया है।

और घर की व्यवस्था को लेकर भी उल्लेख है□'लेकिन इतनी व्यवस्था है तो कहीं कोई ज़रूर होगा। इस ख़याल से उसका डर कम हुआ और बरामदे में से गुज़रता हुआ अगले ज़ीने पर चढ़ने लगा'। किंतु इसे समझने के लिए मैं 'भोलाराम का जीव' का उदाहरण देना चाहूंगा, जिसमें नारद के यमलोक से आये धरती पर आने, जीव को लेकर उनके यमलोक जाने और वहां की फ़ाइल से भोलाराम के जीव के बोलने का विधान रचा गया है, जो इहलोक से नहीं सधता। फिर भी आज तक किसी ने इस निजंधरी रचना-विधान को लेकर कुछ भी नहीं कहा। क्योंकि अतींद्रिय होकर भी उसकी सेंसिबिलिटी नितांत समझ में आने की चीज़ है। और कहानी पढ़ने के बाद 'ब्रह्मराक्षस का शिष्य' में भी ऐसी कोई विचित्रता बचती नहीं, जो दिमाग़ की ख़लिश बने। इसके बावजूद इस विवेचन की त्वरा में इसका उल्लेख ज़रूरी लगा।

दूसरी बात वह है, जिसमें ब्रह्मराक्षस के शिष्य न मिलने का एक खुला कारण संकेत के रूप में आकर कविता की फ़ैंटेसी को वास्तविक आधार दे देता है। उसे सामाजिक सरोकार से लैस कर देता है□'किंतु युग बदला व आया कीर्त्ति व्यवसायी /... लाभकारी कार्य में से धन / व धन में से हृदय-मन / और,

धन अभिभूत अंतःकरण में से / सत्य की झाईं / निरंतर चिलचिलाती थी'। इसे कह सकते हैं 'भविष्य द्रष्टा' की प्रतिध्वनि, क्योंकि इसके रचनाकाल तक कीर्त्ति-व्यवसायियों का ऐसा ज़लज़ला नुमायां नहीं हुआ था, जो पिछली सदी के नवें दशक से शुरू होकर अब अपने चरम पर पहुंच रहा है, जिसमें ज्ञान व विद्या का 'सत्य चिलचिला' ही नहीं रहा, उसी ब्रह्मराक्षस के अंतिम रूप की तरह 'पसरा पड़ा है... / वक्ष बांहें खुली-फैली/ एक शोधक की'। और कहानी में यह कहानीनुमा बनकर ही आया है, जहां ब्रह्मराक्षस के प्रति दो बटुकों के माध्यम से हिकारत व भर्त्सना की वह अवहेलना मौजूद है, जो आज विद्या के क्षेत्र में आज की मुख्य धारा है, जिसमें सभी बह रहे हैं। आगंतुक शिष्य द्वारा योग्य गुरु के बारे में पूछने पर 'दोनों विद्यार्थी ज़ोर-ज़ोर से हंसने लगे। उनमें से एक, जो विदूषक था, कहने लगा, 'देख बे, सामने सिंहद्वार है। उसमें घुस जा, तुझे गुरु मिल जायेगा।' कह कर वह ठठा कर हंस पड़ा। और उसके जाने के बाद आपस में उनकी टिप्पणी□'दूसरे बटुक ने पहले से पूछा, 'तुमने अच्छा किया उसे वहां भेज कर?' उसके हृदय में खेद था और पाप की भावना।

दूसरा बटुक चुप था। उसने अपने किये पर खिन्न हो कर सिर्फ़ इतना ही कहा, 'आख़िर ब्रह्मराक्षस का रहस्य भी तो मालूम हो।'

यह वाक़या काशी का है। ये बटुक ही राक्षसरूपी 'कीर्त्ति-व्यवसायी' लोगों के प्रतिनिधि हैं। काशी में विद्वानों की उपेक्षा व तिरस्कार करके उन्हें 'ब्रह्मराक्षस' के रूप में अभिशप्त करने के ढेरों लिखित व कथित प्रमाण विश्रुत हैं, जिनका थोड़ा-बहुत ज़ायक़ा मुझे आजकल यहां रहते हुए दिख रहा है। और पूरे देश से, ख़ासकर दक्षिण से, काशी आकर पढ़ने की समृद्ध परपंरा के साथ ही स्वयं मुक्तिबोधजी के थोड़े दिनों काशी रहने के अनुभव का ऐसा सटीक इस्तेमाल रचनाशीलता का महत्तर मानक है। मुझे याद आता है कि काशी से ही बनकर निकले विद्वान ने मुक्तिबोध को केंद्र में रखकर लिखी किताब पर पुरस्कार हासिल किया या हासिल करने की योजना से ही किताब लिखी। और वही साहित्य-क्षेत्र का सबसे बड़ा 'कीर्त्ति-व्यवसायी' भी सिद्ध हुआ□बल्कि उसी ने इस क्षेत्र में कीर्त्ति-व्यवसाय की परंपरा का मार्ग प्रशस्त किया। कीर्त्ति-व्यवसायियों के अभिशापों से त्रस्त-मृत रचनाकार पर लिखकर 'कीर्त्ति-व्यवसायी' बनने का यह अनूठा प्रमाण है। इसके शिकार मुक्तिबोध से लेकर गोरख पांडेय तक ढेरों ज़हीन लोग होते रहे। पर यह विद्रूप आज भी 'राक्षस' बनकर अट्टहास करते हुए 'ब्रह्मों' की संभावनाओं की हत्या किये जा रहा है...जो इस कविता की प्रासंगिकता व कालजयता का प्रखर प्रमाण है।

श्रीकांत वर्मा ने मुक्तिबोध के संदर्भ में ठीक ही लिखा है□'अपनी मृत्यु के लिए कवि भले ही ज़िम्मेदार हो, समाज की मृत्यु के लिए क़तई नहीं' क्योंकि उसके लिए तो 'कीर्त्ति-व्यवसायियों' की पूरी की पूरी जमात मौजूद ही है।

मातरम, 26-गोकुलनगर,
कंचनपुर, डीएलडब्ल्यू,
वाराणसी- 221004
फोन- 0542-2300233 / मोबाइल□9422077006

जलते हुए रेगिस्तानों पर चलने की कथा : *विपात्र*

हरियश राय

मुक्तिबोध के कथा-साहित्य की ज़मीन सामंती और पूंजीवादी व्यवस्था में मध्यवर्ग के अभावग्रस्त जीवन, उसकी दयनीयता, चापलूसों के अंतर्संबंध और अंतर्विरोध, महत्त्वाकांक्षाएं, क्षुद्रताएं, अहंकार आदि को समेटते हुए आगे बढ़ती है। इन सबके बीच मुक्तिबोध मध्यवर्गीय व्यक्ति को 'डिक्लास' करने की ज़रूरत की ज़ोरदार वकालत करते हैं। व्यक्ति का रूपांतरण इतना आसान नहीं है। इसलिए मुक्तिबोध अपनी हर कथा में मध्यवर्ग के आत्मसंघर्ष को सामने लाते हैं। उनकी कहानियां मध्यवर्गीय आत्मसंघर्ष से उत्पन्न बेचैनी से शुरू होती हैं लेकिन बेचैनी से शुरू होकर उनकी कहानियां धीरे-धीरे विचार की ओर मुड़ जाती हैं। उनकी हर कहानी में सामंती और पूंजीवादी व्यवस्था का गहन विश्लेषण मौजूद है। इस विश्लेषण में वे मनुष्य की स्थिति को संवेदनात्मक स्तर पर सामने लाते हैं। उनका आत्मसंघर्ष केवल आत्मसंघर्ष तक ही सीमित नहीं रह जाता, बल्कि वे अपनी संवेदना को विचार से जोड़ते हैं। उनकी कहानियों में निहित ज्ञान और संवेदना का संबंध हमारे परिवेश और उस परिवेश में रह रहे मनुष्य के जीवन से है। मुक्तिबोध का मानना है कि 'संवेदना का ज्ञानात्मक होना ज़रूरी है, केवल ज्ञान और केवल संवेदना ही काफ़ी नहीं है। ज्ञान और संवेदना परस्पर मिलकर ही मूल्यवान और उपयोगी होते हैं।'

विपात्र कहानी को पढ़ते हुए यह लगता है कि मुक्तिबोध ने दिग्विजय कॉलेज में रहकर जो देखा और महसूस किया, उसका चित्रण किया है। दिग्विजय कॉलेज में रहते हुए उन्होंने देखा होगा कि अध्यापक अध्यापन कम और कॉलेज के प्राचार्य की चापलूसी ज़्यादा करते हैं। उनका वास्ता ऐसे अध्यापकों से भी हुआ होगा जिनकी रग-रग में धूर्त्तता और चालाकी थी और जिनके पास कोई जीवन-मूल्य नहीं थे, जिनकी कोई राजनीतिक समझ नहीं थी, कोई राजनीतिक विचारधारा नहीं थी। ऐसे अध्यापकों की मानसिकता और शैक्षणिक परिवेश को मुक्तिबोध अपनी इस कहानी में व्यक्त करते हैं।

विपात्र की कथा 'मैं' और जगत (सिंग साहब), बॉस, राव साहब के विचार विमर्श में समाहित है। लेखक 'मैं' के मन में अनेक सवाल उठते रहते हैं जो उसे बेचैन किये रहते हैं। बाह्य परिवेश से मैं का मन गहरे प्रभावित होता है जिससे उसका आत्मसंघर्ष सामने आता है। कहानी की शुरुआत में 'मैं' अपने एक साथी जगत के साथ घूमने किसी बगीचे में निकलता है। वहां पर राव साहब मिलते हैं, फिर हेमिंग्वे से चर्चा शुरू होकर वनस्पतियों और सांप को मारने की समस्या तक आती है। इसी दौरान 'मैं' अपने वर्ग का विश्लेषण करता है। कहानी में विद्या केंद्र के चीफ़ यानी बॉस के यहां महफ़िल जमती है क्योंकि उनको लगता है कि इस विद्या केन्द्र से किसी को अनुराग नहीं था। पर बॉस अपने एहसानों से सबको

दबाना चाहते हैं। 'मैं' और जगत बॉस की महफ़िलों से घबराते हैं लेकिन इन महफ़िलों से बचने का उनके पास कोई रास्ता नहीं होता। आत्मकथात्मक शैली में 'मैं' अपना और सामंती दरबारी संस्कृति का विश्लेषण करते हुए बुद्धिजीवियों के अंतर्विरोधों पर चर्चा करता है। उसका मानना है कि मध्यवर्ग की सबसे बड़ी विचार सरणि यह है कि वह निरंतर उठना चाहता है। वह हर जगह उपलब्धि चाहता है। इसके लिए वह कुछ भी करने को तैयार बैठा है। इसी क्रम में कथा के रूप में अनेक सामाजिक-आर्थिक सवालों पर बहस है।

इस कहानी में मुक्तिबोध 'मैं' के रूप में एक ऐसे पात्र की रचना करते हैं जो अपनी परिस्थितियों के दबाव के तहत एक शिक्षा संस्थान में नौकरी तो करता है, लेकिन शिक्षा संस्थान का बॉस और वहां के आत्मग्रस्त और चापलूस अध्यापक से तालमेल नहीं बिठा पाता। मुक्तिबोध ने इस कहानी में एक लंबी बहस के माध्यम से मध्यवर्गीय व्यक्ति के वर्ग-चरित्र और उसके खोखलेपन, उसके अंतर्विरोधों को उजागर करने के साथ अपने मन की अथाह बेचैनियों का वर्णन किया है। कहानी में मुक्तिबोध ने एक सजग और सचेत निम्न मध्यवर्गीय व्यक्ति के आत्मसंघर्ष, अभावग्रस्त जीवन के कारण उत्पन्न विषाद और उस विषाद से मुक्ति पाने के लिए हर तरह के समझौते और बाद में उन समझौतों के कारण हुई आत्मग्लानि का वर्णन किया है। कहानी के 'मैं' की संवेदना इसी आत्मग्लानि के बोध से पैदा होती है। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि 'मैं' पाठकों को निराशा की ओर न ले जाकर आत्मसंघर्ष और आत्मविश्लेषण की ओर ले जाता है। इसीलिए वह कहता है, 'हमें अपने वर्ग में रहने का मोह है, निचले वर्ग में जाने से डर लगता है। लेकिन क्रमशः हमारी स्थिति गिरते-गिरते उन जैसी ही हो जाती है। तो वहां सहर्ष ही क्यों न पहुंच जायें, लेकिन वहां भी मुक्ति नहीं है, क्योंकि उस स्थान पर भी घोरतर उत्पीड़न है।'

यह कहानी 63-64 की अवधि के दौरान लिखी गयी। सबसे पहले यह 1965 में *ज्ञानोदय* में प्रकाशित हुई थी और बाद में इसका प्रकाशन उपन्यास के रूप में हुआ। इस कहानी में मुक्तिबोध 'मैं' के रूप में स्वयं सामने आते हैं और शिक्षा जगत, अध्यापकों के व्यवहार, उनकी मानसिकता को लेकर एक व्यापक बहस को जन्म देते हैं। 'समझौता', 'पक्षी और दीमक', 'क्लाड ईथरली' व 'सतह से उठता आदमी' जैसी अन्य कहानियों की तरह इस कहानी में भी मुक्तिबोध मध्यवर्गीय व्यक्ति के आत्मसंघर्ष के साथ अपने मन की बेचैनियों को व्यक्त करते हैं। उनकी इस बेचैनी के बारे में हरिशंकर परसाई ने लिखा है, 'वे चिंतक थे, इसलिए हमेशा बेचैन रहा करते थे। मानसिक स्थिति उनकी हमेशा तनावग्रस्त रहा करती थी। भीतरी और बाहरी संघर्ष उनका विकट था। आशंका, संकट का भय, सतर्कता और असुरक्षा की भावना का कारण उनके कटु अनुभव थे।'

कहानी में 'मैं' के रूप में मुक्तिबोध का चिंतक सामने आता है जो समग्र परिवेश को अपनी वैज्ञानिक दृष्टि से देखता और समझता है। यह 'मैं' अपनी नौकरी की ख़ातिर समझौते करता है और फिर आत्मग्लानि का शिकार भी होता है। मुक्तिबोध ने स्वयं अत्यंत अभाव में अपना जीवन बिताया। नौकरी न होने की मानसिक यंत्रणा झेली। इसका संकेत उन्होंने नेमिचंद्र जैन को 8 फरवरी 1952 के पत्र में किया है : 'हमेशा की तरह मुझे पैसे की अत्यंत आवश्यकता है। मेरे लिए नहीं, मेरे पिताजी के लिए। आपको बताना चाहता हूं कि महीने के अन्तिम 5 दिन मैं और मेरी बीमार पत्नी केवल चाय पर जीवन-यापन करते हैं। यह एक महीने के नहीं बल्कि हर महीने की कहानी है। मेरी आर्थिक स्थिति बहुत खराब है।'

इन आर्थिक स्थितियों से मुक्तिबोध लगातार जूझ रहे थे और कोई व्यवस्थित नौकरी न मिल पाने के कारण एक बेचैनी लगातार उन्हें घेरे रहती थी और इसी बेचैनी का प्रतिरूप है उनकी कहानी विपात्र। कहानी में जगत के बारे में लिखते हुए मुक्तिबोध कहते हैं, 'जो व्यक्ति ज्ञान की उपलब्धि का सौभाग्य प्राप्त करके अपने जीवन में असफल रहा, अर्थात कीर्ति, प्रतिष्ठा और ऊंचा पद न प्राप्त कर सका, उस व्यक्ति को सिरफिरा या दिमागी फितूर वाला नहीं तो और क्या कहा जायेगा। अधिक से अधिक वह तिरस्करणीय और कम-से-कम वह दयनीय है□उपेक्षणीय भले ही न हो।'

इस कहानी में मुक्तिबोध मध्यवर्ग की सीमाओं, अंतर्विरोधों को भी सामने लाते हैं और जीवन की वास्तविकताओं को सामने रखते हुए हमारी समझ को भी विस्तृत करते हैं। 'मैं' जीवन जगत की समस्याओं के बारे में गहन विचार करता हुआ अपने अहं से टकराता है। कहानी में मध्यवर्ग एक ऐसे चरित्र के रूप में सामने आता है जो बॉस की चाटुकारिता करके लाभ हासिल करना चाहता है, जिसके कारण उसमें पापबोध का भाव भी पनपता है।

मुक्तिबोध इस कहानी में संवादों के माध्यम से अपनी बात कहते हैं। संदर्भ, पात्र और घटनाएं बहुत ही सक्षम रूप से इस कहानी में हैं। कहानी में मुख्य रूप से संवाद हैं और उन संवादों के बीच से निकलता हुआ वैचारिक चिंतन है। इन संवादों में मुक्तिबोध अपने समय की चिंताओं, सरोकारों, वर्गीय हितों और मध्यवर्गीय सीमाओं की पड़ताल करते हैं। मध्यवर्गीय मानसिकता के बारे में कहते हैं : 'हममें सामाजिक चेतना नहीं थी क्योंकि असल में हम लोग हरामख़ोर थे। और मज़ा यह है कि वैसे व्यक्तिशः हम बुरे भी नहीं थे। भले मानस थे और अच्छे आदमी कहलाते थे। अच्छा आदमी वह होता है जिसकी बुराई ढकी रह जाती है। चाहे आप ही आप, चाहे किये-किराये से।'

कहानी का 'मैं' एक विद्याकेन्द्र में नौकरी करता है। नौकरी करने से उसकी कुछ समस्याएं तो सुलझ जाती हैं लेकिन वह अपने आप को वहां के परिवेश के अनुकूल नहीं कर पाता और स्वयं को अत्यधिक विवश पाता है। इस विवशता के कारण ही उसके मन में निरंतर एक द्वंद्व चलता रहता है। उसे लगता है कि उसकी व्यक्तिगत स्वतंत्रता पर कोई आक्रमण कर रहा है और यह आक्रमण बहुत ही सूक्ष्म और जटिल है। उसे यह भी महसूस होता है कि यह आक्रमण विद्या-केन्द्र के संस्थापक की ओर से किया जा रहा है। यह संस्थापक सामंतों की तरह अपना दरबार लगाता है, पर 'मैं' को इस सामंतशाही से चिढ़ है क्योंकि संस्थापक अपने एहसानों के द्वारा दूसरों पर अपना प्रभुत्व स्थापित करना चाहता है। उसके इस रवैये के कारण ही लोग एक-दूसरे की टांग खींचते हैं और उसके लिए अपने आप को दूसरों से अधिक उपयोगी साबित करने की कोशिश करते हैं। मुक्तिबोध उसके बारे में लिखते हैं : 'लोगों पर एहसान करके उन्हें अपनी कठपुतली बनाने में बड़ा मज़ा आता था। समय काटना उनकी बहुत बड़ी समस्या थी, इसलिए वे विद्या केन्द्र के कर्मचारियों के बीच बैठकर गप्प-शप्प किया करते थे। कर्मचारियों के बीच वे निरुद्देश्य विचार विमर्श किया करते थे और एक झूठा आडम्बर खड़ा किया करते थे। लेकिन उनमें अधिनायकत्व की भावना प्रबल रूप से मौजूद थी।' लेकिन 'मैं' संस्थापक के रवैये से अपना तालमेल नहीं बिठा पाता, इसलिए उसके मन में एक द्वंद्व हमेशा चलता रहता है। वह लगातार सोचता है कि क्या उपकार का मतलब गुलामी है और यदि है तो उन्हें जाना चाहिए और यदि नहीं है तो अकेले वे बॉस का विरोध कैसे कर सकते हैं जबकि पूरा कॉलेज उनके अतीत को जानते हुए भी उनकी कृपा के नीचे दबा हुआ है। बॉस के आचरण और व्यवहार से 'मैं' को लगता है कि उसकी व्यक्तिगत स्वतंत्रता

पर हमला हो रहा है। एक तरफ़ 'मैं' अपनी स्वतंत्रता बेचना भी चाहता है तो दूसरी तरफ़ अपने आप को धिक्कारता भी है। व्यर्थ की गप्पबाज़ी में समय बिताना 'मैं' को गवारा नहीं है। वह सोचता है कि उनके एहसान और प्रेम के बावजूद पूरे मन से उनका साथ नहीं दे सकता। उसे अपनी स्वतंत्रता बेचनी पड़ रही है। कहानी में एक जगह भनावत कहता है : 'लिखित नियम तो यह है कि व्यक्ति स्वतंत्र है किंतु वास्तविकता तो यह है कि व्यक्ति को ख़रीदने और बेचे जाने की, दूसरों की स्वतंत्रता को खरीदने की या अपनी स्वतंत्रता को बेचने की आज़ादी की मजबूरी है। सच्ची आज़ादी उन्हें है, जिनके पास पैसा है। वे पैसों के बल पर दूसरों की स्वतंत्रता ख़रीद सकते हैं।'

कहानी में जगत एक ऐसे पात्र के रूप में है जो अपनी विशाल ज्ञानराशि के द्वारा कोई ठोस चीज़ हासिल करता तो उसके चारों ओर ऊंची स्थिति, सम्मान और धन होता, लेकिन ऐसा हो नहीं पाया। इसीलिए मुक्तिबोध जगत के बारे में लिखते हैं कि 'ज़िंदगी में ऊंची सीढ़ी प्राप्त न करने के कारण और उससे जुड़े हुए दूसरे कारणों से, मनुष्य को जो एक दुर्दशाग्रस्त स्थिति प्राप्त होती है, वह उसकी कमज़ोर नस है।'

राव साहब एक ऐसे पात्र के रूप में हैं जो बॉस के पदचिह्नों पर चलते हुए उसकी नक़ल करते हैं और उसके जड़ व्यक्तित्व को ढोते हैं। राव साहब उस ज्ञान से दूर रहना चाहते हैं जो उन्हें पद और प्रतिष्ठा तक नहीं ले जा सकता। 'मैं' को यह सब घृणित लगता है। ज्ञान के प्रति उनकी उपेक्षा 'मैं' को स्वीकार्य नहीं है। इसलिए वह अपने दिल्लीवासी मित्र से पूछता है कि 'तुम इतने उखड़े-उखड़े क्यों नज़र आते हो? तुम्हारे भीतरी चेहरे पर शनीचरी छाया क्यों? तुम गांव से आये, शहर में बसे, वहां बस कर ख़ासा कीमती सूट पहनने लगे। गांव के तुम्हारे जो साथी थे, अब गंवार महसूस होते हैं। तुम जितना ऊपर चढ़ते हो, उतना ही सगों से दूर क्यों हटते जाते हो। हर अगली सीढ़ी की ऊंचाई पर खड़े होकर तुम निचली सीढ़ी को हीन क्यों समझने लगते हो?'

राव साहब, जगत सिंह, भनावत जैसे पात्रों के माध्यम से 'मैं' अपनी ही विवशता और लाचारी को व्यक्त करता हुआ कहता है कि 'भयानक व्यर्थता का भाव रह-रहकर मंडराता था और अपनी समर्थता का भान घुटनों में दर्द और दिल में कचोट पैदा करता था।' 'मैं' जिन लोगों के बीच रहता है, उनके प्रति वितृष्णा भी पालता है और उनसे मिलना भी चाहता है। वह अपनी पारिवारिक ज़िम्मेदारियों के कारण आत्महत्या का विचार भी नहीं कर सकता, लेकिन शरीर साथ न देने के कारण जीवन-संघर्षों से परास्त हो जाने का डर भी उसे निरंतर सताता रहता है। मिश्रा और जगत में हुए झगड़े के बाद मिश्रा कहता है : 'हमारे-तुम्हारे बीच कोई झगड़ा नहीं है जगत। तुम्हारा अपना प्राकृतिक सह-अस्तित्व है क्योंकि हम दोनों एबी लाड्र्स है।' इन सभी संदर्भों और घटनाओं के माध्यम से मुक्तिबोध इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं : 'एक ओर अपने दिल की धड़कन सुनी कि निर्बल होकर संत बनने के बजाय, सबल होकर सृजन शक्ति को और तेज़ करूंगा भले ही लोग मुझे बदनाम करें...। मगर मुझे उसे तेज़ रखना ही पड़ेगा।'

कहानी में मुक्तिबोध आज की शिक्षा-व्यवस्था के बारे में टिप्पणियां करते हुए दिखायी देते हैं। जिस समय यह कहानी लिखी गयी थी, उस समय के शैक्षणिक परिवेश की अपेक्षा आज के शैक्षणिक परिवेश में और भी गिरावट और मूल्यहीनता आयी है। आज अध्यापक पहले से ज़्यादा अहंकारी और कूढ़-मगज,

---

* शिखंडी संत जिसने अपनी जननेन्द्रिय को चाकू से काट दिया था, संत बने रहने के लिए. □मुक्तिबोध

व पढ़ाई-लिखाई से दूरी बनाये रखने वाले हो गये। *विपात्र* में मुक्तिबोध कहते हैं कि 'इस विद्या-केन्द्र में किसी को भी विद्यानुराग नहीं था। विज्ञान वालों को यह मालूम नहीं कि हाल ही में कौन-कौन-से महत्त्वपूर्ण आविष्कार हो रहे हैं और हिंदी वालों को यह ज्ञान नहीं था कि आजकल इस क्षेत्र में क्या चल रहा है और जो मालूम भी था वह केवल सुना-सुनाया था, अस्पष्ट था, धुंधला और उलझा हुआ था।'

कहानी में मुक्तिबोध बुद्धिजीवियों के अहंकार की आलोचना करते हुए अपने मन को बार-बार तराशते हैं और अपनी संकीर्णता को सामने लाते हैं और महसूस कराते हैं कि दूरियां मिटाने के लिए अपने मन के भीतर के शून्य से बाहर आना होगा। I want to be in the thick of things as mille tried to be, yes to be in the thick of things. शून्य से बाहर आने का उपाय है, अपने आप को लोक में गहरे समाहित करना।

मध्यवर्गीय व्यक्ति के संघर्ष, उसकी बेचैनी और विषम परिस्थितियां ही मिलकर कहानी का निर्माण करती हैं और उन विषम परिस्थितियों के बीच में जगत और 'मैं' की बातचीत के माध्यम से समकालीन संदर्भों को देखा और समझा गया है। इस कहानी में मुक्तिबोध एक लंबी बहस को जन्म देते हैं और इन बहसों के केन्द्र में मध्यवर्ग और मध्यवर्ग की मनोदशा है। कर्म के सिद्धांत को मुक्तिबोध परंपरागत रूप में न देखकर नये संदर्भ में देखते हैं और लिखते हैं कि 'कर्म मनुष्य को उसकी परिस्थिति से तथा मनुष्यता से सिर्फ़ जोड़ता ही नहीं है, वह उन्हें तोड़ता भी है।'

इस कहानी में मुक्तिबोध ने किसी भी प्रमुख पात्र की रचना नहीं की है। बल्कि 'मैं', जगत, मिस्टर भनावत, राव साहब जैसे पात्रों के माध्यम से एक लंबी वैचारिक बहस की है। कथा साहित्य में इस प्रकार की वैचारिकता को बाद के कहानीकारों ने भी अपनाया। हरिशंकर परसाई ने मुक्तिबोध की रचनाओं के बारे में लिखा है कि 'बाद की पीढ़ी उनसे अधिक प्रभावित है। बहुत से लेखक समय के बढ़ने के साथ-साथ संदर्भहीन होते जाते हैं। मगर मुक्तिबोध, ज्यों-ज्यों समय बीतता है, अधिक संदर्भवान होते जाते हैं। बीस से पच्चीस साल की उम्र वाले तरुण रचनाकार शायद हमसे अधिक उन्हें अपने निकट पाते हैं।'

यह बात उस समय जितनी सच थी, उतनी सच आज भी है।

Email: hariyashrai@gmail.com
मो : 09873225505

विचार हो गये विचरण-सहचर

मुक्तिबोध की आलोचना-दृष्टि

कृष्णदत्त शर्मा

हिंदी के कवि समीक्षकों में मुक्तिबोध का अग्रणी स्थान है। आलोचकों में वे सर्वश्रेष्ठ कवि हैं और कवियों में सर्वश्रेष्ठ आलोचक। कहना मुश्किल है कि वे कवि बड़े हैं या आलोचक। मुझे उनका आलोचक रूप अधिक आकृष्ट करता है। स्वयं मुक्तिबोध इस बारे में कुछ कुछ पसोपेश की स्थिति में थे। नेमिचंद्र जैन के नाम अपने एक पत्र (जून 1957) में उन्होंने लिखा : 'यह आवश्यक नहीं कि कवि का पद अनिवार्य रूप से विचारक के पद से बड़ा ही हो। मेरा तो ख़याल है कि आज हिंदी को अच्छे विचारक की जितनी आवश्यकता है उतनी कवि की नहीं।' वास्तव में वे कवि बड़े हैं, उसके पीछे मूल कारण ही यह है कि वे आलोचक बड़े हैं। उन्होंने बार-बार इस तथ्य को रेखांकित किया है कि 'मार्मिक आलोचन-दृष्टि के बिना कविकर्म अधूरा है।' ('काव्य की रचना-प्रक्रिया□एक')।

आलोचना के समसामयिक परिदृश्य से मुक्तिबोध संतुष्ट नहीं थे। उनका मानना था कि पुराने ही नहीं, नये साहित्य से जुड़े हुए कुछ समीक्षक भी लेखक को 'ज़िंदगी के तजुरबों' से हटा देना चाहते हैं। ऐसे समीक्षकों के सौंदर्य-संबंधी सिद्धांत, साहित्य और कलाकार के व्यक्तित्व के बारे में उनके विचार, 'आधुनिक भावबोध' और 'व्यक्ति-स्वातंत्र्य' के बारे में उनकी अवधारणा जिसके अंतर्गत जनसाधारण की उपेक्षा करके 'लघु मानव' की कल्पना, समाज और जनता को भीड़ कहकर उनका अपमान करने की प्रवृत्ति, औद्योगिक सभ्यता के अंतर्गत व्यक्तित्व-नाश को अनिवार्य मानने का विचार, रचना-प्रक्रिया के बारे में उनकी आत्मपरक या उपेक्षापूर्ण दृष्टि, ब्रिटेन-अमरीका से परिचालित भावात्मक प्रवृत्तियों के प्रति उनका अनपेक्षित और अतिरंजित झुकाव□ ये सब उन्हें 'असंगत, अनुचित और हानिप्रद' प्रतीत होते थे। साहित्य चूंकि 'मानव-सत्ता का अध्ययन' है, समग्र मानव सत्ता का अध्ययन, इसलिए मुक्तिबोध ऐसी ओलाचना-पद्धति की तलाश में थे जो 'सर्वाश्लेषी' हो, रचना के अधिकाधिक आयामों को समाहित करने वाली; जो आलोच्य लेखक की कलाकृतियों के सभी पक्षों पर समान रूप से प्रकाश डालती हो; जो रचना के आंतरिक या कहें कि वैयक्तिक-मनोवैज्ञानिक तत्वों पर प्रकाश डालते हुए लेखक के व्यक्तित्व□ उसकी विश्वदृष्टि □ के माध्यम से 'समाज' और युग की प्रवृत्तियों' को निरूपित करती हो; और जिसमें 'लेखक के वर्ग, परिवार, व्यक्तित्व, परिवेश, परिस्थिति और मनोरचना' आदि को भी दृष्टिपथ में रखा गया हो। सामाजिक-ऐतिहासिक पक्ष और वैयक्तिक-मनोवैज्ञानिक दोनों ही पक्ष ज़रूरी हैं और ये दोनों, लेखक के अंतर्व्यक्तित्व□उसकी विश्वदृष्टि से गुज़रकर, रचना का अंग बनते हैं। आलोचना में, प्रगतिशील आलोचना में भी, ऐतिहासिक-सामाजिक विवेचन का जो रूप उपलब्ध था उससे वे संतुष्ट नहीं

थे। वह उन्हें स्थूल प्रतीत होता था। वह आलोच्य रचना के 'ऐतिहासिक परिवेश' का तो यथातथ्य निरूपण कर देता था, किंतु उसके मनोवैज्ञानिक पक्ष का नहीं। सच्चा ऐतिहासक दृष्टिकोण वह है जो रचना के मूल में निहित मनोवैज्ञानिक तथ्यों का भी उद्‌घाटन करे क्योंकि एक विशेष अर्थ में 'मनुष्य के अंतर्तत्व ऐतिहासिक-सामाजिक शक्तियों द्वारा प्रदत्त हैं।' ('समाज और साहित्य') इसी प्रकार आलोच्य साहित्य का मनोवैज्ञानिक-सौंदर्यात्मक विश्लेषण भी काफ़ी नहीं है। मनोवैज्ञानिक-सौंदर्यात्मक विश्लेषण का समाजशास्त्रीय विश्लेषण भी ज़रूरी है। सारांश यह कि जिस जीवनानुभव का चित्रण कवि कर रहा है उसके सभी पहलू, 'उसके समस्त समाजशास्त्रीय, ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक संदर्भ', आलोचक के ध्यान में रहने चाहिए। तभी हम लेखक के 'संवेदनात्मक उद्देश्यों' को पहचान पायेंगे और, कहने की आवश्यकता नहीं, 'लेखक के संवेदनात्मक उद्देश्यों को पहचान कर उसकी कलाकृति का विवेचन किया जाना चाहिए।' साथ ही, इन उद्देश्यों को 'व्यापकतर मानव-सत्ता के तथ्यों' से जोड़ना ज़रूरी है। चिंता की बात यह थी कि प्रगतिशील आलोचना में भी इन मनोवैज्ञानिक तत्वों की उपेक्षा की जा रही थी जबकि मुक्तिबोध के साहित्य में जो 'मुक्तिबोधता' है, उसमें जो अर्थ की बृहस्तरीयता है, जो संश्लिष्टता है, उसका बहुत-कुछ श्रेय अवचेतन से जुड़े मनोवैज्ञानिक तत्वों को है।

2

पूर्व-परंपरा में मुक्तिबोध दो लेखकों से विशेष रूप से प्रभावित थे ☐ कवियों में जयशंकर प्रसाद से और आलोचकों में रामचंद्र शुक्ल से। मुक्तिबोध ने अपनी आलोचना-पद्धति *कामायनी* के अध्ययन के दौरान विकसित की थी। फिर वही पद्धति उन्होंने *कामायनी* के साथ-साथ अन्य सभी व्यावहारिक आलोचनाओं में लागू की, आलोच्य रचना की प्रकृति के अनुरूप आवश्यक फेर-बदल के साथ। इस पद्धति की जानकारी के बिना हम, सही मायनों में, न तो उनकी कविता को समझ सकते हैं, न व्यावहारिक आलोचना को। यह भी एक संयोग है कि इस दौर के एक अन्य प्रमुख कवि अज्ञेय भी, जयशंकर प्रसाद से प्रभावित थे। उनकी आरंभिक कविताओं पर यह प्रभाव देखा जा सकता है। मुक्तिबोध की कविताओं पर भी यत्किंचित यह प्रभाव है किंतु उन पर ज़्यादा प्रभाव शिल्प के स्तर पर है। फ़ैंटेसी शिल्प की प्रेरणा उन्हें *कामायनी* से मिली थी। लगभग बीस साल तक, या कहें कि आजीवन, वे *कामायनी* को लेकर उलझते-सुलझते रहे। यह भी संभव है कि 'फ़ैंटेसी' के प्रति अपने सहज रुझान की वजह से वे *कामायनी* की ओर आकर्षित हुए। *तारसप्तक* (1943) में संगृहीत कविताओं में यह रुझान स्पष्ट है गो परवर्ती प्रदीर्घ कविताओं में यह अधिक मुखर है। रचना-प्रक्रिया संबंधी उनके विवेचन में भी फ़ैंटेसी का प्रमुख स्थान है। रचना-प्रक्रिया के दूसरे क्षण का संबंध फ़ैंटेसी के रूपायन से है और तीसरे क्षण का उसके शब्दबद्ध होने की प्रक्रिया से। इनमें दूसरा क्षण, फ़ैंटेसी के रूपायन का क्षण, सबसे समावेशी होने के कारण, अत्यंत श्रमसाध्य और महत्वपूर्ण है। मुक्तिबोध ने काव्य को 'एक सांस्कृतिक प्रक्रिया' कहा है। इस विचार का सूत्र भी उन्हें संभवतः प्रसाद साहित्य के अध्ययन के दौरान मिला। *कामायनी* से उनका जो संबंध है वह अजीब आकर्षण-विकर्षण का संबंध है। *कामायनी* के काव्य-सौंदर्य के प्रति यदि उनका प्रबल आकर्षण न होता तो वे उसके पठन-पाठन में बीसियों साल तक न उलझे रहते। *कामायनी एक पुनर्विचार* (1961) में उन्होंने लिखा : 'पिछले बीस वर्षों से मैं *कामायनी* का पठन-पाठन और अध्ययन करता आया हूं।' और यदि विकर्षण न होता तो वे *कामायनी* की, उसकी वस्तु और दृष्टि की, इतनी तीखी और विध्वंसक

आलोचना न करते।

पूर्व-परंपरा में जिस एकमात्र आलोचक से मुक्तिबोध प्रभावित दिखायी देते हैं वे आचार्य रामचंद्र शुक्ल हैं। मुक्तिबोध ने अपनी आलोचना पद्धति में शुक्ल जी की कुछ आलोचनात्मक अवधारणाओं का अत्यंत सर्जनात्मक उपयोग भी किया। इनमें से कुछ प्रमुख अवधारणाएं हैं □ काव्य का स्वरूप और काव्यानुभूति के बारे में शुक्ल जी के विचार; काव्य में 'भाव' की अपेक्षा ज्ञान को अधिक महत्व देने के बारे में शुक्ल जी का मत; 'भाव' और 'विचार' के सामंजस्य या कहें कि 'विरुद्धों के सामंजस्य' पर शुक्ल जी का बल; 'सौंदर्यानुभूति' को 'जीवनानुभूति' के समकक्ष मानने से संबंधित शुक्ल जी की धारणा; रचना-प्रक्रिया के बारे में शुक्ल जी का संक्षिप्त किंतु अत्यंत सारगर्भित विवेचन आदि। इन अवधारणाओं से संबंधित शुक्ल जी के विचार मुक्तिबोध के संपूर्ण चिंतन में भिदे हुए हैं, अत्यंत कलात्मक रूप में। संग्रह-त्याग के विवेक के साथ। अपनी अनूठी आलोचना-कृति *कामायनी : एक पुनर्विचार* में उन्होंने *कामायनी* पर विचार करने वाले आलोचकों के अंतर्गत एकमात्र शुक्ल जी के विचारों के प्रति अपनी सहमति जतायी है, अन्यथा अन्य सभी आलोचकों के प्रति अपनी घोर असहमति दर्ज की है। यहां तक कि *कामायनी* के 'आमुख' में व्यक्त स्वयं कवि प्रसाद के विचारों के प्रति भी। कवि समीक्षकों की बात तो जाने दीजिए, परवर्ती आलोचकों में भी कोई ऐसा नहीं है जिसने आचार्य शुक्ल की आलोचनात्मक अवधारणाओं का इतना सर्जनात्मक उपयोग किया हो। अब मुक्तिबोध पर इन अवधारणाओं के प्रभाव का संक्षिप्त विवेचन उपयोगी होगा। इस विवेचन से मुक्तिबोध की समीक्षा और समीक्षा-दृष्टि को समझने में भी मदद मिलेगी।

उक्त अवधारणाओं में सबसे महत्वपूर्ण है काव्य के स्वरूप और काव्यानुभूति के बारे में शुक्ल जी का विचार। शुक्ल जी ने काव्यानुभूति को 'हृदय की मुक्तावस्था' की संज्ञा दी है, 'आत्मा की मुक्तावस्था' के वज़न पर। ज्ञान या तत्वदर्शन के क्षेत्र में जो स्थिति आत्मा की मुक्तावस्था की है, भावना या संवेदना के क्षेत्र में वही हृदय की मुक्तावस्था की। 'हृदय की मुक्तावस्था' से शुक्ल जी का आशय क्या है? अपने दैनंदिन जीवन में मनुष्य, आम तौर पर, स्वार्थ-संबंधों में घिरा रहता है। वह निज की घेरेबंदी में क़ैद रहता है। किंतु प्रकृति का निरीक्षण करते समय, या जीवन की किसी मार्मिक घटना को देखकर, अथवा विशेष रूप से कविता-नाटक आदि किसी साहित्यिक रचना का आस्वाद लेते समय वह, कभी-कभी, निज की घेरेबंदी से ऊपर उठकर किसी बृहत्तर सत्ता (जैसे प्रकृति, या परंपरा, अथवा लोक) में अपने अस्तित्व को लीन करता है। लीन होने के ये क्षण ही, शुक्ल जी के अनुसार, सौंदर्यानुभूति के क्षण हैं। विशिष्ट हृदयों के मूल में संवेदना के जो सामान्य तत्व हैं वे ही इस लोक हृदय का प्रतिनिधित्व करते हैं। सौंदर्यानुभूति के इन क्षणों की विशेषता यह है कि इनमें व्यक्ति तन्मय के साथ-साथ तटस्थ भी रहता है। इसमें मुख्य रूप से दो बातें हैं : एक, 'स्व' की घेरेबंदी से ऊपर उठना अर्थात् 'आत्मबद्ध दशा का परिहार' (यह शब्द-संयोग आचार्य शुक्ल का है और मुक्तिबोध ने विविध प्रसंगों में इसका प्रयोग किया है); दो, कुछ क्षणों के लिए ही सही, लोकहृदय में लीन होना। एक ओर 'स्व' से तटस्थता, दूसरी ओर लोकहृदय में तन्यमता। 'लीन होने' में यों तो निष्क्रियता का संकेत मिलता है किंतु लोक हृदय में लीन होने में निष्क्रियता नहीं है। यह एक क्रियाशील शक्ति है। मुक्तिबोध ने शुक्ल जी के सुर में सुर मिलाते हुए लिखा : 'सौंदर्यानुभूति मनुष्य की अपने से परे जाने की, ...आत्मबद्ध दशा से मुक्त होने की मूल प्रवृत्ति से संबद्ध है।' ('समीक्षा की समस्याएं')। अपने अनेक निबंधों में मुक्तिबोध ने यह मत व्यक्त किया

है कि 'काव्य-रचना केवल व्यक्तिगत-मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया नहीं है, वह एक सांस्कृतिक प्रक्रिया है।' ('काव्यः एक सांस्कृतिक प्रक्रिया')। 'आत्मिक प्रयास' होने के बावजूद। इसका मूल कारण यह है कि लेखक अपने भाव-समुदाय को 'निज-विशिष्ट भूमि से ऊपर उठाकर, ... सर्व-विशिष्ट बना रहा है।' ('समीक्षा की समस्याएं')। निज-विशिष्ट को सर्व-विशिष्ट बनाने की प्रक्रिया ही रचना-प्रक्रिया है। 'स्व' से ऊपर उठना वृथा भावुकता नहीं है। कलाकार की जागरूकता इसी से सूचित होती है। संवेदनशीलता और मनुष्यता का सारा रहस्य इसी में छिपा हुआ है। अपने से बाहर जाकर ही हम दूसरों के बारे में सोचते हैं। यह दूसरों के बारे में सोचना ही हृदय का विस्तार है। सच्ची मनुष्यता है : 'स्व' से ऊपर उठना, खुद की घेरेबंदी को तोड़कर... अन्य के मर्म में प्रवेश करना, मनुष्यता का सबसे बड़ा लक्षण है।' ('काव्य की रचना प्रक्रिया : दो')। यह आत्मविस्तार मानवतावाद का स्रोत है : 'अपने से परे जाना, अपने से ऊपर उठकर जीवन-जगत में भीगना, उसमें रमना और इस प्रकार उदात्त प्रेरणाएं ग्रहण करना, वस्तुतः एक गहन मानवीय प्रक्रिया है।' ('कलात्मक अनुभव')। प्राचीन दार्शनिक शब्दावली में इस आत्मविस्तार को 'भूमा' कहा गया है। अल्प में, आत्मग्रस्तता में, सुख नहीं है। भूमा में, आत्मविस्तार में, ही सुख है। इस आत्मविस्तार के लिए वांछनीय है संवेदना और ज्ञान। दोनों एक साथ। ये दोनों सृजनशीलता के अनिवार्य घटक हैं। संवेदना हमें तन्मय करती है, ज्ञान हमें तटस्थ करता है। ये दोनों एक ही आत्मा की शक्तियां हैं, जैसा कि आचार्य शुक्ल ने रस मीमांसा में कहा है : 'ज्ञान हमारी आत्मा के तटस्थ (transcendent) स्वरूप का संकेत है, रागात्मक हृदय [संवेदना] उसके व्यापक (immanent) स्वरूप का।' यदि कविता मात्र आत्मपरक होगी, 'स्व' की घेरेबंदी में बद्ध होगी, तो उसका प्रभाव सीमित होगा। यदि वह व्यक्तिगत मंडल से ऊपर उठकर किसी वृहत्तर सत्ता (जैसे लोक) में अपने अस्तित्व को लीन करेगी तो उसका प्रभाव व्यापक होकर दिग-दिगंत में फैल जायेगा : 'तुम्हारे कारणों से जगमगाती है। व मेरे कारणों से सकुच जाती है।' ('चकमक की चिनगारियां')।

दूसरे, आचार्य शुक्ल ने अपने आलोचना-साहित्य में भाव और विचार के सामंजस्य पर बल दिया है और इस सामंजस्य को प्रकट करने के लिए 'विरुद्धों का सामंजस्य' शब्द-संयोग का प्रयोग किया। यह शब्द-संयोग मूलतः अंग्रेजी के प्रसिद्ध स्वच्छंदतावादी कवि और आलोचक कॉलरिज (1772-1834) का गढ़ा हुआ है और इसे हिंदी की आलोचनात्मक शब्दावली का अंग बनाने का श्रेय आचार्य शुक्ल को है। मूलतः यह कॉलरिज द्वारा उद्भावित 'रिकंसिलिएशन ऑफ़ अपोज़िट्स' का हिंदी अनुवाद है। मुक्तिबोध ने 'भाव' के स्थान पर 'संवेदना' शब्द का प्रयोग किया और 'विचार' के स्थान पर 'ज्ञान' का। आधुनिक साहित्य में 'संवेदना' और 'ज्ञान' शब्द ही अधिक ग्राह्य हुए। इन दोनों के सामंजस्य के लिए मुक्ति ने दो शब्द-संयोगों की उद्भावना की : 'ज्ञानात्मक संवेदन' और 'संवेदनात्मक ज्ञान'। एक में संवेदना पहले है, फिर उसे ज्ञानात्मक आधार दिया जाता है। दूसरे में ज्ञान, दर्शन, या कोई बड़ा विचार आरंभ में है, फिर उसे संवेदनात्मक रूप दिया जाता है। प्रगीतात्मक या लघु आकार की रचनाओं में लेखक 'भाव-प्रक्रिया का वस्तुपरक चित्रण' करता है जबकि प्रदीर्घ या प्रबंधात्मक रचनाओं में 'वस्तु-प्रक्रिया का आत्मपरक चित्रण'। चाहिए तो दोनों ही। दोनों का सामंजस्य। 'स्व' के साथ 'पर' का, 'आत्मपरक' के साथ 'वस्तुपरक' का, 'संवदेना' के साथ 'ज्ञान' का सामंजस्य। अथवा इस क्रम को उलटकर 'पर' के साथ 'स्व' का, 'वस्तुपरक' के साथ 'आत्मपरक' का, 'ज्ञान' के साथ 'संवेदना' का सामंजस्य। इन दोनों स्थितियों के अंतर्गत साहित्य-सृजन के सभी रूप आ जाते हैं। सभी रूपविधाएं। लघु-से-लघु और प्रदीर्घ-से

प्रदीर्घ। उक्त दोनों शब्द-संयोगों को पर्याप्त प्रसिद्धि भी मिली।

तीसरे, अपने भाव या मनोविकार-संबंधी निबंधों में आचार्य शुक्ल ने भावों का 'सूक्ष्म-व्यवच्छेद' किया है क्योंकि कविता की इमारत भावों से ही निर्मित होती है। फिर भी इन भावों की बुनियाद है ज्ञान। 'ज्ञान-प्रसार के भीतर भाव-प्रसार होता है', कहकर उन्होंने ज्ञान के प्रति अपनी प्राथमिकता व्यक्त की है। पहले ज्ञान-प्रसार, फिर भाव-प्रसार □इस ज्ञान को संवेदनात्मक रूप देने के लिए। मुक्तिबोध की दृष्टि में भी यों तो संवेदना और ज्ञान दोनों महत्वपूर्ण हैं, रचना में दोनों की प्रतिस्पर्धी स्थिति काम्य है, फिर भी सापेक्षिक दृष्टि से ज्ञान का महत्व अधिक है : 'विश्व में ज्ञान का जो आज विकास-स्तर प्राप्त है उसको आत्मसात करना, और उससे आगे बढ़ना, आवश्यक है। भावना उसी क्षेत्र में सक्रिय होती है जो क्षेत्र वस्तुतः ज्ञानशक्ति द्वारा गृहीत हो। बोध यानी ज्ञान के क्षेत्र के भीतर ही भावना की पहुंच है, उसके बाहर नहीं।' ('कलाकार की व्यक्तिगत ईमानदारी : दो')। मुक्तिबोध के अनुसार आज के कवि को तो विशेष रूप से 'ज्ञानपक्ष के विकास की जितनी आवश्यकता है, उतनी पहले कभी नहीं रही।' ('काव्य एक सांस्कृतिक प्रक्रिया')। इसलिए यह बहुत ज़रूरी है कि उसके जीवन का ज्ञानात्मक आधार 'व्यापक और विकसित' हो। ज्ञान-प्रसार की प्रक्रिया तो अनवरत है। उसके प्रसार और विकास का सिलसिला निरंतर जारी है। और चूंकि ज्ञान के क्षेत्र में ही भावना विचरण करती है, इसलिए कलाकार की भाव-समृद्धि के लिए यह ज़रूरी है कि ज्ञान को 'अधिकाधिक मार्मिक, यथार्थमूलक और विकसित करने' का उसका जो संघर्ष है वह कभी रुके नहीं, बराबर चलता रहे। उसका ज्ञानात्मक आधार 'विस्तृत, व्यापक और अद्यतन' होना चाहिए।

चौथे, शुक्ल जी के अनुसार 'रसदशा' या 'सौंदर्यानुभूति' जीवनानुभूति से भिन्न कोई सर्वथा विशिष्ट अनुभूति नहीं है। वह प्रत्यक्षानुभूति का ही 'उदात्त और अवदात' रूप है। दोनों में जो अंतर है वह परिमाण या मात्रा का है, गुणात्मक नहीं। उनका स्पष्ट मत है कि 'कविता जीवन से ही उत्पन्न है और जीवन के भीतर ही अपनी विभूति का प्रकाश करती है। उसे जीवन से विच्छिन्न बताना कहीं की बात कहीं लगाना है।' ('काव्य में रहस्यवाद')।

इसीलिए 'शब्द-काव्य की सिद्धि के लिए वस्तु-काव्य का अनुशीलन परम आवश्यक है।' (*रस मीमांसा*)। मुक्तिबोध के अनुसार भी साहित्य के प्रश्न मूलतः जीवन के प्रश्न हैं : 'साहित्य-क्षेत्र में... जो प्रश्न उत्पन्न होते हैं वे सारतः जीवन के प्रश्न हैं, वे जीवन-स्थितियों और जीवन-प्रवृत्तियों से संबंधित हैं।' ('समीक्षा की समस्याएं')। और सापेक्षिक दृष्टि से जीवन और साहित्य में प्राथमिकता जीवन की है। 'साहित्य-चिंता और जीवन-चिंता में जीवन-चिंता का स्थान प्रथम और साहित्य-चिंता का स्थान द्वितीय है।' ('वस्तु और रूपः तीन')। अनेक सौंदर्यवादी यह कहते हैं कि कला का अपना स्वायत्त संसार है। कला की दुनिया अलग है, जीवन-आचरण अलग। वे केवल 'काव्य-सत्य' को महत्व देते हैं, 'जीवन सत्य' को नहीं। एलियट ने, और एलियट के अनुकरण पर ही अज्ञेय ने, भोक्ता और स्रष्टा मन के बीच के अलगाव पर बल दिया था। मुक्तिबोध ने लिखा, 'भोक्ता और स्रष्टा मन के बीच का यह पार्टीशन बहुत ख़तरनाक है।' ('काव्य : एक सांस्कृतिक प्रक्रिया')। मुक्तिबोध के अनुसार यह विचार एक 'वंचना-स्वप्न' के अलावा कुछ नहीं है। वास्तविकता यह है कि कवि-दृष्टि भी एक प्रकार से जीवन-दृष्टि ही है और 'वास्तविक जीवन-साधना के बिना कलात्मक साधना असंभव है।' ('आधुनिक कविता की दार्शनिक पार्श्वभूमि')। शुक्ल जो ने अत्यंत स्पष्ट शब्दों में यह घोषित किया था कि काव्य-भूमि 'जीवन-जगत से

परे' नहीं है। 'कल्पित रूपविधान' का आधार भी 'प्रत्यक्ष रूपविधान' ही है। मुक्तिबोध ने शुक्ल जी के इस विचार का समर्थन करते हुए लिखा कि 'कल्पना के महल की ईंटे वास्तविक जीवन में जिये गये तत्व ही हैं। अनुभव, जीवन-दृष्टि, ज्ञान-व्यवस्था आदि-आदि बातों में से कल्पना अपने तत्व ग्रहण करती है, और उनको जोड़-तोड़कर अपने आकार बनाती है।' ('साहित्य में जीवन की पुनर्रचना')। सिद्धांत और मान-मूल्य भी अपने-आप में काम्य नहीं हैं। समीक्षक की दृष्टि या उसके प्रतिमान जिये जाने वाले और भोगे जाने वाले जीवन से अनुप्राणित होने चाहिए। जीवन ही से दिशा प्राप्त कर यदि सिद्धांतों का प्रयोग हुआ तो आलोचना भटकेगी नहीं। जीवन से इस गहन जुड़ाव की वजह से ही 'साहित्य के प्रश्नों को हलके ढंग से नहीं लिया जा सकता।' ('समीक्षा की समस्याएं')। मुक्तिबोध ने ऐसे लोगों की कटु आलोचना की है जो विचार और व्यवहार में भेद करते हैं : 'साहित्य में प्रगतिवादी, पर जीवन में घनघोर प्रतिक्रिया के पोषक, साहित्य में मानवतावादी, पर जीवन में शोषकों के अभिन्न मित्र □ इस तरह की विसंगतियां आलोचक भले ही न देख पायें, या देखकर भी नज़रअंदाज़ कर दें, अथवा सौजन्यवश चुप रहें, लेकिन साहित्य से प्रेम रखने वाली जनता उन्हें अपनी करोड़ों आंखों से देखती है।' ('कुटुयान और काव्य-सत्य', *रच* 4, 61-62)।

3

जैसा कि इस लेख के आंरभ में संकेत किया जा चुका है, मुक्तिबोध ऐसी आलोचना-पद्धति की तलाश में थे जो 'सर्वाश्लेषी' हो। अधिक गहरी और यथार्थोन्मुख। अधिक से अधिक समावेशी। रचना के अधिकाधिक आयामों को समाहित करने वाली। आलोचना के केंद्र में तो रचना या कलाकृति ही रहती है। इस कलाकृति का संबंध तीन स्तरों पर देखा जा सकता है : कवि-व्यक्तित्व, परिवेश-परिस्थिति और पाठक। कवि-व्यक्तित्व में वैयक्तिक-मनोवैज्ञानिक पक्ष तो शामिल है ही, इसमें सबसे महत्वपूर्ण है उसकी दृष्टि या विश्वदृष्टि। परिवेश□परिस्थिति रचना का वस्तुपक्ष है जिसे हमारे परंपरागत काव्य-चिंतन में 'विभाव' की संज्ञा दी गयी है। इसके अंतर्गत प्रमुख रूप से आते हैं समाज और इतिहास। चाहे वैयक्तिक-मनोवैज्ञानिक पक्ष हो या परिस्थिति-परिवेश, वे रचनाकार के अंतर्व्यक्तित्व, उसकी विश्वदृष्टि से गुज़रकर ही रचना का रूप ग्रहण करते हैं। तीसरा पक्ष है पाठक, जिसे श्रोता, दर्शक, भावक, सहृदय आदि विविध नामों से निर्दिष्ट किया जाता है। लेखक जब लिखता है तो, प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से, किसी न किसी पाठक वर्ग की संकल्पना उसके दिमाग़ में रहती है। उस पाठक वर्ग को ध्यान में रखकर ही वह लिखता है। लेखक भी लेखक तभी तक है जब तक वह लिख रहा है। लिखने के बाद वह भी अपनी रचना का पाठक ही है। आलोचक भी एक संवेदनशील और अधिक सूक्ष्म दृष्टि-संपन्न पाठक ही है। रचना से संबंधित उक्त तीनों पक्षों के अलावा एक चौथा पक्ष भी है जो रचना की स्वायत्तता पर बल देता है। उसमें रचना के रूप, उसकी संरचना, और उसके भाषाई विन्यास को अधिक महत्व दिया जाता है और कवि-व्यक्तित्व, परिवेश-परिस्थिति, पाठक से रचना के संबंध आदि को साहित्येतर मूल्य मानकर उनकी उपेक्षा कर दी जाती है। उदाहरण के लिए अमरीकी नयी समीक्षा और *कविता के नये प्रतिमान* (ले. नामवर सिंह) में यही पद्धति अपनायी गयी है। विभिन्न आलोचना पद्धतियों में से प्रत्येक का उक्त चारों पक्षों में से किसी एक पर विशेष बल दिखायी देगा। उदाहरण के लिए ऐतिहासिक तथा मार्क्सवादी समीक्षा में परिवेश-परिस्थिति (समाज तथा इतिहास) से रचना के संबंध पर विशेष बल दिया जाता है;

मनोविश्लेषणवादी समीक्षा में लेखक का मनोलोक विश्लेषण के केंद्र में रहते है; रूपवादी समीक्षा (जैसे संरचनावाद और आंग्ल-अमरीकी 'नयी समीक्षा') में रचना को स्वायत्त मानने का आग्रह प्रबल हो उठता है और अन्य तत्वों की उपेक्षा करके भाषाई विन्यास के विश्लेषण द्वारा काव्यार्थ को स्पष्ट करने का प्रयास किया जाता है; और स्वच्छंदतावादी समीक्षा में रचनाकार का व्यक्तित्व केंद्रीयता ग्रहण कर लेता है। मुक्तिबोध उक्त सभी आलोचना-पद्धतियों से परिचित थे और *कामायनी* की समीक्षा में ऐसी पद्धति अपनाना चाहते थे जिसमें 'अंतःकरण में स्थित जीवनानुभवों को उनके संपूर्ण बाह्य संदर्भों के साथ' व्याख्यायित किया जा सके, और जिस को आधार बनाकर *कामायनी* की वस्तु और दृष्टि की, और एक हद तक उसके काव्य-सौंदर्य की भी, मीमांसा की जा सके। साथ ही, वह मीमांसा इतनी समावेशी हो कि एक आलोचना-पद्धति के रूप में, आगामी आलोचकों के लिए, एक मॉडल का काम दे सके।

जैसा कि संकेत किया जा चुका है, मुक्तिबोध ने अपनी आलोचना पद्धति *कामायनी* के अध्ययन के दौरान विकसित की थी। दूसरे शब्दों में, व्यावहारिक समीक्षा के दौरान। वे व्यवहार से सिद्धांत की ओर गये। यही वैज्ञानिक पद्धति भी है। वे *कामायनी* का अध्ययन तो 1940 के दशक के आरंभ से ही करते आ रहे थे। 1944 में *हंस* में, और 1952 में *आलोचना* में, *कामायनी* पर उनके स्वतंत्र लेख प्रकाशित भी हुए थे। *कामायनी* के इस अध्ययन का पूर्वरूप 1950 में प्रकाशित हुआ था☐ *कामायनी (एक अध्ययन)* शीर्षक से। इसका मतलब यह हुआ कि 1950 या उसके साल-दो साल पहले तक वे अपनी आलोचना पद्धति का विकास कर चुके थे। 1946 में उन्होंने कवि त्रिलोचन के कविता-संग्रह *धरती* की समीक्षा लिखी थी ☐'*धरती*: एक समीक्षा'। इसमें उनकी आलोचना-पद्धति के विकास के स्पष्ट संकेत नहीं मिलते। किंतु 1948 में उन्होंने सुभद्रा कुमारी चौहान की कविताओं पर एक अत्यंत अंतर्दृष्टिसंपन्न लेख लिखा☐ 'सुभद्रा जी की सफलता का रहस्य'। इस लेख में उनकी आलोचना-पद्धति के विकास के स्पष्ट संकेत सुलभ हैं। इसमें उन्होंने कहा कि सुभद्रा जी के काव्य में ऐसी मौलिकता है, ऐसी शक्ति है, 'जिसके द्वारा उनके साहित्य के माध्यम से युग का, और युग के माध्यम से उनके साहित्य का, अध्ययन सफलतापूर्वक किया जा सकता है।' यह विचार उनकी आलोचना-पद्धति का अनिवार्य अंग बना जिसमें पहले वे रचनाओं के माध्यम से रचनाकार के युग का अध्ययन करते हैं, फिर युग के अध्ययन के माध्यम से रचनाओं का अध्ययन। यह 'दुहरी यात्रा' उनकी आलोचना-पद्धति की एक महत्वपूर्ण विशेषता है। इन कविताओं पर दीर्घकालीन चिंतन-मनन से ही, उस चिंतन-मनन के माध्यम से ही, कवि-व्यक्तित्व उभरता है: 'कवि के व्यक्तित्व की कल्पना पहले नहीं आती, कविताओं पर मनन की लंबी प्रक्रिया के उपरांत वह धीरे-धीरे मन में विकसित होने लगती है।' ('सुभद्रा जी की सफलता का रहस्य')। यह कवि-व्यक्तित्व दरअसल लेखक की विश्वदृष्टि ही है। सुभद्रा जी की मानसिक प्रतिक्रियाओं के मूल में हमेशा एक दृष्टि रहती है। इसीलिए 'उनकी कविताओं में भाव मानव-संबंध से, मानव-संबंध विशेष परिस्थिति से, विशेष परिस्थिति सामाजिक-राष्ट्रीय परिस्थिति से, एक अटूट संबंध-श्रृंखला में बंधी हुई है।' (उप.)। यहां 'स्व' पक्ष और 'पर' पक्ष, 'भाव' पक्ष और 'विभाव' पक्ष, वैयक्तिक-मनोवैज्ञानिक पक्ष और परिवेश-परिस्थिति परस्पर संबद्ध हैं। एक ही वास्तविकता के अंग। इन दोनों को जोड़ने वाला माध्यम है दृष्टि या विश्वदृष्टि। चाहे वैयक्तिक-मनोवैज्ञानिक पक्ष हो या परिवेश-परिस्थिति, रचना का आकार ग्रहण करने के लिए उसे लेखक की विश्वदृष्टि, उसके अंतर्व्यक्तित्व, से होकर गुज़रना होगा। रचनकार का असल व्यक्तित्व यह विश्वदृष्टि ही है। मौलिकता का स्रोत भी यही है। इस विश्वदृष्टि से गुज़रकर

रचना में स्वयमेव एक विलक्षणता आ जाती है। इस विवेचन से हम अनुमान लगा सकते हैं कि कैसे एक आलोचना-पद्धति आकार ग्रहण करने जा रही है। इस आकार की रेखाएं अभी पूर्णरूपेण उभरी नहीं हैं किंतु रूप ग्रहण करने की तैयारी में है। *कामायनी* के अध्ययन में यह आलोचनना पद्धति स्पष्ट आधार ग्रहण कर लेती है।

संरचना, इतिहास, समाजशास्त्र और मनोविज्ञान के समन्वय से मुक्तिबोध ने अपनी आलोचना-पद्धति का विकास किया। कवि शमशेर पर अपने एक लेख ('शमशेर : मेरी दृष्टि में') में उन्होंने शमशेर को 'मनोवैज्ञानिक वस्तुवादी' कहा है। यह नामांकन मुक्तिबोध पर भी लागू होता है। मनोविज्ञान में उनकी रुचि आरंभ से थी। अवचेतन को वे सृजनशीलता का स्रोत मानते थे। मनोविज्ञान और समाजशास्त्र को मुक्तिबोध एक-दूसरे का पूरक मानते हैं, विरोधी नहीं। एक का संबंध हमारे अंतःकरण से है, दूसरे का परिस्थिति-परिवेश से; एक का 'स्व' से, दूसरे का 'पर' से; एक का भाव से, दूसरे का विभाव से; एक का संवेदना से, दूसरे का ज्ञान से; एक का 'वैयक्तिक-मनोवैज्ञानिक' पक्ष से, दूसरे का वस्तु पक्ष या 'परिस्थिति-परिवेश' से। अपने आरंभिक विकास में ही मुक्तिबोध ने एक ऐसी पुस्तक लिखने की अकांक्षा व्यक्त की थी जिसमें 'समाजशास्त्रीय मनोविज्ञान' और उसकी प्रक्रियाओं का विस्तृत निरूपण हो। संरचना अपने-आप में निर्जीव और जड़ है। इतिहास से उसमें गति और जीवंतता का संचार होता है। इतिहास के बिना संरचना रूपवाद का पर्याय है, संरचना के बिना इतिहास सीधा-सपाट है। इतिहास व्यापकता और गतिशीलता का स्रोत है, संरचना समग्रता और गहराई का। *कामायनी* की समीक्षा-पद्धति में संरचना, मनोविज्ञान, समाजशास्त्र और इतिहास का विनियोग साफ़ दिखायी देता है। *कामायनी* की समीक्षा में उन्होंने जो पद्धति अपनायी उसका पुस्तक के आरंभ में निरूपण भी किया। फिर वही पद्धति परवर्ती समीक्षाओं में भी जारी रही। आलोच्य कृति की प्रकृति के अनुरूप आवश्यक फेर-बदल के साथ। इस पद्धति की जानकारी के बिना हम न मुक्तिबोध की कविता को समझ सकते हैं, व व्यावहारिक आलोचना को। वह पद्धति क्या है?

आलोचना की यह यात्रा दो चरणों में पूरी होती है। एक बार कविताओं या कलाकृति के माध्यम से कवि-व्यक्तित्व (कवि की अंतःप्रकृति तथा विश्वदृष्टि) और समाज तथा विश्व (परिवेश-परिस्थिति) को समझने का प्रयास। दूसरी बार समाज तथा विश्व के अध्ययन के माध्यम से कवि-व्यक्तित्व और कलाकृति को समझने का प्रयास। पहले साहित्य के माध्यम से लेखक के युग का, फिर युग के माध्यम से साहित्य का अध्ययन। उनके संदर्भ का एक सूत्र परिस्थिति और परिवेश में होता है, तो उसी सूत्र का दूसरा छोर मानव अंतःकरण में।' ('नयी कविता की अंतःप्रकृति : वर्तमान ओर भविष्य')। 'परिस्थिति और परिवेश' अर्थात समाज और इतिहास और 'मानव अंतःकरण' अर्थात् वैयक्तिक-मनोवैज्ञानिक पथ। अंत में दोनों यात्राओं की तुलना के आधार पर मूल्य-निर्णय। मनुष्य के बौद्धिक उपादान क्रमशः विकसित होते हैं, बदलते हैं, किंतु ज़रूरी नहीं कि वे यथार्थ की गति के साथ क़दम-से-क़दम मिलाकर चलते रहें, विकसित होते रहें। इस संदर्भ में, मूल्य-निर्णय के संदर्भ में, तीन स्थितियां बनती हैं। *पहली* यह कि लेखक वर्तमान यथार्थ का दिशा-निर्देश करे, वह मशाल लेकर समाज और राजनीति के आगे-आगे चले, जैसा कि प्रेमचंद ने कहा था। *दूसरे,* वह सामाजिक यथार्थ के साथ-साथ चले। समाज ने विकास का जो स्तर प्राप्त कर लिया है, उसी का प्रतिफलन साहित्य में हो। *तीसरे,* यथार्थ बहुत आगे बढ़ जाये, विकास-क्रम में, जबकि लेखक के बौद्धिक उपादान पीछे छूट जायें अर्थात् सामाजिक विकास की तुलना

में लेखक की दृष्टि 'पश्चगामी' हो। हमारे मूल्य-निर्णय का आधार ये तीनों स्थितियां बनेंगी। यदि पहली स्थिति है अर्थात् कवि 'जीवन-यथार्थ की लालटेन' है तो वह रचनाकार श्रेष्ठ है। यदि वह सामाजिक विकास के साथ-साथ चल रहा है, समानांतर रूप में, तो भी ठीकठाक है। तब उसका स्तर बीच का है। यदि तीसरी स्थिति है, सामाजिक विकास की तुलना में लेखक की दृष्टि पिछड़ी हुई है, 'पश्चगामी' है, तो स्थिति चिंत्य हो जाती है। इसी प्रक्रिया से गुज़रकर दिनकर कृत *उर्वशी* के बारे में मुक्तिबोध का मूल्यनिर्णय है कि '*उर्वशी* अपने सामाजिक अर्थ में एक पश्चगामी काव्य है।' ('*उर्वशी* : दर्शन और काव्य')। कारण, उसमें प्राचीन सिद्धों के 'अंधविश्वासपूर्ण महासुखवाद' के मनोविज्ञान का आश्रय लिया गया है। मुक्तिबोध का यह कहना एकदम ठीक है कि 'सांस्कृतिक क्षेत्र में सर्वाधिक प्रभावशाली वर्ग, यदि वह शासक वर्ग से संबंधित है, तो वह अपनी रचनाओं द्वारा ऐसी भाव-धाराओं और मनोवृत्तियों का प्रचार चाहता है, जिनसे व्यक्ति मन अधिकाधिक निजबद्ध होता जाये और विषमताग्रस्त समाज की बुनियाद की ओर उसका ध्यान न जा सके।' (उप.) *कामायनी* के बारे में भी कमोवेश यही मूल्य-निर्णय है, हालांकि उसके काव्य-सौंदर्य से वे अभिभूत थे। यहां उन्हें परेशानी *कामायनी* की वस्तु और दृष्टि को लेकर है। कवि-व्यक्तित्व में सबसे प्रमुख घटक है 'विश्वदृष्टि', जो आलोच्य रचनाकार की समग्र रचनाओं के अध्ययन-मनन से उभरती है। कवि-व्यक्तित्व की कल्पना के बिना किसी कवि की कविताओं का यथेष्ट आनंद नहीं लिया जा सकता। ऊपर निर्दिष्ट दोनों प्रकार की यात्राओं में विश्वदृष्टि की स्थिति केंद्रीय है। यथार्थवादी विधाओं, जैसे नाटक या उपन्यास में, रचना में व्यक्त विश्वदृष्टि और रचनाकार की विश्वदृष्टि प्राय तदाकार हैं। उनमें अंतर नहीं किया जा सकता है। किंतु कविता, विशेष रूप से कल्पनाप्रधान कविता (फ़ैंटेसी) में कवि-व्यक्तित्व अलग से अपना अस्तित्व बनाये रख सकता है। जैसे *कामायनी* में। चाहे वैयक्तिक-मनोवैज्ञानिक पक्ष हो या परिवेश-परिस्थिति, विश्वदृष्टि से गुज़र कर ही वह रचना का रूप ग्रहण करेगी। दोनों ही यात्राएं ज़रूरी हैं, भीतर से बाहर की ओर भी, और बाहर से भीतर की ओर भी □ हालांकि उनका क्रम उलट भी सकता है। डॉ. भगवतरशरण उपाध्याय ने, *उर्वशी* की आलोचना करते समय, बाहर से भीतर की ओर यात्रा तो की थी किंतु भीतर से बाहर की ओर की यात्रा की उपेक्षा कर दी थी। मुक्तिबोध ने लिखा कि अच्छा होता 'भगवतशरण जी बाहर से भीतर की यात्रा के पूर्व या अनंतर यदि सावधानी से भीतर से बाहर की यात्रा भी कर लेते।' (उप.) दोनों यात्राएं ज़रूरी हैं। उचित मूल्य-निर्णय तभी हो पायेगा। परिवेश-परिस्थिति अर्थात् समाज और इतिहास की मीमांसा से यह आशय नहीं कि आलोचक ऐतिहासिक अथवा स्थूल समाजशास्त्रीय विवेचन मात्र में अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझ ले। यदि वह ऐसा करता है तो एकपक्षीय अतिरेक करता है। यही नहीं, वह मनुष्य का विवेचन करने के स्थान पर उसका अस्थि-पंजर भर प्रस्तुत कर रहा है। मानव-चेतना उसमें ग़ायब है। और यह मानव-चेतना क्या है? 'मनुष्य की ऐतिहासिक-सामाजिक सत्ता द्वारा विकसित मनौवैज्ञानिक रूप ही मानव-चेतना है।' ('समाज और साहित्य')

4

प्रायः आलोचक सिद्धांत-कथन करके रह जाते हैं, उन सिद्धांतों को अपनी व्यावहारिक आलोचना में लागू नहीं करते। लेकिन हमें यह ध्यान में रखना चाहिए कि 'केवल सैद्धांतिक ज्ञान से यथार्थ का पूर्ण बोध नहीं होता।' ('समीक्षा की समस्याएं')। मुक्तिबोध ने जिस आलोचना-पद्धति की उद्भावना की उसे अपनी

व्यावहारिक समीक्षाओं में लागू भी किया। बल्कि आलोचना के वे प्रतिमान उनकी कविताओं के मूल में भी क्रियाशील दिखायी देते हैं। परोक्ष रूप से उनकी छोटी-से-छोटी समीक्षा (जैसे*अंधायुग* की समीक्षा) में भी उस पद्धति का निर्वाह मिलेगा। इसीलिए इस आलोचना-पद्धति की जानकारी के बिना हम उनकी व्यावहारिक आलोचनाओं को, बल्कि कविताओं को भी, और लंबी कविताओं को तो विशेष रूप से, सही मायनों में समझ नहीं सकते। बहुत कम आलोचक ऐसे होंगे जिनकी सैद्धांतिक और व्यावहारिक आलोचना में ऐसी अनुरूपता हो जैसी कि हमें मुक्तिबोध में देखने को मिलती है। इसका यह आशय नहीं कि मुक्तिबोध के पास आलोचना प्रतिमानों का कोई सामान्य सांचा है जिसे वे हर आलोच्य रचना पर घटाते चलते हैं। वास्तव में वे सामान्य और विशिष्ट दोनों पक्षों को सामने रखते हैं रचना हो या आलोचना, मौजूदा 'सभ्यता समीक्षा' बराबर उनके चिंतन के केंद्र में रही। रचना का एक तो वैयक्तिक-मनोवैज्ञानिक पक्ष होता है, दूसरा ऐतिहासिक-समाजशास्त्रीय। दोनों ही पक्ष ज़रूरी हैं। किसी एक पर अतिरंजित बल देने से रचना का प्रभाव क्षीण हो जायेगा। *अंधायुग* की समीक्षा में उन्होंने भारती की आलोचना इसीलिए की है कि उसमें वैयक्तिक-मनोवैज्ञानिक पक्षों को तो ध्यान में रखा गया है किंतु लेखक के मनोलोक में ऐतिहासिक-समाजशास्त्रीय शक्तियों की 'जानकारी या ज्ञान-संवेदना' का अभाव है। उनका वैचारिक अंतरंग छायावादी है। सुमित्रानंदन पंत के संदर्भ में समस्या दूसरी है। उनमें अंतर्मुखता का अभाव है। 'पंत जी अंतर्मुख कवि नहीं हैं□अथवा उनकी अंतर्मुखता बहुत क्षीण है।' ('सुमित्रानंदन पंत : एक विश्लेषण')। किंतु 'अंतर्मुखता के बिना अपने ही भावों का स्पष्ट दर्शन, उनकी जटिलता और समग्रता का आकलन, तथा उनकी विश्लेषित और संश्लेषित अभिव्यक्ति असंभव है।' (उप.) कुल मिलाकर यथार्थ से उनके अंतःकरण का जो संबंध है। वह 'द्वंद्वात्मक संघर्षात्मक' नहीं है। *कामायनी* के रचनाकार प्रसाद की समस्या तीसरी है। प्रसाद में आत्मपरकता या अंतर्मुखता भी है और ऐतिहासिक-सामाजिक दृष्टि भी। फिर भी मुक्तिबोध *कामायनी* को श्रेष्ठ रचना नहीं मानते। यहां खोट है विश्वदृष्टि में। प्रसाद की विश्वदृष्टि में वर्चस्व है उनके पारिवारिक तथा वर्गीय संस्कारों का जो कि मूलतः सामंती थे। उनके नाटकों में, और कथासाहित्य में भी, इन संस्कारों के प्रकाशन का अधिक अवसर नहीं था क्योंकि ये दोनों यथार्थवादी विधाएं हैं। किंतु कविता में उनके अवचेतन के व्यक्त होने का मौक़ा अधिक था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मुक्तिबोध की व्यावहारिक समीक्षा का मूल ढांचा यद्यपि एक ही है किंतु आलोच्य रचना की प्रकृति और प्रयोजन के अनुसार उस ढांचे के अंतर्तत्व बदल जाते हैं। इसका कारण यह है कि किसी भी रचना की आलोचना करते समय आलोचक को लेखक की समस्या का पुनर्निर्माण करना होता है। वह लेखक की कार्य-पद्धति पर चलता है, स्वयं अपनी कार्य-पद्धति उस पर आरोपित नहीं करता। रचनकार के लिए जो महत्व 'ईमानदारी' का है वही समीक्षक के लिए 'चरित्र' का : 'समीक्षक को भी चरित्र की उतनी ही आवश्यकता है जितनी कि लेखक को ईमानदारी की।' ('समीक्षा की समस्याएं')

मो. : 9810782740

विचार-यात्रा का ऐतिहासिक दस्तावेज़
(*एक साहित्यिक की डायरी*)

वैभव सिंह

मुक्तिबोध चिंतन में डूबी सघन तार्किक भाषा और निर्मम आत्मसंघर्ष के रचनाकार हैं। उन्हें पढ़ते हुए किसी को भी लग सकता है कि उनकी चेतना में गहरी संवेदनशीलता, पीड़ा-बोध और सजग बौद्धिकता का समन्वय हो गया है। ऐसा समन्वय जो ठंडा होकर बुझा-सा नहीं पड़ा है बल्कि जिसने सृजन का भव्य तेजोमय रूपाकार ग्रहण कर लिया है। रचनात्मक ऊर्जा का ऐसा तीव्र प्रवाह है कि वह हर दिशा में उत्साह से दौड़ती है। वैसे भी वह आज़ादी के आसपास का ऐसा संभावनाशील युग है कि उसमें जिस प्रकार नये जन्मे देश के रूप में भारत को बहुत अनोखे अनुभवों और प्रयोगों का सामना करना पड़ रहा है, वैसे ही राष्ट्रीय-सामाजिक सरोकारों वाले लेखकों को भी चेतना के स्तर पर विभिन्न बौद्धिक उथलपुथल और मनोदशाओं से गुज़रना पड़ रहा है। इस उथलपुथल के समय में जड़ता के मोह झड़कर एक तरफ़ जा पड़े हैं और गति व अथक यात्रा ही एकमात्र विकल्प है। नेहरू ने आज़ादी के बाद संसद में दिये गये अपने प्रसिद्ध भाषण में कहा भी था- 'इतिहास हमारे लिए एकदम नये ढंग से आरंभ हो रहा है, जिस इतिहास को हमें जीना है और उसमें काम करने हैं और जिसके बारे में भविष्य में लोग लिखेंगे।' नये रास्तों और नये बनते इतिहास का बोध मुक्तिबोध के पूरे साहित्य में उपस्थित है। अपनी कविता 'मुझे क़दम-क़दम पर' में कहते भी हैं□मुझे क़दम-क़दम पर / चौराहे मिलते हैं / बांहें फैलाये / एक पैर रखता हूं / कि सौ राहें फूटतीं / मैं उन सब पर से गुज़रना चाहता हूं।

एक साहित्यिक की डायरी मुक्तिबोध की महत्वपूर्ण पुस्तक है जो उनकी मृत्यु से पहले श्रीकांत वर्मा के संपादन में प्रकाशित हुई थी। प्रकाशन का वर्ष था 1964। यह पुस्तक मुक्तिबोध की विचार-यात्रा का ऐतिहासिक दस्तावेज़ है। इसके बारे में नामवर सिंह ने अपनी किताब *वाद विवाद संवाद* में लिखा था, 'साहित्य की व्याख्या करने वाली पुस्तकें तो बहुत हैं, किंतु साहित्य की धारा को बदलने वाली विचारोत्तेजक पुस्तकें एकाधिक दशक के बाद आती हैं और मुझे लगता है कि मुक्तिबोध की यह डायरी एक ऐसी ही क्रांतिकारी कृति है□विशेषतः नवलेखन के लिए।' इस डायरी में जबलपुर से छपने वाले पत्र *वसुधा* में प्रकाशित निबंधों को शामिल किया गया था। मुक्तिबोध ने *वसुधा* और *नया खून* में 57, 58 और 60 में 'एक साहित्यिक की डायरी' के नाम से स्तंभ लिखे थे। इनमें से केवल *वसुधा* में प्रकाशित स्तंभ में सम्मिलित लेखों को बाद में *एक साहित्यिक की डायरी* के नाम से श्रीकांत वर्मा के संपादन में

पुस्तकाकार प्रकाशित किया गया था। श्रीकांत वर्मा के अनुसार, '*एक साहित्यिक की डायरी* के पहले संस्करण की पांडुलिपि मार्च 1964 में भोपाल में मुक्तिबोध ने मुझे सौंपी थी और वह जिस रूप में चाहते थे, उसी रूप में वह प्रकाशित हुई।' मुक्तिबोध की इस 'डायरी' को पढ़ते समय लगता है कि वे जीवन में रची-बसी रचनाशीलता को जीते हुए भी रचना प्रक्रिया को एक कठोर बौद्धिक तटस्थता के साथ समझने का प्रयास कर रहे हैं। कई लेखकों ने अपनी रचनाशीलता के पक्ष में लेख और निबंध लिखे हैं। वहां अपनी रचना-दृष्टि को सही सिद्ध करने का भरपूर प्रयास मिलता है। यह वैसे ही है जैसे लड्डू बनाने वाला हलवाई अपने लड्डू की तारीफ़ करता है। पर मुक्तिबोध जैसी गहन तटस्थता, गहरी बेचैनी और बेबाकपन से लिखने के तरीक़े या उसके मक़सद पर विचार करते हैं, वह आश्चर्यचकित करता है और थोड़ा भावविह्वल भी। ऐसी बौद्धिक बेचैनी को देख केवल दिमाग़ नहीं बल्कि हृदय के तार भी झनझना जाते हैं। ज़ाहिर है कि यह प्रचलित क़िस्म की डायरी नहीं है जिसमें रोज़ाना की घटनाएं, साधारण-असाधारण लोगों से संपर्क या निजी सुख-दुख के विवरण दर्ज होते हैं। यह निबंध व कथा के रचनात्मक तालमेल में उपजे विचारों के संकलन की डायरी है जिसमें आलोचना से लेकर रचना तक के मानदंडों की पड़ताल की गयी है। कहानी की शैली में आलोचना को विकसित करने का प्रयास भी इसे विशिष्ट बनाता है। मुक्तिबोध रचनावली के संपादक नेमिचंद्र जैन ने लिखा है- '*एक साहित्यिक की डायरी* के अंतर्गत मुक्तिबोध की जो रचनाएं प्रकाशित हुईं, वे कहानी और आलोचनात्मक बहस-मुबाहसे का ही एक मिला-जुला और अपने ढंग का रूप है। अपने व्यक्तित्व और वक्तव्य की विशेष ज़रूरत के अनुरूप मुक्तिबोध ने इस शैली को विकसित किया।' डायरी का लेखन उन वर्षों में हो रहा था जब हिंदी साहित्य जगत में नयी कहानी आंदोलन और प्रगतिशील मूल्यों का गहरा प्रभाव था। चीन और क्यूबा की क्रांति के कारण दुनिया में नयी तरह की उम्मीदें पैदा हो रही थीं। साहित्य छायावादी भावबोध से पूरी तरह मुक्त हो चुका था। लेखकों के समक्ष अभिव्यक्ति और रचनाशीलता के वस्तुगत तथा सामाजिक आयाम की खोज अहम समस्या के रूप में सामने आ रही थी। लोकतंत्र के आंदोलनों के कारण लेखक को भी रहस्यमयी विशिष्टता के दायरे में रहने का मोह नहीं रह गया था। उस पर अपने सृजन के बारे में सुचिंतित तरीक़े से बात करने की ज़िम्मेदारी आ गयी थी। इसलिए रचनाकार अपनी रचना को संकीर्ण नहीं बल्कि व्यापक सार्वभौमिक नज़रिये से देखने-समझने के लिए प्रेरित हो रहा था। श्रीकांत वर्मा ने किसी अन्य लेखक के हवाले से डायरी की भूमिका में यह लिखा भी है- 'मुक्तिबोध की डायरी उस सत्य की खोज है जिसके आलोक में कवि अपने अनुभव को सार्वभौमिक अर्थ दे देता है।' आज़ादी के बाद लेखकों के चारों तरफ़ पैर पसारता विज्ञान था जो लेखक पर भी वैज्ञानिक आत्मसाक्षात्कार के लिए दबाव उत्पन्न करता था। उन्हें अपनी रचना प्रक्रिया को रहस्यवादी या भाषाशास्त्रीय ढंग से समझने के स्थान पर ज़्यादा वैज्ञानिक पद्धति से, जो मनोविज्ञान का सहारा ले सकती थी, चुनौती का सामना करना पड़ रहा था। दूसरी ओर, अंतरराष्ट्रीय स्तर पर नयी समीक्षा का असर था और वह मार्क्सवादी आलोचना पर भरपूर प्रहार कर रही थी। पर नयी समीक्षा की व्याप्ति केवल अमेरिकी विश्वविद्यालयों तक थी क्योंकि दुनिया के अधिकांश लेखकों के लिए अभी भी साहित्य का उपयोग जीवन-जगत से मनुष्य के जटिल रिश्तों को समझने के लिए था। इसलिए यह डायरी प्रकटतः नयी समीक्षा, साहित्य के रूपवादी आग्रहों या खोखले कलावाद के ख़िलाफ़ दस्तावेज़ की तरह है। फ़िजूल की बौद्धिक जुगाली से बचते हुए बहुत सृजनात्मक ढंग से उन्होंने इसके निबंध लिखे हैं। इसमें मुक्तिबोध लिखते भी हैं कि रचना और उससे जुड़े अनुभव

से व्यक्तित्व का निरंतर विस्तार होता रहता है और वह जीवन का नये ढंग से साक्षात्कार कराता है। ज़ाहिर है कि जब रचनाकार के व्यक्तित्व व समाज के संबंधों पर इतना ज़ोर मुक्तिबोध दे रहे थे, तो वे नयी समीक्षा की मान्यताओं को भी नकार रहे थे और उन रूपवादी-कलावादी प्रतिमानों को भी, जो मानते थे कि रचना के मूल्यांकन से सामाजिकता या सामाजिक जीवनस्थितियों के अध्ययन को अलग रखना चाहिए।

डायरी में मुक्तिबोध ने कथाशैलियों का अगर सहारा लिया है तो इसका कारण संभवतः यह है कि मुक्तिबोध के मन में उठने वाले तीव्र कल्पनाचित्र उन्हें सिद्धांतनिरूपण की शुष्क ज़मीन पर ज़्यादा देर तक टिकने नहीं देते थे। ऊपर से उनका घुमक्कड़ स्वभाव□जिस कारण उनके विचार किसी आरामदेह कमरे के भीतर नहीं बल्कि बाह्य जीवन से निरंतर घात-प्रतिघात व बहसों के संपर्क से ही पैदा होते थे। विचार जिस प्रक्रिया से पैदा होता है, वह अपनी अभिव्यक्ति के लिए वैसे ही शिल्प को चुनता है। शायद इसीलिए भक्त कवियों की कविता और रीतिकालीन कविता में बड़ा अंतर है। जहां किताबी ज्ञान को अनुभव से और अनुभव को किताबी सिद्धांत से प्रमाणित करने का आग्रह हो, वहां विचार का आख्यान शैली में बदल जाना ख़ास आश्चर्यजनक नहीं। डायरी में पहले ही निबंध 'तीसरा क्षण' की शुरुआत वे इस तरह करते हैं- 'आज से कोई बीस साल पहले की बात है। मेरा एक मित्र और मैं दोनों जंगल-जंगल घूमने जाया करते थे। पहाड़-पहाड़ चढ़ा करते, नदी पार किया करते।' यह एक क्लासिकल कथाशैली है जिसमें किसी पुरानी बात के स्मरण से कहानियां आरंभ हुआ करती थीं। कहानियां किसी इतिहास का आभास दिलाती थीं। प्रदत्त परिवेश, विचार या संवेदना को अतिक्रमित करने की मानसिकता की झलक भी मिल जाती है। मुक्तिबोध के आत्मसंघर्ष का मुख्यबिंदु भी थोपे गये सच और उस सच को पुष्ट करने वाले थोपे गये दृश्यों की भयावहता को उजागर कर उसे अतिक्रमित करता रहा है। इसलिए इस डायरी को केवल रचना प्रक्रिया के साक्षात्कार की तरह नहीं पढ़ा जा सकता है बल्कि जीवन के साथ कठोर मुठभेड़, सीधा सामना और उसके जख़्मों का दर्द झेलने की प्रक्रिया की तरह पढ़ा जा सकता है। नामवर सिंह ने डायरी पर लिखे निबंध 'एकालाप और संलाप' में लिखा है, 'कुछ लोगों को भ्रम है अथवा वे जानबूझकर भ्रम फैलाना चाहते हैं कि *एक साहित्यिक की डायरी* वस्तुतः रचनाप्रक्रिया की पाठ्यपुस्तक है। निःसंदेह इधर कुछ दिनों से हिंदी में रचना प्रक्रिया का बड़ा शोर है और हर रचनाकार नामधारी व्यक्ति अपनी रचनाप्रक्रिया समझाने में हलकान हो रहा है□भय है कि कहीं सारा लेखन रचनाप्रक्रिया ही न प्रतीत होने लगे। परंतु तथ्य यह है कि अज्ञेय, मुक्तिबोध, रघुवीर सहाय जैसे कुछ थोड़े से ही रचनाकार हैं जो सचमुच रचना प्रक्रिया की अर्थवत्ता से परिचित हैं, क्योंकि इन्हें ही रचनाप्रक्रिया में निहित जोख़िम का अनुभव भी है। इसलिए यह संकेत कर देना आवश्यक है कि *एक साहित्यिक की डायरी* एक व्यापक अर्थ में रचनाप्रक्रिया का ग्राफ़ चित्र भले हो, वस्तुतः वह उत्तरशती की जटिल जीवनप्रक्रिया का ही जीवंत दस्तावेज़ है।' इस प्रकार बकौल नामवर सिंह, *एक साहित्यिक की डायरी* वास्तव में रचनाप्रक्रिया नहीं बल्कि जीवनप्रक्रिया का जीवंत दस्तावेज़ है। इस बात से सहमत होते हुए भी यह तर्क पूरी तरह से ग़ायब या अप्रासंगिक नहीं हो जाता है कि मुक्तिबोध ने इसमें साहित्यलेखन के कुछ विशिष्ट प्रश्न गंभीरता से उठाये हैं और उन्हें साहित्य लेखन की प्रक्रिया के संदर्भ में ही जांचा जा सकता है। जीवनप्रक्रिया अपने में इतनी विराट, वैयक्तिक, अमूर्त और कभी-कभार इतनी अस्थिर चीज़ है कि उसे सामने रखकर साहित्य या रचना के ठोस प्रश्नों को गंभीरता से नहीं समझा जा सकता है। इसलिए यह डायरी रचनाप्रक्रिया और

जीवनप्रक्रिया, दोनों का ही एक समन्वित दस्तावेज़ है। इससे जीवन को छानकर अलग कर लेने या रचना को छानकर बाहर निकाल लेने की कोशिश का ख़ास मतलब नहीं है। मुक्तिबोध रचना और जीवन के सबसे सरल-सुगम मोर्चे पर लड़ने का अभिनय करने वाले नहीं बल्कि सबसे कठिन मोर्चे पर सचाई से लड़ने वाले योद्धा रहे हैं। जो इतने कठिन मोर्चों पर जूझ रहा हो, वह जीवन को सृजन के सहारे जीने और सृजन को ईमानदार जीवन के बल पर संभव बनाने की कला की निरंतर साधना न करे तो क्या करेगा!

डायरी में आत्मीय मित्र संवाद मौजूद हैं जिसमें किसी पात्र को सामने रखकर ही किसी साहित्यिक विषय पर चर्चा की जाती है। इसे डायरी कहा जा सकता है क्योंकि यह बहुत ही निजी प्रतीत होने वाले वार्तालाप की शैली में लिखी गयी है। कुछ चरित्र हैं जो मुक्तिबोध के ही व्यक्तित्व का अंग लगते हैं। वे समय के साथ असफल होते जाते हैं। उनकी विफलता भी मुक्तिबोधीय नियति है। अंग्रेज़ी व दूसरी विश्वभाषाओं में लेखकों के नाम पर बहुत से विशेषण शब्द बने हैं, मसलन डिकेंसियन, मिलटोनिक, काफ्काएस्क या प्राउस्तिय आदि। बताते हैं कि 'काफ्काएस्क' शब्द पश्चिम में पिछले साठ-सत्तर साल में इतनी बार प्रयोग किया गया है कि वह लोगों को अर्थहीन लगने लगा है। लोग इसका प्रयोग भयानक जनसंहार से लेकर मामूली क्लर्क की लापरवाही तक को जताने के लिए करते हैं। मुक्तिबोध के साहित्य को पढ़ते हुए बरबस लगता है कि 'मुक्तिबोधीय' या 'मुक्तिबोधीय नियति' शब्द को भी इस संसार की गहरी विडंबना को व्यक्त करने या ईमानदार लोगों की विफलताओं को प्रकट करने के लिए प्रयोग किया जाना चाहिए। डायरी में चेहरे पर सूखेपन को लिए, अनाशा की कालिख पोते ऐसे कई असफल चरित्र हैं जो पृथ्वी के अलग-अलग छोर पर सांस ले रहे हैं। पर यही चरित्र सबसे ज़्यादा विचार और सृजन की गर्माहट से भरे हुए हैं। लेखक इसमें स्वयं से बहस करते हुए भी समाज से बहस करता प्रतीत होता है। इस बहस में अपार धैर्य है। 'अत्यधिक इम्पल्स्विव, सहज उत्तेजित हो उठने वाला बेचैन आदमी' है जो शांत होकर अप्रिय धारणाओं को भी सुन रहा है ताकि किसी निष्कर्ष को मनमाने रूप में न तैयार किया जाये। पहले ही लेख 'तीसरा क्षण' में मुक्तिबोध ने कला के तीन क्षणों की चर्चा की है और उसमें मुख्य प्रश्न यह उठाया है कि किस प्रकार कला में अनुभव और अभिव्यक्ति का संबंध होता है। किस प्रकार से सौंदर्य की अनुभूति का क्षण और उसकी अभिव्यक्ति का क्षण एक-दूसरे को प्रभावित करते हुए भी काफी भिन्न होते हैं। मुक्तिबोध लिखते हैं : 'कला का पहला क्षण है जीवन का उत्कट तीव्र अनुभव-क्षण। दूसरा क्षण है इस अनुभव का अपने कसकते-दुखते हुए मूल से अलग हो जाना और एक ऐसी फैंटेसी का रूप धारण कर लेना मानो वह फ़ैंटेसी अपनी आंखों के सामने खड़ी हो। तीसरा और अंतिम क्षण है इस फ़ैंटेसी के शब्दबद्ध होने की प्रक्रिया का प्रारंभ और उस प्रक्रिया की परिपूर्णावस्था तक की गतिमानता।' इस लेख में मुक्तिबोध ने बार-बार फ़ैंटेसी शब्द का प्रयोग किया है, पर इससे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि फ़ैंटेसी ही उनकी रचना या काव्यचिंता के केंद्र में है। फ़ैंटेसी शब्द का प्रयोग उन्होंने कल्पना चित्र के समानार्थक रूप में किया है। फ़ैंटेसी से उनका अर्थ मन में विभिन्न अनुभूत घटनाओं के बारे में स्वतंत्र रूप से बिंब तैयार करने से भी है। इसी प्रकार काव्य को वे निर्वैयक्तिक सृजन भी मानते थे, जिसमें कोई रचनाकार केवल वैयक्तिक अनुभव नहीं बल्कि बहुत सारी सामाजिक अनुभूतियों और वस्तुगत सत्य के साथ तादात्म्य स्थापित करता है। वह मन के भाव को कविता में सीधे नहीं दिखाता बल्कि उसमें बहुत सारे कांट-छांट और बदलाव कर उसे व्यक्त करता है। मुक्तिबोध के

पूरे लेखन में दो केंद्रीय चिंताएं हैं। पहली तो यह कि लेखकीय मस्तिष्क में समाज के बारे में सही ढंग से सोचने का प्रयास होना चाहिए। लेखक की संवेदना पर यह बड़ी ज़िम्मेदारी हमेशा रहेगी कि वह उस संवेदना के सहारे अपनी सामाजिक तथा वैश्विक दृष्टि को वैज्ञानिक आधार पर प्रतिष्ठित करे। दूसरी यह कि लेखक जब किसी विषय को रचना में व्यक्त करे, तो वह अभिव्यक्ति केवल उसकी निजता की नहीं बल्कि प्रातिनिधिक ढंग से पूरे सामाजिक परिवेश की अभिव्यक्ति होनी चाहिए। ऐसा करते हुए वे व्यक्तित्व का विघटन नहीं करते हैं बल्कि व्यक्तित्व को समाज के निकट ले जाने का प्रयास करते हैं। वे व्यक्तित्व का भी विषयवस्तु की तरह अध्ययन करते हैं और उसकी विविध प्रतिक्रियाओं को रचना में व्यक्त करते हैं ताकि उस व्यक्तित्व के माध्यम से ही समाज की ढेरों पीड़ाओं, भय, संत्रास, संशय आदि के चित्र उपस्थित हो जायें। मुक्तिबोध की इस रचनाप्रक्रिया को न समझ पाने के कारण ही रामविलास शर्मा ने उन्हें हड़बड़ी में निजता और अस्तित्व की चिंता का रचनाकार समझ लिया और उनमें अस्तित्ववाद के लक्षणों को देख लिया। उन्हें यह नहीं दिखा कि वे मध्यवर्गीय व्यक्तित्व की सीमाओं को दिखाने के लिए उस व्यक्तित्व को खुलकर कहानी-कविता में व्यक्त होने दे रहे हैं ताकि व्यक्तित्व-रूपांतरण के लक्ष्य को प्राप्त किया जा सके। व्यक्तित्व रूपांतरण को वे कला के तीन क्षणों में भी ढूंढते हैं। जैसे कि व्यक्तिगत अनुभव के बाद उससे स्वतंत्र हो जाने वाली फ़ैंटेसी की वे कला के दूसरे क्षण के रूप में चर्चा करते हैं तो फ़ैंटेसी को शब्दबद्ध करते समय निजी और ममेतर अनुभवों को समेटने का वे तीसरे क्षण के रूप में उल्लेख करते हैं। अनुभव करने वाला व्यक्तित्व रूपांतरित होकर सर्जक के व्यक्तित्व में बदल जाता है। निजीपन में जो अनुभूति वह हासिल करता है, उसे कला या काव्य में वह व्यक्त करते समय रूपांतरित होता रहता है। इस प्रकार व्यक्तित्व रूपांतरण की चर्चा मुक्तिबोध केवल सामाजिक जीवन के संदर्भ में नहीं बल्कि रचनाप्रक्रिया के संदर्भ में भी करते हैं। मुक्तिबोध के रचनात्मक अनुभव को कविता तक पहुंचाने की पूरी समझदारी इन शब्दों में निहित है : 'कला के तीसरे क्षण में सृजन-प्रक्रिया ज़ोरों से गतिमान होती है। कलाकार को शब्द-साधना द्वारा नये-नये अर्थ-स्वप्न मिलने लगते हैं। पुरानी फ़ैंटेसी अब अधिक संपन्न, समृद्ध और सार्वजनीन हो जाती है। यह सार्वजनीनता, अभिव्यक्ति-प्रयत्न के दौरान शब्दों के अर्थ-स्पंदन के द्वारा पैदा होती है। अर्थ-स्पंदन के पीछे सार्वजनिक सामाजिक अनुभवों की परंपरा होती है। इसलिए अर्थ-परंपराएं न केवल मूल फ़ैंटेसी को काट देती हैं, तराशती हैं, रंग चढ़ा देती हैं, नये भावों के प्रवाह से उसे संपन्न करती हैं, उसके अर्थ-क्षेत्र का विस्तार कर देती हैं।' मुक्तिबोध यह लिखकर रचनाशीलता को केवल निजी भावावेग या निजी ईमानदारी का परिणाम बताने वाली मान्यताओं को झिंझोड़ रहे थे। उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि लेखक की निजी अनुभूति दूसरी अन्य चीज़ों जैसे सामाजिक भाषा, सामाजिक फ़ैंटेसी और सामाजिक अर्थों के कारण अपनी अभिव्यक्ति में दूसरा ही रूप ले लेती है। लेखक भले निजी अभिव्यक्ति माने, पर उसकी सफलता तभी है जब वह व्यक्तित्व विस्तार के कारण कई भाव-सत्यों का साक्षात्कार कराने में समर्थ हो। सुनने में अगर ये बातें जटिल लगें तो फ़ैज़ के उस पुराने शेर को याद कर लेना चाहिए- दिल में तो हर मुआमला करके चले थे साफ हम/ कहने में उनके सामने बात बदल-बदल गयी।

मुक्तिबोध के यहां फ़ैंटेसी के ज़रिये भाषा का निर्माण, विचार के ज़रिये व्यक्तित्व का निर्माण और बुद्धि के ज़रिये हृदय का निर्माण करने की जो चेष्टाएं हैं, सर्वत्र उनके लेखन में भी बिखरी हुई हैं। उनकी डायरी में 'कलाकार की व्यक्तिगत ईमानदारी' नाम से दो लेख संकलित हैं। इन लेखों में मुक्तिबोध ने

व्यक्तिगत ईमानदारी को रचना के केंद्र में स्थापित करने के प्रयोगवाद और नयी कविता के प्रयासों को खंडित कर दिया है। इन दोनों लेखों को पढ़ने से लगता है कि न तो उन्हें व्यक्तिगत भावों की अभिव्यक्ति से दिक़्क़त थी, न ईमानदारी से। उनके सामने प्रमुख समस्या थी कि व्यक्तिगत ईमानदारी की आड़ में ऐसा व्यक्तिवाद साहित्य में अपना प्रसार कर रहा था जो किसी भी तरह के दायित्व को नकारता था। इसका परिणाम यह हो सकता था कि साहित्य केवल वैयक्तिक भावनाओं तक सीमित रह जाता और बड़ी वैश्विक दृष्टि का उसमें आज़ादी के आसपास जो विकास हो रहा था, वह विकास रुक जाता। यह एक प्रकार से सामाजिक दृष्टि के विकास को रोकने का प्रयास कर रहे व्यक्तिवाद पर हमला था। इसमें एक चरित्र है यशराज। वह बीटेक और एलएलबी की पढ़ाई के बावजूद बेरोज़गार है और उसके चेहरे पर शनीचरी छायी रहती है। वह डायरी को पढ़कर उसे फ्रॉड बताता है क्योंकि उसका मत है कि ईमानदारी से साहित्य या कविता का भला नहीं होता है। व्यक्तिगत ईमानदारी अगर केवल निजी घर-संसार तक सीमित रहे, तब वह आत्मघाती नहीं होती है। लेकिन जब वह बड़े सामाजिक जीवन और विज़न को आत्मसात कर लेती है, तब लेखक को जोख़िम की ओर धकेलती है। इस वैचारिक ईमानदारी ने मुक्तिबोध के जीवन को हमेशा एक तपती, झुलसती ज़मीन पर चलने के लिए विवश कर दिया, उन्हें अस्त-व्यस्त भी रखा। उन्हें न जाने कितनी नौकरियों, कितने स्थानों और कितनी भीतरी आंतरिक यात्राओं की ओर बढ़ने के लिए आत्मघाती ढंग से प्रेरित किया। जब प्रतिभा को अभावों का सामना करना पड़ता है तो वह अत्यंत आत्मसजग हो जाती है। आत्मसजगता अनियंत्रित हो जाये तो वह मानव को कमज़ोर, निर्बल बना देती है। पर अगर वह ठीक ढंग से, विवेकसंगत तरीक़े से सक्रिय है तो उसी से गहरा बौद्धिक अनुशासन पैदा होने लगता है और ऐसी आत्मसजगता मन की प्रत्येक अनुभूति, संवेदना और भाव को जीने के स्थान पर उसे विचार में बदलने की चेष्टा करती है। यहीं से एक चिंतक के जन्म का आरंभ होता है जो प्रतिभा की पूंजी से आगे बढ़ता है। अक्सर ऐसी प्रतिभा के भीतर ज़िद भी पैदा हो जाती है कि जो प्रत्यक्ष बाहरी संसार उसे क़दम-क़दम पर धोखा दे रहा है, उसकी सारी गुत्थियों को वह चिंतन के स्तर पर सुलझाकर उसे परास्त कर देगा। वह उस बहादुर मांझी की तरह होता है जो हर लहर पर हंसता है और पूरे समुद्र का अंश समझकर उसकी लघुता को पहचानना चाहता है। नतीजा यह होता है कि विभिन्न वैचारिकियों के माध्यम से संसार की गुत्थियां सुलझाते हुए मुक्तिबोध जैसा रचनाकार उस संसार से जीत तो जाता है पर यह जीत उसे ज़्यादा बड़े अलगाव की ओर धकेल देती है। अलगाव को आम इंसान या श्रमिक के लिए भले बुरा माना जाता हो, वह रचनाकार के लिए वरदान होता है। अपने अलगाव को वह अपने सबसे उर्वर सृजनात्मक पलों में बदल देता है। इसलिए कई बार ऐसा लगता है कि मुक्तिबोध बहुत सचेत ढंग से अलगाव की खोज करने वाले रचनाकार हैं। उनके काव्यबिंब, काव्यभाषा और प्रतीक सभी में व्यक्त अलगाव वास्तव में उसी खोज का परिचायक है, उसका परिणाम भी। अलगाव के बिंदु पर खड़े होकर ज़्यादा आसानी से वे उस संसार की सचाई को समझ सकते थे जो संसार उन्हें उसकी स्थूल बनावट और चलताऊपन के कारण कभी प्रिय नहीं था। इसीलिए वह व्यक्तिगत ईमानदारी को ख़ुद पर मुग्ध रहने वाली आदत से बाहर लाना चाहते थे। उन्हें डर था कि कहीं लेखक ऐसी व्यक्तिगत ईमानदारी के फेर में पड़कर समाज में चारों ओर बिखरे सत्य को भी नकारने न लग जाये। 'कलाकार की व्यक्तिगत ईमानदारी' में उनका एक चरित्र यशराज कहता भी है : 'व्यक्तिगत ईमानदारी वह है जहां लेखक वस्तु की सही मानसिक प्रतिक्रिया करे। यदि वह ऐसा नहीं करता है तो

सत्यत्व का आविर्भाव नहीं होगा।' कुल मिलाकर जीवन जगत के व्यापक बोध के बग़ैर ख़ुद पर इतराने वाली, दूसरे पर रौब डालने वाली या बेवजह ऐंठने वाली व्यक्तिगत ईमानदारी से मुक्तिबोध सहमत न थे, बावजूद इस तथ्य के कि मुक्तिबोध स्वातंत्र्योत्तर भारत के सबसे ईमानदार लेखक थे। आज के राजनीतिक माहौल में सबसे फ़ासिस्ट, सबसे अत्याचारी और सांप्रदायिक लोग सबसे ईमानदार चेहरे की तरह सामने आ रहे हैं तो यह वही ख़तरा था जिसे मुक्तिबोध भांप रहे थे। ख़तरा यह कि निजी ईमानदारी एक फ़ैशन, विज्ञापन या फिर छद्म बनकर रह जायेगी और समाज में अत्याचार बढ़ते चले जायेंगे। काव्य और जीवन, दोनों ही वस्तु-सत्य से दूर चले जायेंगे और केवल दर्प से भरी भावना ईमानदारी के नाम पर हावी हो जायेगी जो जनता को ठगेगी, उसका शोषण करेगी। ऐसे में साहित्य और समाज, दोनों ही फ़ासिस्टों के हाथ की कठपुतली बन सकते हैं।

मुक्तिबोध के पूरे सृजन में 'गरवीली ग़रीबी' की छाया है। विवेक में जग में लगातार घूमती 'परम अभिव्यक्ति' है। कल्पना में मठों-गढ़ों का विध्वंस है। संकल्प में 'व्यभिचारी का बिस्तर' बनने से सहज इनकार है। इस प्रकार मुकम्मल जीवन-विवेक और विश्वदृष्टि वाले मुक्तिबोध अपनी डायरी में किसी सत्य को खोज लेने का दंभ प्रकट करने वाले लेखक के रूप में नहीं बल्कि सत्य के लिए खुली बहस करने वाले विचारक के रूप में सामने आते हैं। उनकी डायरी किसी अकाट्य सत्य का प्रतिपादन करने वाली पुस्तक नहीं बल्कि सत्य को मित्रतापूर्ण संवादों से प्राप्त करने की प्रक्रिया को गौरवान्वित करने वाली पुस्तक है।

फोन : 9711312374

मुक्तिबोध और हिंदी आलोचना : एक नीच ट्रेजेडी

कवितेन्द्र इन्दु

मुक्तिबोध को रामविलास शर्मा ने भी याद किया था और नामवर सिंह ने भी। अब जन्म शताब्दी वर्ष में हम भी उन्हें याद कर रहे हैं। अपनी विरासत को याद रखने, उनसे आयद ज़िम्मेदारियों और संघर्षों को आगे बढ़ाने और खुद इस विरासत के पुनर्मूल्यांकन के अवसर के तौर पर जन्म शताब्दी वर्ष मनाये जाने की उपयोगिता से मैं भी आश्वस्त हूं। लेकिन पिछले कुछ वर्षों में कई लेखकों की जन्म शताब्दियां मना लेने के बाद हिंदी जगत में कुछ बदला है - इस बात को लेकर मैं ज़रा भी आश्वस्त नहीं हूं। यह आयोजन हिंदुओं के उन त्योहारों जैसे कर्मकांड बन गये हैं, जिनमें अवसर विशेष के अनुसार अलग-अलग देवताओं की पूजा की जाती है। जिस लेखक का जन्म शताब्दी वर्ष हो उसका अतिरंजित प्रशस्ति गान करके उसे पूजा की मूर्ति बना देना इन आयोजनों की विशेषता है। प्रासंगिकता के दबाव में ऐसे अवसरों पर भक्ति भावना और पिष्टपेषण से भरा हुआ लेखकीय कचरा इतनी प्रभूत मात्रा में पैदा किया जाता है, जिसमें सार्थक लेखन खो जाने के लिए अभिशप्त होता है। क्या हम मुक्तिबोध को भी इसी कर्मकांड का हिस्सा बनाने के लिए उन्हें याद कर रहे हैं? अगर नहीं, तो हमें तय करना होगा कि मुक्तिबोध को क्यों याद करें और कैसे याद करें! फिर हमें यह भी देखना चाहिए कि पहले मुक्तिबोध को क्यों और कैसे याद किया गया था!

ये बातें इसलिए ज़रूरी हैं कि अभी 2012 में रामविलास शर्मा की जन्म शताब्दी मनायी गयी थी और तब उनके मुक्तिबोध संबंधी मूल्यांकन पर चुप्पी ओढ़ ली गयी थी। अब वही सारे लोग मुक्तिबोध की वंदना करेंगे और इस अंतर्विरोध को बड़ी आसानी से पचा जायेंगे। यह नहीं भूलना चाहिए कि मुक्तिबोध हमेशा से प्रसिद्ध नहीं थे। अभाव और उपेक्षा भरा जैसा जीवन मुक्तिबोध ने जिया उसी में वे मर भी गये लेकिन मरते-मरते अचानक वे प्रसिद्ध हो उठे। हरिशंकर परसाई और कुछ अन्य मित्रों के प्रयासों से जब अख़बारों में हो-हल्ला मचा और भोपाल के मुख्यमंत्री ने मुक्तिबोध के इलाज में दिलचस्पी दिखायी तब हिंदी वालों का अपराधबोध जाग उठा। मुक्तिबोध अचानक वंदनीय हो उठे। संघर्षशील पीढ़ी के लेखकों को उनमें अपना आइकन नज़र आने लगा।

इस लोकप्रियता ने जहां कुछ आलोचकों के मन में एक 'अनाथ' लेखक को हथियाकर अपने प्रोजेक्ट में इस्तेमाल कर लेने की ललक पैदा की, वहीं कुछ दूसरे आलोचकों को इसमें गहरा षड्यंत्र नज़र आया। डॉ. रामविलास शर्मा ने इस पूरे घटना क्रम को इस रूप में चित्रित किया : 'नयी कविता का आंदोलन प्रगतिशील साहित्य के विरोध में चलाया गया था, इसमें संदेह की गुंजाइश नहीं है। व्यक्तिमूल्य का नारा

लगाकर इसने जनवादी आंदोलनों का विरोध किया पर दस साल से भी कम समय में नयी कविता की धारा मूल्यहीनता के रेगिस्तान में खो गयी। इस समय मुक्तिबोध की बीमारी और मृत्यु से नयी कविता में नयी जान डालने के लिए उसके सूत्रधारों को नया हीरो-कवि मिल गया। केदारनाथ अग्रवाल और नागार्जुन को पीछे ठेलकर उनकी जगह मुक्तिबोध को प्रतिष्ठित करने का जो संगठित प्रयास सन 64 से आरंभ हुआ, उससे हिंदी कविता की यथार्थवादी धारा को भारी क्षति पहुंची।' (*नयी कविता और अस्तित्ववाद* , राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1997, दूसरे संस्करण की भूमिका) मुक्तिबोध को 'हीरो' बनाकर यथार्थवादी धारा को जो 'भारी क्षति' पहुंचायी जा रही थी उसकी क्षतिपूर्ति के लिए रामविलासजी ने उन्हें खलनायक के रूप में साबित करने का बीड़ा उठाया।

मुक्तिबोध को ध्वस्त करने के लिए रामविलासजी ने जो पद्धति अपनायी उसका विस्तृत विश्लेषण करने का अवकाश यहां नहीं है, लेकिन उसकी चर्चा इसलिए ज़रूरी है क्योंकि हिंदी में इस पद्धति को बड़ी व्यापकता से स्वीकृति मिली हुई है। यह पद्धति कविता को कवि की पर्सनल डायरी की तरह पढ़ती है। कवि को नैरेटर से अभिन्न मानना और कविता के पूर्वाग्रहपूर्ण ढंग से चुने गये कुछ अंशों के आधार पर कवि के चरित्र और विचारधारा का निर्णय करना इस पद्धति की मूलभूत विशेषता है। 'मुक्तिबोध का आत्मसंघर्ष और उनकी कविता' शीर्षक लेख में रामविलासजी ने मुक्तिबोध के काव्य-नायकों को मुक्तिबोध का पर्याय बताया और उनकी कविता में आये प्रतीकों की मनमानी व्याख्या करते हुए मुक्तिबोध को मार्क्सवाद, रहस्यवाद, मनोविश्लेषणवाद और अस्तित्ववाद के समन्वय की असफल कोशिश करने का दोषी ठहराया। (देखें, *नयी कविता और अस्तित्ववाद* में 'मुक्तिबोध का आत्मसंघर्ष और उनकी कविता' शीर्षक लेख)। लेकिन वे यहीं तक नहीं रुके। *कविता के नये प्रतिमान* के दूसरे संस्करण में जब नामवर सिंह ने 'अंधेरे में' कविता के बारे में अपने निष्कर्षों को ज़ोर देकर दोहराया तो रामविलासजी ने भी जवाबी हमला करते हुए अट्ठासी पृष्ठों में मुक्तिबोध का 'पुनर्मूल्यांकन' पेश किया। पहले 'मूल्यांकन' में तो उन्होंने मुक्तिबोध के काव्य में कुछ सकारात्मक तत्वों का भी उल्लेख किया था, 'पुनर्मूल्यांकन' में वे तत्व भी ग़ायब हो गये। इस निबंध में उन्होंने कई बार इस बात को ज़ोरदार शब्दों में दोहराया कि मुक्तिबोध को उनके काव्य नायकों से अलग करके नहीं देखा जा सकता। बानगी के लिए देखें : 'मुक्तिबोध को अंधेरे में कविता के नायक से अलग करके देखना असंभव है' (वही, पृष्ठ 219)। 'मुक्तिबोध की कविताओं को उनके व्यक्तित्व से अलग रख कर देखना संभव नहीं है।' (वही, पृष्ठ 223) और 'मुक्तिबोध को उनकी कविताओं से अलग करके देखना संभव नहीं है। वह मूलतः अपने ही संघर्ष को, अपने अनुभवों की समस्याओं को, अपनी कविता में चित्रित करते हैं' (वही, पृष्ठ 253-54)। यों तो इस पद्धति का इस्तेमाल रामविलासजी ने अपनी आलोचना में सर्वत्र किया है, लेकिन इस पद्धति की परिणतियां कितनी भयावह हो सकती हैं यह लेख इसका क्लासिकल उदाहरण है। मुक्तिबोध की कविता में आयी 'सूर्य-कन्या' का संबंध उनकी पोलिश कवि-मित्र अग्नेश्का से जोड़ते हुए रामविलासजी ने निष्कर्ष निकाला कि 'मुक्तिबोध को एक प्रेमिका की सख़्त ज़रूरत थी।' मुक्तिबोध के मन में 'सौंदर्य की भूख काफ़ी पुरानी थी'। विश्वमानव के सुख-दुख के साथ इस 'पुरानी भूख' के संघर्ष से होने वाली उलझन उनके आत्मसंघर्ष की एक बड़ी वजह थी। (वही, पृष्ठ 240) जिस मनोविश्लेषणवाद के साथ मार्क्सवाद का समन्वय करने का दोषी रोमविलासजी ने मुक्तिबोध को ठहराया था, उसी मनोविश्लेषणवाद का इस्तेमाल करते हुए उन्होंने मुक्तिबोध को 'असामान्य मानसिक स्थिति' और 'विभाजित व्यक्तित्व'

की समस्या से ग्रस्त घोषित कर दिया। असामान्य मनोविज्ञान की एक किताब के हवाले से उन्होंने मुक्तिबोध के रोग को भी ठीक-ठीक पहचान लिया - मुक्तिबोध 'सीज़ोफ्रेनिया' के शिकार थे। उक्त किताब में बताये गये 'ऑडिटरी हैलुसिनेशन' समेत सीज़ोफ्रेनिया के कई लक्षण रामविलासजी ने मुक्तिबोध की कविताओं में आये विचित्र और भयावह वर्णनों में खोज निकाले।

संभव है कि रामविलासजी ने मुक्तिबोध के रोग को बिल्कुल ठीक पहचाना हो। मुमकिन है कि भोपाल और दिल्ली के डॉक्टरों से मुक्तिबोध का इलाज कराना एक बड़ी ग़लती रही हो, उन्हें डॉक्टर रामविलास शर्मा को दिखाया जाना चाहिए था। लेकिन उनके गुज़र जाने के बाद इस खोज का उनकी कविताओं के मूल्यांकन में क्या योगदान हो सकता है? वास्तव में यह खोज निरर्थक नहीं है, इसका मुक्तिबोध की कविताओं के मूल्यांकन से सीधा संबंध है। अगर मुक्तिबोध सीज़ोफ्रेनिया के मरीज़ थे और उनकी कविताएं इसका प्रमाण हैं, तो फिर इन कविताओं का साहित्यिक मूल्य क्या है? उत्तर स्पष्ट है, एक विक्षिप्त व्यक्ति के भ्रामक प्रलाप का कोई साहित्यिक मूल्य नहीं होता - मुक्तिबोध की कविताओं का भी नहीं है! ऐसा नहीं सोचना चाहिए कि रामविलासजी की इस आलोचना को किसी ने गंभीरता से नहीं लिया होगा। नंदकिशोर नवल और शिवकुमार मिश्र जैसे नामचीन आलोचक उस ज़माने में इस मूल्यांकन के पक्ष में खड़े थे। अलबत्ता उस ज़माने के प्रचलित 'मार्क्सवादी' आग्रहों के दायरे में रहते हुए चंचल चौहान ने 'डा. रामविलास शर्मा और मुक्तिबोध का पुनर्मूल्यांकन' शीर्षक लेख में फ्रायड के 'अतार्किक/अवैज्ञानिक' औजारों से कवि का व्यक्तित्व विश्लेषण करने की पद्धति पर ज़ोरदार आपत्ति जताने के साथ-साथ मार्क्सवादी आलोचना का दायित्व याद दिलाते हुए यह महत्वपूर्ण सवाल भी उठाया कि अगर 'किसी कविता का काव्यनायक स्वयं कवि हो भी, तो क्या मार्क्सवादी समीक्षक का काम कवि के सतही व्यक्तित्व को, उसकी दर्पण-आभा देखना होता है या उसकी कृति में व्यक्त सामाजिक चेतना को विश्लेषित-संश्लेषित करना और रचना के वर्गीय अंतर्निहित रुझान को देखना-परखना?' (*मुक्तिबोध के प्रतीक और बिंब*, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1997, पृष्ठ 149) इसके बावजूद चंचल चौहान अपने लेख में मुक्तिबोध के 'तर्कसंगत गद्य' की दुहाई देते हुए मुक्तिबोध को मानसिक रूप से स्वस्थ साबित करने की जद्दोजहद से गुज़रते हैं। मुक्तिबोध पर लगाये गये अस्तित्ववाद और रहस्यवाद के आरोपों की सफ़ाई पेश करते हुए जब वे यह कहते हैं कि केवल 'मुक्तिबोध ही अपने समय में मार्क्सवादी विश्वदृष्टि को सही रूप में सांस्कृतिक स्तर पर प्रतिफलित कर सके' (वही, पृष्ठ 159), तो स्पष्ट लगता है कि प्रतिमानों के स्तर पर वे रामविलास जी से अलग नहीं हैं और उन्हें ही मार्गदर्शक मानते हुए वे सिर्फ़ मुक्तिबोध के मूल्यांकन संबंधी उनके 'भटकाव' से असहमति दर्ज कर रहे हैं।[1]

निस्संदेह, रामविलासजी की पद्धति और प्रतिमानों का मूलगामी पुनर्मूल्यांकन किये बग़ैर मुक्तिबोध की पूजा करना हिंदी साहित्य के मुर्दा देवताओं की क़तार में मुक्तिबोध की एक नख-दंत-विहीन मूर्ति स्थापित करने का पाखंड है, जिससे यथास्थिति को बनाये रखने में और मदद मिलेगी। कुछ सदाशय

1. कवितेंद्र का यह कथन सत्य पर आधारित नहीं है क्योंकि रामविलास जी पर उनकी टिप्पणी चंचल चौहान के ही उस लेख की संक्षिप्त छाया अनुकृति है जिसका वे उल्लेख कर रहे हैं! तब तो कवितेंद्र खुद भी 'प्रतिमानों के स्तर पर रामविलास जी से अलग नहीं' कहे जायेंगे! वैसे 'यही सिद्ध करना है' वाली कवितेंद्र की पद्धति रामविलास जी की ही नक़ल है। उन्हें शायद पता नहीं कि मुक्तिबोध और निराला के संदर्भ में रामविलासजी की पद्धति और प्रतिमानों का मूलगामी पुनर्मूल्यांकन सबसे पहले चंचल चौहान ने ही किया है□**संपादक**

लोग यह नेक सलाह देते हैं कि हमें पूर्वजों की नकारात्मक बातों को भुलाकर उनकी सकारात्मक उपलब्धियों पर ध्यान केंद्रित करना चाहिए। लेकिन ऐसा कहने वाले लोग यह नहीं जानते कि रामविलासजी की सकारात्मक आलोचना भी इसी पद्धति की उपज है। निराला की कविताओं को भी उन्होंने उनके निजी दस्तावेज़ों के तौर पर ही पढ़ा है। फ़र्क़ बस इतना है कि निराला उनके प्रिय कवि हैं इसीलिए व्याख्या बदल गयी है, अन्यथा वे चाहते तो असामान्य मनोविज्ञान की उस किताब का इस्तेमाल निराला के लिए भी कर सकते थे।

जिन हालात ने मुक्तिबोध को प्रसिद्ध बनाया, उन्हीं ने उनकी भावी विडंबना की कहानी भी रच दी। पठन-पाठन और मूल्यांकन के क्रम में किसी लेखक को जो प्रसिद्धि प्राप्त होती है, उससे कहीं अधिक प्रसिद्धि मुक्तिबोध को उनकी दारुण मौत ने प्रदान कर दी। मुक्तिबोध आइकन बन गये लेकिन उनके मूल्यांकन का काम स्थगित हो गया। मुक्तिबोध की विडंबना यह नहीं है कि रामविलासजी ने उनके ऊपर अमर्यादित हमले किये, बल्कि उनकी विडंबना यह है कि उन्हें अपना हीरो मानने वाले प्रशंसकों ने उनका वस्तुगत मूल्यांकन करने की ज़रूरत नहीं समझी। मुक्तिबोध संभवतः हिंदी के अकेले ऐसे लेखक हैं जिन्हें सराहा बहुत ज़्यादा गया, पढ़ा बहुत कम गया और समझा उससे भी कम गया। अन्यथा क्या वजह है कि जब भी मुक्तिबोध की चर्चा होती है तो वह कुल मिला-जुला कर 'अंधेरे में' समेत तीन-चार कविताओं तक सीमित रहती है? क्या वजह है कि मुक्तिबोध की कहानियों की कोई चर्चा नहीं होती जबकि उनकी *रचनावली* का एक खंड कहानियों का ही है, जिसमें 'क्लाड इथरली' जैसी अविस्मरणीय कहानी के अलावा 'अंधेरे में' और 'ब्रह्मराक्षस का शिष्य' समेत 25 कहानियां और (उससे भी अधिक अपूर्ण कहानियां) संग्रहीत हैं? इसमें कोई हैरानी की बात नहीं कि मुक्तिबोध के नाम का जाप करने वालों के पास उनका महत्व बताने के लिए कुछ काव्य पंक्तियों और आत्मसंघर्ष, ज्ञानात्मक संवेदन, संवेदनात्मक ज्ञान तथा काव्य भाषा जैसे गोल-मटोल जुमलों के अलावा और कुछ भी नहीं है। इन जुमलों का इस्तेमाल भी वे अक्सर मुक्तिबोध के प्रसंग में ही किया करते हैं। साहित्य के विश्लेषण में इससे उन्हें कोई अंतर्दृष्टि नहीं प्राप्त होती।

मुक्तिबोध के साथ सबसे भीषण विडंबना आलोचना के क्षेत्र में घटित हुई। यह बात ग़ौरतलब है कि मृत्यु के बाद जब डेढ़ दशक तक मुक्तिबोध हिंदी की साहित्यिक दुनिया में प्रासंगिक बने हुए थे, उस बीच कुछ विद्वानों को मुक्तिबोध का आलोचनात्मक लेखन भी बहुत महत्वपूर्ण नज़र आया। उदाहरण के लिए जिस समय मुक्तिबोध अखिल भारतीय आयुर्विज्ञान संस्थान में अचेत पड़े हुए थे उस समय नामवरजी ने काफ़ी त्वरित गति से बाज़ार में आने से पहले *एक साहित्यिक की डायरी* की समीक्षा 'कचाई' की परवाह किये बिना तैयार कर दी। समीक्षा के आख़िरी वाक्य इस प्रकार हैं : 'साहित्य की व्याख्या करने वाली पुस्तकें तो बहुत हैं किंतु साहित्य की धारा को बदलने वाली विचारोत्तेजक पुस्तकें एकाधिक दशक बाद आती हैं और मुझे लगता है कि मुक्तिबोध की यह *डायरी* एक ऐसी ही क्रांतिकारी कृति है विशेषतया नवलेखन के लिए।' (*वाद विवाद संवाद,* राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2007, पृष्ठ 18) और डेढ़ दशक बाद मुक्तिबोध के आलोचनात्मक संघर्ष का जायज़ा लेते हुए मैनेजर पांडे ने लिखा 'मुक्तिबोध ने अपने आलोचनात्मक संघर्ष के दौरान ही रचना और आलोचना से संबंधित विभिन्न समस्याओं के बारे में जो महत्वपूर्ण और मौलिक चिंतन किया है उसके आधार पर पर वह आचार्य रामचंद्र शुक्ल के बाद हिंदी के सबसे बड़े साहित्य विचारक सिद्ध होते हैं। उनके साहित्य चिंतन से हिंदी के

मार्क्सवादी साहित्यशास्त्र और सौंदर्यशास्त्र के विकास का मार्ग प्रशस्त हुआ है।' (*शब्द और कर्म*, धरती प्रकाशन, बीकानेर, 1981, पृष्ठ 146) यह बात दीगर है कि उक्त दोनों लेखों से न तो मुक्तिबोध की क्रांतिकारिता का पता चलता है और न ही उनका 'साहित्य विचारक' रूप उभरता है, लेकिन अगर इन बातों में प्रशस्तिवाचन के अलावा कुछ सच्चाई भी है तो क्या मुक्तिबोध को उनका प्राप्य मिल सका? क्या उन्हें एक मौलिक आलोचक के रूप में स्वीकृति मिली?

हैरान करने वाली बात यह है कि हिंदी जगत में मुक्तिबोध का आलोचनात्मक लेखन उनकी कहानियों की तरह विस्मृत या अज्ञात नहीं है। जहां *कामायनी एक पुनर्विचार* और *एक साहित्यिक की डायरी* हिंदी आलोचना की प्रशंसित किताबें हैं; वहीं 'मध्ययुगीन भक्ति आंदोलन का एक पहलू' शीर्षक निबंध को भक्ति आंदोलन संबंधी लेखन में मील के पत्थर की हैसियत मिली हुई है; इसके अलावा जब भी साहित्य की क्लिष्टता बनाम सार्थकता का द्वंद्व उभरता है तो सबसे पहले 'जनता का साहित्य किसे कहते हैं' पर ही ध्यान जाता है और यदा-कदा 'समीक्षा की समस्याएं' शीर्षक उनके लंबे निबंध का भी ज़िक्र हो ही जाया करता है। दूसरी तरफ़ मुक्तिबोध द्वारा प्रस्तुत आलोचनात्मक पदों को भी हिंदी में स्वीकृति मिली हुई है। 'सभ्यता समीक्षा', 'आत्मसंघर्ष', 'रचना प्रक्रिया', 'संवेदनात्मक ज्ञान', 'फ़ैंटेसी', 'कलाकार की व्यक्तिगत ईमानदारी' इत्यादि पद मौलिक अवधारणाओं के लिहाज से अतिशय दरिद्र हिंदी आलोचना के चमकते हुए रत्न की तरह हैं (यह बात दीगर है कि इन रत्नों की याद लोगों को अक्सर मुक्तिबोध के प्रसंग में ही आती है)। 'फ़ैंटेसी' को तो अब विश्वविद्यालयों के साहित्य चिंतन संबंधी प्रश्नपत्र के 'सिलेबस' में भी जगह मिल चुकी है। इतना सब कुछ होने पर भी मुक्तिबोध को एक आलोचक के तौर पर देखा ही नहीं जाता। इस अंतर्विरोध की वजह क्या है?

हिंदी आलोचना में मुक्तिबोध के प्रति मौजूद उपयोगितावादी रवैया इस अंतर्विरोध की एक बड़ी वजह है। एक आइकन के रूप में मुक्तिबोध अभी भी उपयोगी हैं। उनके निष्कर्ष दूसरे आलोचकों से बहुत अलग हैं और जब अपने पक्ष में इन निष्कर्षों की ज़रूरत पड़ती है, तब मुक्तिबोध की याद ठीक वैसे ही आ जाती है जैसे सुनसान अंधेरे में 'हिंदू' लोगों को 'संकटमोचन' की याद आती है। उदाहरण के लिए, जब किसी लेखक पर क्लिष्टता का आरोप लगता है, केवल तभी उसे लोगों को यह समझाना ज़रूरी लगने लगता है कि 'जनता का साहित्य किसे कहते हैं', लेकिन उसे लोगों को यह बताना ज़रूरी नहीं लगता कि उसी लेख में मुक्तिबोध ने लेखकों से यह भी अपेक्षा की है कि 'जनता को पहले सुशिक्षित और सुसंस्कृत करना है। वह फिलहाल अंधकार में है। जनता को अज्ञान से उठाने के लिए हमें पहले उसको शिक्षा देनी होगी। शिक्षित करने के लिए जैसे ग्रंथों की आवश्यकता होगी, वैसे ग्रंथ निकाले जायेंगे, और निकाले जाने चाहिए।' (*मुक्तिबोध रचनावली*, खंड 5, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली 2007, पृष्ठ 75) और यह बात तो शायद ही किसी को याद आती होगी कि उस लेख का शीर्षक चाहे जो भी हो, मुक्तिबोध के लिए उस लेख का 'मूल प्रश्न' साहित्य की सरलता या कठिनता नहीं, बल्कि यह था कि 'क्या साहित्य कार्य मात्र व्यक्तिगत कार्य है, मात्र व्यक्तिगत उत्तरदायित्व है?' (वही, पृष्ठ 75) इस प्रश्न का जो उत्तर उस लेख में मुक्तिबोध ने दिया है, वह साहित्य को व्यक्तिगत उपलब्धि मानने वाले लेखकों के लिए ही नहीं, लेखक संगठन बनाने वाले राजनीतिक दलों के लिए भी नितांत असुविधाजनक है।

मुक्तिबोध के निष्कर्ष दूसरों से अलग हैं, यह बात लोगों को गाहे-बगाहे दिखायी पड़ती है लेकिन इन भिन्न निष्कर्षों के पीछे एक अलग आलोचना पद्धति और एक अलग सुचिंतित आलोचना दृष्टि

निहित है, यह जानने की परवाह किसी को नहीं है। असल में लगता तो ऐसा है कि मुक्तिबोध के आलोचना कर्म के पीछे कोई पद्धति और दृष्टि है इसका आभास भी उनका इस्तेमाल करने वालों को नहीं है। अन्यथा क्या वजह थी कि *कामायनी एक पुनर्विचार* के निष्कर्षों को तो अपना लिया जाता लेकिन जिस आलोचनात्मक मॉडल के आधार पर यह निष्कर्ष निकाले गये उस मॉडल को विस्मृत कर दिया जाता? क्या वजह है कि 'समीक्षा की समस्याएं' की प्रशंसा की जाती है लेकिन प्रगतिशील आलोचना के क्षरण के कारणों की पहचान करते हुए मुक्तिबोध ने रचना और आलोचना के रिश्ते पर पुनर्विचार का जो आग्रह किया उसे भुला दिया जाता है? इससे भी बढ़कर उसी निबंध में प्रगतिवादी समीक्षा द्वारा उपेक्षित छोड़ दिये गये दसियों महत्वपूर्ण क्षेत्रों को रेखांकित करते हुए मुक्तिबोध ने बड़ी कसक के साथ एक सवाल यह भी पूछा था कि 'क्या यह सही नहीं है कि यह एक व्यक्ति का काम नहीं है? डॉ. रामविलास शर्मा, श्री शिवदान सिंह चौहान, श्री प्रकाशचंद्र गुप्त, श्री अमृतराय, डॉ. नामवर सिंह तथा इनके अतिरिक्त यशपाल और नागार्जुन जैसे लेखक-कलाकार क्या कभी इकट्ठा होकर सम्मिलित रूप से काम नहीं कर सकते थे? क्या इस संबंध में, इस क्षेत्र में, संगठित और सम्मिलित प्रयास की आवश्यकता नहीं है? और, अगर ये सम्मिलित रूप से, संगठित रूप से काम नहीं कर सकते तो क्या इसका अर्थ यह नहीं है कि अन्य बाधाओं के अतिरिक्त, एक बाधा यह भी है कि ये सब मध्यवर्गीय व्यक्तिवादी हैं, जिन्हें अपनी व्यक्तिसत्ता अन्य बातों से अधिक प्रिय है? और फिर, क्या ऐसे लोग साहित्य-क्षेत्र पर अपने प्रभाव का विस्तार कर सकते हैं?' (वही, पृष्ठ 144) क्या यह सवाल आज भी उतना ही प्रासंगिक नहीं है? क्या मुक्तिबोध की जन्मशती मनाने वाले इस कार्यभार को भी याद रखेंगे? अगर मुक्तिबोध द्वारा उठाये गये असुविधाजनक सवालों और प्रस्तावित दायित्व पर विचार भी नहीं करना है तो इसे मुक्तिबोध को नख-दंत-विहीन देवता बनाने के कर्मकांड के अलावा और क्या समझा जाये?

व्यावहारिक आलोचना से भी विकट स्थिति मुक्तिबोध की सैद्धांतिक अवधारणाओं को लेकर है। मुक्तिबोध हिंदी आलोचना का शास्त्र नहीं गढ़ रहे थे। साहित्य की विशेषताओं को समझने और उससे जुड़े कुछ बुनियादी सवालों पर विचार करते हुए मुक्तिबोध ने जिन मौलिक अवधारणाओं का इस्तेमाल किया, वे मुक्तिबोध की शब्दावली का स्वाभाविक अंग थीं। अलग से उनकी परिभाषा और विस्तृत व्याख्या करने की कोई ज़रूरत मुक्तिबोध को नहीं महसूस हुई। आगे चलकर ये अवधारणात्मक पद हिंदी आलोचना की भाषा में शामिल हो गये, उनका इस्तेमाल मुक्तिबोध से अपना जुड़ाव प्रदर्शित करने या अपनी बात को गंभीरता और लालित्य प्रदान करने के लिए भी किया जाने लगा। उदाहरण के लिए, 'ज्ञानात्मक संवेदन और संवेदनात्मक ज्ञान' हिंदी में फ़ैशन की तरह इस्तेमाल किया जाने वाला जुमला है, जबकि मुक्तिबोध के लिए यह साहित्य के (और मनुष्य की बोध प्रक्रिया के) मूलभूत संश्लिष्ट स्वभाव को रेखांकित करने वाली अवधारणा है। इस अवधारणा के ज़रिये मुक्तिबोध ने विचार और भावना के भ्रामक द्विभाजन को निर्णायक चुनौती दी। विचार और भावना दोनों को बोध का अंग मानते हुए उन्होंने दोनों के द्वंद्वात्मक रिश्ते का संकेत किया। इस समझ के चलते ही मुक्तिबोध कलाकार की ईमानदारी की एक बिल्कुल भिन्न - रेडिकल धारणा तक पहुंच सके। क्षणवाद और अनुभूति की प्रामाणिकता का नारा बुलंद करने वाले अनुभूति को विचारधारा से स्वायत्त और अपने आप में मूल्यवान उपलब्धि के रूप में पेश कर रहे थे। मुक्तिबोध ने याद दिलाया कि भावना या अनुभूति कोई स्थिर सत्य नहीं है बल्कि चीज़ों के बारे में धारणा बदलने के साथ-साथ उनके प्रति हमारी भावनाएं भी बदल जाती हैं, इसीलिए

अपनी धारणाओं को परिष्कृत किए बग़ैर क्षणिक अनुभूति को व्यक्त कर देना ईमानदारी नहीं, फ्रॉड है। उन्होंने लिखा, 'भावना का ज्ञानात्मक आधार जब तक शुद्ध है, तभी तक वह भावना फ्रॉड नहीं है, किंतु ज्ञान का भी प्रसार और विकास होता है। क्योंकि ज्ञान के क्षेत्र में ही भावना विचरण करती है, इसलिए ज्ञान को अधिकाधिक मार्मिक, यथार्थमूलक और विकसित करने का जो संघर्ष है, वह वस्तुतः कलाकार का सच्चा संघर्ष है, यदि कवि या कलाकार यह संघर्ष त्याग देता है तो वह सचमुच ईमानदार नहीं है, सच तो यह है कि व्यक्तिगत ईमानदारी के भीतर भी एक बहुत बड़ा संघर्ष होता है। दूसरे शब्दों में कला के क्षेत्र में व्यक्तिगत ईमानदारी स्वयंसिद्ध नहीं, बल्कि प्रयत्न-सिद्ध होती है।' (*मुक्तिबोध रचनावली*, खंड 4, पृष्ठ 112) इस बात को भुला देने का ही परिणाम है कि 'अनुभूति की प्रमाणिकता' को हमारे अपने समय में आक्रामक ढंग से पुनर्जीवन मिला है। विचार और भावना की द्वंद्वात्मक अंतर्क्रिया को स्पष्ट करने वाली इस मूल्यवान अवधारणा को हिंदी में कितने हल्के ढंग से लिया गया है, इसका प्रमाण यह बात है कि हिंदी में रामविलासजी द्वारा प्रस्तावित इंद्रियबोध, भाव और विचार के भ्रामक विभाजन को सिद्धांत की हैसियत प्राप्त है - जिसकी स्वाभाविक परिणति साहित्य को विचारधारात्मक न मानने के रूप में हुई है। (रामविलासजी की स्थापना के लिए देखें, *आस्था और सौंदर्य* में संकलित निबंध 'सौंदर्य की वस्तुगत सत्ता और सामाजिक विकास', राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1990; मैंने अपने लेख 'रामविलास शर्माः एक सैद्धांतिकी की उलझनें' में इस स्थापना से विस्तृत बहस की है। देखें, *संवेद* अंक 65, जून 2013)

यह त्रासदी केवल 'संवेदनात्मक ज्ञान' की उक्त अवधारणा के साथ हुई हो, ऐसा बिल्कुल नहीं है; मुक्तिबोध की अधिकांश अवधारणाएं इस त्रासदी का शिकार हुई हैं। 'रचना प्रक्रिया' और 'फ़ैंटेसी' का जाप करने वाले लेखकों को इस बात का आभास भी नहीं है कि कला के तीन क्षणों की मुक्तिबोध की धारणा टी. एस. एलियट (और हिंदी में उनके प्रवक्ता अज्ञेय) के रचना प्रक्रिया संबंधी सिद्धांत - भोक्ता मानस और रचयिता मानस का अलगाव - का मार्क्सवादी प्रत्युत्तर है जो जीवनानुभूति और सौंदर्यानुभूति के संबंध और पार्थक्य को द्वंद्वात्मक ढंग से प्रस्तुत करती है। उन्हें तो शायद यह भी नहीं पता कि मुक्तिबोध फ़ैंटेसी की दो भिन्न धारणाओं का इस्तेमाल करते हैं, रचना प्रक्रिया के दूसरे क्षण के रूप में फ़ैंटेसी की धारणा अलग है और 'रोमैंटिक-भाववादी शिल्प' के रूप में फ़ैंटेसी की धारणा अलग है - इसी दूसरी धारणा के अर्थ में *कामायनी* एक विशाल फ़ैंटेसी है।

मामला केवल यहीं तक सीमित नहीं है कि मुक्तिबोध द्वारा प्रयुक्त अवधारणाओं को आधे-अधूरे या ग़लत ढंग से समझा गया है और उन्हें पुनर्व्याख्यायित करने की ज़रूरत है। बल्कि स्थिति यह है कि एक ख़ास दौर में आलोचकों ने अपनी ज़रूरत के अनुसार उनकी जिन मान्यताओं और अवधारणाओं की चर्चा कर दी मुक्तिबोध को उन्हीं तक सीमित मान लिया गया। उनसे आगे बढ़कर मुक्तिबोध के लेखन के आलोचनात्मक पुनर्पाठ की ज़रूरत ही नहीं समझी गयी। इस प्रक्रिया में जहां मुक्तिबोध द्वारा उठाये गये कई असुविधाजनक लेकिन महत्वपूर्ण सवालों को पृष्ठभूमि में डाल दिया गया वहीं उनके लेखन में मौजूद कई मूल्यवान अंतर्दृष्टियां और अवधारणाएं सामने ही नहीं आ पायीं। 'सांस्कृतिक-साहित्यिक प्रभुवर्ग' की धारणा भी ऐसी ही अंतर्दृष्टिपूर्ण अवधारणा है जो न केवल इतिहास लेखन के प्रचलित शुक्लीय ढांचे पर सवाल खड़ा करती है बल्कि उसे और संश्लिष्ट तथा विश्वसनीय ढंग से लिखे जाने का औजार भी मुहैया कराती है। यांत्रिक ढंग से साहित्य को समाज का दर्पण या (मैथ्यु आर्नल्ड के इस अंग्रेज़ी मुहावरे के हिंदी संस्करण के तौर पर) 'जनता की चित्तवृत्ति का प्रतिबिंब' मानने के बजाय

मुक्तिबोध ने साहित्य की समाज संबद्धता और साथ ही उसकी सापेक्षिक स्वायत्तता के द्वंद्वात्मक रिश्ते को पहचानने का प्रयास किया। वे देख पाने में सफल रहे कि 'सापेक्षिक स्वायत्तता' के कारण साहित्य में सामाजिक राजनीतिक घटनाओं की यांत्रिक अभिव्यक्ति नहीं होती। इससे भी आगे बढ़ कर मुक्तिबोध ने यह भी पहचाना कि अलग-अलग दौर में यथार्थ के अलग अलग पहलू साहित्य से बहिष्कृत रहे हैं। ऐसे में किसी विशेष दौर की साहित्यिक प्रवृतियों को देख कर उन्हीं को समाज का पूरा सच मानना और जैसे-तैसे सामाजिक-राजनीतिक तथ्यों से उन प्रवृतियों का मेल बैठाना बचकानापन है।

'प्रभु वर्ग' की मुक्तिबोध की धारणा उन्हीं के द्वारा उठाये गये इस महत्वपूर्ण सवाल - कि विशेष युगों के साहित्य में विशेष विषयों (या प्रवृत्तियों) की ही अभिव्यक्ति क्यों होती है - का सबसे संतोषजनक उत्तर प्रस्तुत करती है। मुक्तिबोध के अनुसार जब हम किसी विशेष दौर की चर्चा करते हैं तो एक विशेष प्रकार के साहित्य की चर्चा करते हैं, इस विशेष प्रकार के साहित्य का एक वर्गीय आधार होता है। समाज के प्रभावशाली सदस्य या प्रतिनिधि ही प्रायः संस्कृति और साहित्य के क्षेत्र मे भी प्रभावशाली होते हैं। साहित्य संस्कृति के क्षेत्र में प्रभावशाली इस वर्ग को ही वह एकाधिकारी या प्रभावशाली वर्ग कहते हैं - प्रायः इस वर्ग का साहित्य ही संरक्षित होने के कारण हमें प्राप्त हो पाता है। मुक्तिबोध लिखते हैं 'अतएव, युग स्थिति का सच्चा अर्थ है, उस विशेष श्रेणी की स्थिति जो सांस्कृतिक साहित्यिक क्षेत्र का नेतृत्व कर रही हो। इस नेतृत्व करने वाली श्रेणी पर राजनीतिक शासन होता है तत्कालीन सर्वोच्च वर्ग का, जो कि सांस्कृतिक-साहित्यिक नेतृत्व प्रदान करने वाली श्रेणी से मिला-जुला तथा संबद्ध होता है।' (*मुक्तिबोध रचनावली* , खंड 5, पृष्ठ 51) मुक्तिबोध की यह धारणा *जर्मन विचारधारा* में मार्क्स-एंगेल्स के उस कथन के अनुरूप ही है जिसमें उन्होंने सत्ताधारी वर्ग के विचारों के सत्ताधारी विचार होने की बात कही है, जो आगे चलकर 'वर्चस्व' की ग्राम्शियन धारणा का आधार बनी। आगे मुक्तिबोध ने सामाजिक-ऐतिहासिक विकास की प्रक्रिया के दौरान विशेष स्थितियों में ऐसे वर्गों के उत्थान की बात भी कही है, जो समाज का नेतृत्वकर्ता वर्ग न होने के बावजूद प्रभावशाली हो सकता है। इसके लिए वे भक्तिकाल का उदाहरण देते हैं।

मुक्तिबोध के अनुसार साहित्य-संस्कृति के क्षेत्र में भी वर्ग विभाजन मौजूद होता है। इस विभाजन का परिणाम यह होता है कि उच्चवर्गीय जनों की 'शिष्ट कला' में उन्हीं विषयों की अभिव्यक्ति हो पाती है, जिनसे यह वर्ग उद्वेलित होता है तथा इस कला में व्यक्त होने वाला दृष्टिकोण इस वर्ग के अनुकूल होता है। वे लिखते हैं, 'इस वर्ग स्थिति के अनुसार किसी विशेष साहित्य-युग के अपने विशेष विषयों का चुनाव होता है। हिंदी-साहित्य के आदिकाल से लेकर तो आज तक हम विशेष युग के विशेष विषयों की प्रदर्शनी को देख सकते हैं। युग-विशेष के विशेष विषय, तत्कालीन समाज-विकासावस्था के भीतर विभिन्न वर्गों की विभिन्न स्थितियों तथा उनके विविध सामाजिक मानव-संबंधों से निर्धारित होते हैं। ये विविध विषय अपने को अभिव्यक्त करने के लिए उस वर्ग के हृदय में अकुलाते रहते हैं, जो उस काल में साहित्यिक-सांस्कृतिक क्षेत्र के भीतर निर्णायक रूप से प्रभावशाली हो उठते हैं।' (वही, पृष्ठ 51) अगर यह दृष्टि सही है तो भक्ति काल के अलावा अब तक ज्ञात साहित्येतिहास जनता की नहीं बल्कि वर्चस्व प्राप्त तबक़े की चित्तवृत्तियों का इतिहास है।

साहित्य संस्कृति के क्षेत्र में 'प्रभु वर्ग' की उपस्थिति का परिणाम यह होता है कि इस वर्ग का साहित्य ही उस दौर का प्रतिनिधित्व करने लगता है। यह वर्ग अपने दौर के संपूर्ण सामाजिक यथार्थ (इसमें

परिवर्तनकारी घटनाएं भी शामिल हैं) को जस-का-तस अभिव्यक्त नहीं करता, बल्कि उसके द्वारा यथार्थ के चयन और संपादन में वर्ग दृष्टि काम कर रही होती है। ऐसी स्थिति में समाज और साहित्य का संबंध यांत्रिक नहीं रह जाता। मुक्तिबोध ने लिखा है 'जिस ऐतिहासिक युग में कोई विशेष ऐतिहासिक घटना-विकास हो रहा हो, उसका ठीक-ठीक प्रतिबिंब साहित्य में उभरे ही, यह आवश्यक नहीं है। इसका सबसे बड़ा कारण है कि सांस्कृतिक-साहित्यिक एकाधिकार रखने वाला वर्ग, शेष समाज से अपने को अलग कर, अपने वर्ग की विशेष प्रवृत्तियों तथा उन प्रवृत्तियों की आवश्यकताओं को साहित्य में व्यक्त करता है।' (वही, पृष्ठ 51) रामविलास शर्मा ने हिंदी नवजागरण को साम्राज्यवादविरोधी सिद्ध करने के लिए उसका संबंध 1857 से जोड़ने की भरपूर कोशिश की लेकिन वे उस दौर के हिंदी लेखकों के साहित्य में 1857 के प्रशंसापरक उल्लेख का एक भी उदाहरण प्रस्तुत नहीं कर सके (जबकि भारतेंदु मंडल के लेखकों द्वारा उसकी निंदा के स्पष्ट साक्ष्य मौजूद हैं)। इसका औचित्य-निरूपण करने के लिए उन्होंने तरह-तरह के तर्क गढ़े। अगर हम 'प्रभु वर्ग' की मुक्तिबोध की धारणा की मदद लें तो इन तर्कों की कोई ज़रूरत नहीं रह जाती। केवल 1857 ही नहीं, ऐसी अनेक महत्वपूर्ण राजनीतिक घटनाएं हैं जिनका ज़िक्र लिखित साहित्य में नहीं मिलता। उदाहरण के लिए, हम भगत सिंह की शहादत को भी याद कर सकते हैं। हिंदी में राष्ट्रवादी काव्यधारा मौजूद होने के बावजूद उसका उल्लेख क्यों नहीं है? या गांधी के अछूतोद्धार के ज़ोरदार महिमामंडन के समानांतर हिंदी में अंबेडकर का ज़िक्र क्यों अनुपस्थित है? इन प्रश्नों के उत्तर 'प्रभुवर्ग' की बनावट और उसके द्वारा निर्मित किये जाने वाले 'सेंसरों' को समझकर ही प्राप्त किये जा सकते हैं।

बहरहाल, अपनी इस अंतर्दृष्टि के ज़रिये मुक्तिबोध एक ओर निर्गुण साहित्य के भिन्न वर्गाधार तथा प्रगतिशील चरित्र को रेखांकित कर पाते हैं, वहीं दूसरी ओर, दोनों वर्गों की कला के बीच केवल द्वंद्व ही नहीं, बल्कि सीमित मात्रा में होने वाले संवाद को भी पहचानते हैं। यह भी ग़ौरतलब है कि मुक्तिबोध इस प्रसंग में वर्ग की आर्थिक अवधारणा का प्रयोग करने से बचते हैं, वे राजनीतिक-सांस्कृतिक प्रभुत्व की चर्चा करते हैं। निश्चित रूप से सांस्कृतिक प्रभुत्व का आर्थिक आधार भी होता है, लेकिन आर्थिक वास्तविकताएं सांस्कृतिक जगत में थोड़े बदले हुए रूप में अभिव्यक्त होती हैं, वे केवल आर्थिक शोषण के रूप में ही नहीं, सांस्कृतिक शोषण के रूप में भी अभिव्यक्त होती हैं। मुक्तिबोध द्वारा प्रयुक्त 'शोषित जनों' शब्द में वर्गीय ही नहीं अन्य क़िस्म के शोषण के शिकार लोगों को सम्मिलित कर सकने की संभावना है।

कविता को एक 'सांस्कृतिक प्रक्रिया' मानते हुए साहित्य को समझने के लिए किसी 'युग की मूल गतिमान सामाजिक शक्तियों से बनने वाले सांस्कृतिक इतिहास' को जानने की ज़रूरत महसूस करने वाले मुक्तिबोध के लिए स्वाभाविक था कि उन्होंने भक्ति आंदोलन को तीन-चार सौ वर्षों के एक ठहरे हुए समरस काल के रूप में देखने के बजाय, उसे समानता के लिए उठ खड़े हुए एक सांस्कृतिक आंदोलन और जवाबी प्रति-आंदोलन के रूप में देखा। इसीलिए वे रीतिकाल के उदय के अव्याख्यायित रह गये प्रश्न के (अब तक मौजूद उत्तरों में) सबसे संतोषजनक उत्तर का संकेत कर पाने में भी सक्षम हुए। मार्क्सवादी आलोचना में मुक्तिबोध के भक्ति आंदोलन संबंधी विवेचन को काफ़ी हद तक प्रतिष्ठा प्राप्त हुई है लेकिन उसकी अंतर्दृष्टियों का पूरा इस्तेमाल अभी तक नहीं किया जा सका है। नामवर सिंह ने जहां एक तरफ़ इस निबंध की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित किया, वहीं दूसरी तरफ़ उन्होंने जिस तरह

मुक्तिबोध को उपमान बनाकर धक्कामार ढंग से हजारी प्रसाद द्विवेदी की मान्यताओं के साथ जोत दिया, उसने इन अंतर्दृष्टियों पर धुंधलका फैला दिया। हिंदी आलोचना में इन अंतर्दृष्टियों को सार्थक और सराहनीय ढंग से विकसित करने का एकमात्र उदाहरण बजरंग बिहारी तिवारी का भक्ति आंदोलन संबंधी लेखन है। *तद्भव* में प्रकाशित दो शोध-पत्रों, 'भक्ति के वृहद् आख्यान में सत्पुरुषों की पीड़ा' (अंक 6) तथा 'मध्यकालीन सत्ता विमर्श का एक पहलू' (अंक 9) में उन्होंने ऐतिहासिक प्रमाणों के माध्यम से वल्लभ संप्रदाय की गतिविधियों का अध्ययन करते हुए विश्वसनीय ढंग से स्थापित किया है कि इस्लाम-विरोध का दिखावा करने के बावजूद सगुण संप्रदाय एक तरफ़ सत्ता के साथ मधुर रिश्ते बनाये हुए थे, वहीं दूसरी तरफ़ शक्ति, समृद्धि और प्रभाव विस्तार के लिए ये संप्रदाय खुद आपस में संघर्षरत थे। इस अध्ययन ने भक्ति आंदोलन की समरसता के मिथक को निर्णायक चुनौती दी है। यह बात अलग है कि अभी भी बहुत से आलोचक इस मिथक का मोह छोड़ पाने में असमर्थ हैं।

यह काफ़ी हैरान करने वाली बात है कि ऐतिहासिक भौतिकवाद की विरासत और वैज्ञानिक इतिहास दर्शन का दावा करने वाले आलोचक हिंदी साहित्य का कोई मार्क्सवादी इतिहास प्रस्तुत कर पाने में असमर्थ रहे। ज़ाहिर है कि साहित्य का ऐसा इतिहास (जिसे मार्क्सवादी कहा जा सके) तैयार करना किसी एक व्यक्ति की क्षमता के भीतर नहीं था, यह एक संगठित परियोजना के रूप में ही तैयार किया जा सकता था। ऐसा न हो सकने की वजहें हिंदी आलोचकों के उसी मध्यवर्गीय व्यक्तिवाद में निहित हैं जिसका ज़िक्र मुक्तिबोध ने 'समीक्षा की समस्याएं' में किया था। ऐसा लगता है कि वैकल्पिक इतिहास तैयार न कर पाने की अपनी नियति को इन आलोचकों ने बहुत पहले ही स्वीकार कर लिया था। शुक्ल और द्विवेदी की आरंभिक कड़ी आलोचना के बाद जब उन्हें प्रतीत होने लगा कि वे व्यावहारिक इतिहास लेखन में इनसे बड़ा योगदान नहीं कर सकते, तो उन्होंने इन आचार्यों को ही अपनी परंपरा में खींच लेने की कवायद शुरू कर दी। ऐसे में मुक्तिबोध की अंतर्दृष्टियों की उपेक्षा का होना स्वाभाविक ही कहा जायेगा। इस प्रक्रिया की परिणति इतिहास को ही अप्रासंगिक मान लेने के रूप में दिखायी देती है। मार्क्सवादी इतिहास लेखन के स्वप्न को छोड़कर समन्वयवादी दृष्टिकोण से छात्रोपयोगी 'संक्षिप्त इतिहास' लेखन का चलन यही बताता है।

मेरा यह प्रस्ताव बिल्कुल नहीं है कि हम मुक्तिबोध को 'महान' आलोचक घोषित कर दें। इसके उलट मेरा कहना सिर्फ़ यह है कि मुक्तिबोध के वैचारिक लेखन की शक्ति और सीमाओं के वस्तुगत मूल्यांकन का काम लगभग अनछुआ पड़ा हुआ है और इसे पूरा किया जाना उन्हें महान घोषित करने के मुक़ाबले कहीं ज़्यादा सार्थक होगा। अपनी ही उपलब्धियों से अनजान मार्क्सवादी आलोचना की आत्ममुग्धता हैरान करने वाली है। सच तो यह है कि आलोचक के रूप में मुक्तिबोध कहीं अधिक स्पष्टता से समझ में आते हैं। उनकी वैचारिकी और सरोकारों की बेहतर समझ हमें उनकी कविताओं को समझने में भी काफ़ी मदद पहुंचायेगी।

मुक्तिबोध की व्यक्तिगत त्रासदी को झंडा बनाकर लहराना या उस पर छाती पीटना न केवल निरर्थक होगा बल्कि यह जनता से हमारे अलगाव और अज्ञान का भी प्रमाण होगा। मुक्तिबोध ने जैसा जीवन जिया और जैसी मौत मरे, उसमें कुछ भी असाधारण नहीं था। आज भी देश के करोड़ों लोग उससे भयावह जीवन जीने को विवश हैं। हज़ारों बेरोज़गार लेखक वैसा ही मर्मांतक संघर्ष कर रहे हैं - पूंजीवादी शोषण के अलावा इसका एक कारण लेखन को व्यक्तिगत उत्तरदायित्व मानने वाली वह मनोवृत्ति भी है जिसका

ज़िक्र मुक्तिबोध ने 'जनता का साहित्य किसे कहते हैं' लेख में किया था। मुक्तिबोध का जीवन और मृत्यु इस बात का प्रमाण है कि ऐसा समाज और ऐसी मनोवृत्ति एक ईमानदार प्रतिभा का क्या हश्र कर सकती है। मुक्तिबोध का जीवन नहीं, बल्कि उनका लेखन असाधारण था - इस असाधारण लेखन की उपेक्षा जिस तरह की गयी वह सचमुच एक त्रासदी है। पत्रिका के एक छोटे से लेख में मुक्तिबोध के लेखन के साथ घटित संपूर्ण त्रासदी को बता पाना या उनकी मौलिक अवधारणाओं और आलोचना दृष्टि की व्याख्या कर सकना असंभव है - मुझे यह मुग़ालता है भी नहीं। मैंने सिर्फ़ उस विराट स्वप्न की रूपरेखाओं का कुछ संकेत करने की कोशिश की है, जिसे मुक्तिबोध ने मुमकिन समझकर देखा था। मैंने उन कुछ असुविधाजनक सवालों को उठाने की कोशिश की है जिनका सामना किये बग़ैर इस सपने को हक़ीक़त में नहीं बदला जा सकता। यह याद रखा जाना चाहिए कि व्यक्तित्व केंद्रिकता ही मरणोपरांत मुक्तिबोध के साथ घटित हुई पहली त्रासदी की वजह थी, मुक्तिबोध की व्यक्तिपूजा इस त्रासदी को और बढ़ायेगी।

अब यह जन्मशती मनाने वालों पर निर्भर है कि वे इन सवालों का सामना करेंगे या इस मौक़े को मुक्तिबोध की अकादमिक हत्या की दूसरी त्रासदी में बदल देंगे।

Email: kavitendraindu@gmail.com

कोई गान आत्मोद्‌बोधमय

डर, मुक्तिबोध और यह समय

निशांत

कमरे में
किनारे पर सोता तो
डर लगता कि कहीं गिर न जाऊं
बीच में सोता तो लगता
बिस्तर बीच से फट जायेगा
ज़मीन में समाता चला जाऊंगा
दूसरी तरफ़, दीवाल से सटकर सोता तो लगता
दीवाल फाड़कर खा जाने वाला
कोई जानवर निकलेगा
मुझे निगल जायेगा

इन डरावनी रातों में
उसे पढ़ता
चाय सिगरेट बीड़ी के सहारे
रात रात भर जगा रह जाता
सुबह दस से पहले कब उठा हूं
याद नहीं
जैसे रात को कब सोया हूं
याद नहीं रहता

इतिहास के इस कालखंड में
नज़रबंद हूं मैं
अपनी ही हरकतों को
अपने ही स्क्रीन पर देखता रहता हूं

हॉस्टल में हर एक लड़का
देश का हर एक नागरिक
चलते-चलते रुक जाते
वे दिखलाते रुकना डरना नहीं है पर
उसने अपनी कविता में लिख रक्खा है□
चलते-चलते रुक जाना
डरना नहीं तो क्या है?

वह अपने समय का रक्तबीज था
अपने ही खून से जी उठने वाला
हारता मरता पर लड़ने को उठ खड़ा हुआ
एक प्रतिम योद्धा
एक न ख़त्म होने वाली कविता

आज की कविताएं
झट से मर जाती हैं
इतनी क्षणजीवी हैं कि
पढ़ने के बाद ही अमर हो जाती हैं
अमरता की शिकार कविताएं

उससे मिलना संभव नहीं
कविताएं पत्रों डायरियों कहानियों में मिला
उससे मिलना
रात-रात भर जागना था
बच्चे डरते
नौजवान सलाम कामरेड कहते
बूढ़े जुगाली करते
लोग मुक्तिबोध बनने से डरते

यह समय ही डरते और डर-डर कर रहने का है
वाचालों का है
है आंकड़ों की जुगाली का
छप्पन इंच के सीने का
पार्टनर, तुम्हारी पालिटिक्स क्या है?
पूछने से डरने का समय है यह
यह 'अंधेरे में' का समय है।

ब्रह्मराक्षस की खोज...

सीमा संगसार

जितने कश तुमने खींचे हैं
इस आधी उम्र में
उनका धुंआ दबा कर रखा है
अपने उन्हीं बंद अंधेरे कमरे में
जिसके फूले पलस्तर का
टूट कर धीरे धीरे गिरना आज भी जारी है!

गुफाकार-गुंबदाकार उस अंधेरी सुरंग में
उजाले की एक चमक है
जिसे कोई न देख सका आज तक
एक तुम्हारे सिवा
क्योंकि तुमने देखा उन्हें मार्क्सवाद के नज़रिये से।

तुम्हारे मलिन चेहरे पर उठता हुआ
बीड़ी का धुआं सिर्फ़ तुम्हारा नहीं
करोड़ों दिलों की जलती हुई वेदना और संताप है .....

आज भी शहर की वह सूनी परित्यक्त बावड़ी की
कंटीली झाड़ों में छिपा हुआ
ब्रह्मराक्षस कर रहा क्रुद्ध मंत्रोच्चार
किसी एक मुक्तिबोध के इंतज़ार में.....

क्योंकि वह जानता है
एक मुक्तिबोध में है
कई मार्क्स
कई एंजेल्स

कई रसेल
कई सार्त्र और / कई गांधी भी ....

अट्टहास करता हुआ वह ब्रह्मराक्षस
इंतज़ार करता रहा मुक्तिबोध का

सुनो मुक्तिबोध
वह भूल ग़लती दुहरा रही बार-बार / बार-बार
सज गया फिर से
वही राजदरबार लोहे का जिरह बख़्तर पहन कर
सिर झुकाये हैं सभी पंक्तिबद्ध खड़े खामोश!

अपनी चेतना से कर विद्रोह
तन कर खड़े होने की आस में
लहूलुहान होती रही तुम्हारी आत्मा, लगाती रही चक्कर
उनकी घुमावदार मेहराबों के ऊपर!
समय के क्रूर बाजों ने बांहें फैलाकर
किया था स्वागत और / उमग कर किया था आलिंगन तुम्हारा
उनके दिये हुए आशीष
सौ वर्ष जीने का तुम्हारा !

सिमटती गयी राह दर राह
कि उसी खोह में दम तोड़ती गयीं राहें अर्धशतक के क़रीब आते आते ....

सुनो मुक्तिबोध
फिर क्यों न हो चांद का मुंह टेढ़ा
अंधेरी रातों को मुंह चिढ़ाती
टेढ़ी हो गयीं जिसकी राहें ....

उजाले का भ्रम फैलाती चांदनी रात को
दुत्कारती हुई यह दुनिया
आज भी पसंद करती है
इस अंधेरी रात को
जिसके साये में पलती हैं अनगिनत यातनाएं
चाबुक से पड़ते प्रहार
और / उन्हीं अंधेरों में छिप कर

दर्ज किया जाता है
कुत्सित वासनाओं का अंतर्प्रलाप ....

उस घने बरगद ने भी सिकोड़ ली हैं अपनी बांहें
बन गया है एक झूठा गवाह!

सुनो मुक्तिबोध
चांद ने फेर ली हैं अपनी निगाहें
इस धरती से जब से
तुम चले गये अकस्मात्
कहीं किसी निर्जन वन में.....

फुल बड़िया-1
बरौनी
ज़िला - बेगूसराय (बिहार)
फोन : 7543866061

लिखी उजालों की तुमने कथा अंधेरे में

राकेश शर्मा

(मुक्तिबोध के जन्म शताब्दी वर्ष पर उनकी स्मृति को नमन करते हुए उनकी प्रसिद्ध कविता 'अंधेरे में' के शीर्षक को रदीफ़ बना कर कही गयी ग़ज़ल।)

तमाम उम्र रहे गुमशुदा अंधेरे में
लिखी उजालों की तुमने कथा अंधेरे में

रात थी लिपटी तुम्हारी सियाह कोहरे में,
तुम्हारा दिन भी था लिथड़ा हुआ अंधेरे में

ख़ला में दूर तलक चीख़ती थी तन्हाई,
ख़ामोशियों का बड़ा शोर था अंधेरे में

यूं उचटी नींद तुम्हारी कि सो न पाये फिर,
चुभा जो आंख में कुछ किरकिरा अंधेरे में

ज़माने भर के ग़मों को बनाके दुःख अपना,
खुशी का तकते रहे रास्ता अंधेरे में

ख़ुद अपने आपसे ताउम्र तुम झगड़ते रहे,
तुम्हारा जोशेजुनूं क़ैद था अंधेरे में

हयात गुज़री किसी तल्ख़ हादसे की तरह,
था इक अजाब हरेक तजरबा अंधेरे में

तुम्हारा साया ही जब तुमसे मुंह था मोड़े हुए,
किसे सुनाते तुम अपनी व्यथा अंधेरे में

बनावटी थीं उजालों की सारी तजवीजें,
तुम्हीं नहीं थे, सकल दौर था अंधेरे में

ज़मीं को पांव तले रक्खा थाम कर तुमने,
तलाश करते रहे रास्ता अंधेरे में

तुमने सोच की अंधी गुफाओं में छिप कर,
अघोरियों सी की कठिन साधना अंधेरे में

सुनायी दी थी तुम्हें ब्रह्मराक्षस की सदा,
थे चुप लगाये सभी देवता अंधेरे में

तुम्हें अखरता रहा चांद का वो मुंह टेढ़ा,
किया था तुमने सतत रतजगा अंधेरे में

लिखी थी तुमने जो इक डायरी साहित्यिक की,
बताती है वो कि क्या क्या घटा अंधेरे में

थे अपने आप में मीनार रौशनी की तुम,
बुझी मशालों की लौ अता की अंधेरे में

है ढलना रात का लाज़िम, यक़ीन था तुमको,
दिया न बुझने दिया आस का अंधेरे में

दुआ लबों पे तुम्हारे यही रही हरदम,
हयात तोड़े न दम याख़ुदा अंधेरे में

था बोध मुक्ति का, कारा थी काटनी तुमको,
किया अंधेरे को तुमने फ़ना अंधेरे में

G-204, Geeta Nagar-3
Mira Road (E)
MUMBAI-401107
मो : 09223338775
ईमेल : rakeshsharmapoet@gmail.com

'परम अभिव्यक्ति की खोज' का पुनर्पाठ : कुछ आत्मीय नोट्स

लीलाधर मंडलोई

डॉ. धनंजय वर्मा ने मुक्तिबोध को पहले पहल 1957 में अपनी आलोचना के केन्द्र में रखने की शुरुआत की। उनकी पुस्तक *परम अभिव्यक्ति की खोज* परिमल प्रकाशन, इलाहाबाद से प्रकाशित हुई थी। यह वह समय था जब मुक्तिबोध चर्चा के केंद्र में उस तरह न थे। प्रसंगवश यह उल्लेख भी अपरिहार्य है कि डॉ. वर्मा निराला काव्य के भी अग्रणी अध्येता थे। *निराला : काव्य और व्यक्तित्व* उनकी पहली अप्रतिम आलोचना कृति थी। वे कविता के 'माइक्रो' से 'मेक्रो' तत्त्वों में पैठकर अपनी स्थापना रखने वाले साधक आलोचक हैं। यह उनके आलोचना कर्म की प्रतिज्ञा का प्रथम सोपान है। उत्स में जाने की प्रविधि के बिना उनके आलोचना कर्म को समझना कठिन है। यह रास्ता जोख़िम भरा है। आपको अपने अग्रजों और समकालीनों के विरोध में खड़ा होना होता है। बाज़ दफ़ा अज्ञात समीकरण और भयवश लोग मैदान छोड़कर कोटर में प्रविष्ट हो जाते हैं। ख़ासकर तब जबकि मुक्तिबोध को अस्तित्ववादी घोषित कर दिया गया हो। और रहस्यवाद के साथ मार्क्सवाद के समन्वय का उनका प्रयास असफल मान लिया गया हो। इससे आगे की स्थापना में अस्तित्ववाद का मार्क्सवादी औचित्य-स्थापन किया गया है। साथ ही, अभिव्यक्ति की खोज को अस्मिता की खोज में रिड्यूस करने के प्रयास हैं। कहना न होगा कि मुक्तिबोध की खोज 'मेरी वह खोयी हुई, परम अभिव्यक्ति अनिवार, आत्मसम्भवा' को वैज्ञानिक ढंग से विश्लेषण करने की चेष्टा नहीं की गयी। बस एक कुहासा फैलाने का काम जाने-अनजाने अधिक हुआ। डॉ. धनंजय वर्मा मुक्तिबोध की उसी 'परम अभिव्यक्ति की खोज' पर अपनी स्थापना करते हुए, सायास गढ़े कुहरिल पर्यावरण को साफ़ करने का काम करते हैं। लगभग उस मेहतर की तरह जिसका जिक्र मुक्तिबोध ने किया। यह काम ख़ौफ़रहित शिल्प और कला में सम्भव था, जो उन्होंने घाटे उठाकर भी किया। इस किताब का हासिल यही है, जिसे आलोचक के अन्तःसंघर्ष के परिप्रेक्ष्य में मुक्तिबोध के ही एक बिंब से मौजूं रूप में समझा जा सकता है। 'ये गरजती गूंजती आन्दोलिता/ गहराइयों से उठ रही ध्वनियां/ अतः उद्भ्रान्त शब्दों के नये आवर्त अर्थ में/ हर शब्द निज प्रतिबद्ध को भी काटता/ वह रूप अपने बिंब से जूझ/ विकृताकार कृति बन रहा है/ ध्वनि लड़ रही अपनी प्रतिध्वनि से यहां।' तो डॉ. वर्मा उसी मुक्तिबोध और उनकी परम अभिव्यक्ति की खोज में एकाग्र हैं, व्याख्याओं में जिसे किसी ने देखने का कष्ट नहीं उठाया। देखने, पढ़ने और गुनने की नितान्त मौलिक दृष्टि से मूर्त हुई इस कृति का महत्त्व

इसीलिए अधिक है कि इसने आलोचना के चरित्र को पारदर्शी ढंग से मूर्त किया है। इस तरह डॉ. वर्मा एक अन्य भावभूमि पर 'सजल उर शिष्य' बन उठते हैं।

2

डॉ. धनंजय वर्मा अत्यंत सतर्क विश्लेषण के परम आग्रही हैं। उनकी निगाह में विश्व की तमाम आलोचनाओं का सत्य दीप्त है। मुक्तिबोध के काव्य को नयी कविता से वे अलगाते हैं। वस्तुतः मुक्तिबोध का काव्य नयी कविता की स्थापित परिभाषाओं और व्याख्याओं में अंटता नहीं। इसलिए उनकी कविता को वे 'समावेशी रचनात्मकता का काव्य' कहते हुए नयी स्थापना देते हैं। इसे वे पाठकों को कुछ इस तरह से समझाते हैं : 'अन्तर्वेशी और बहिर्वेशी की बजाय हम इसे 'समावेशी काव्य' कह सकते हैं। यहां न तो भाव के वस्तुमूलक आकलन तक ही रुका जाता है और न 'इमोशनल इक्वीवेलेंट ऑव थॉट' तक, बल्कि भाव और विचार के, आत्म और वस्तु के, वस्तु और रूप के सहज और स्वाभाविक सायुज्य को ही महत्त्व दिया जाता है। इस काव्य को इसीलिए हमने समावेशी रचनात्मकता का काव्य कहा है। इसके प्रतिनिधि कवि हैं : मुक्तिबोध, और यह महज़ संयोग नहीं कि हमारे समकालीन परिदृश्य पर उनकी काव्य चेष्टा और रचनात्मक सरगम का सबसे अधिक असर है और हमारे वक़्त के वे सबसे प्रासंगिक और सार्थक कवि हैं।' समावेशी रचनात्मकता के काव्य को वे सिर्फ़ एक टिप्पणी में महदूद नहीं रखते बल्कि मुक्तिबोध के सन्दर्भ में उसे संपूर्ण विश्लेषण के ज़रिये मूर्त करते हैं। इस प्रक्रिया में वे 'कला के व्यक्ति स्वातंत्र्य : व्यक्तिवाद बनाम वैयक्तिकता', 'चेतना का द्वंद्व और आत्मसंघर्ष', 'अंतरात्मा और अस्मिता के संदर्भ', 'समकालीन वास्तविकता और आधुनिक बोध के सवालों के बीच' समावेशी रचनात्मकता के काव्य की अपनी थीसिस खड़ी करते हैं। वे उन क्रिटिकल इंक्वायरीज़ को भी अपनी कसौटी पर परखते हैं जो नयी कविता और उसके पूर्व की कविता की आलोचनात्मक ज़मीन है। इसे मुक्तिबोध के संबंध में वे नाकाफ़ी सिद्ध करते हैं। अपनी इस स्थापना की वैचारिक मान्यताओं के आलोक में ही वे मुक्तिबोध को समझने का एक सौंदर्यशास्त्र मानो रचते हैं। पाठक उनके इसी रास्ते से उस मुक्तिबोध को पहचानते हैं जिसे एक काल विशेष में रहस्यात्मक, अस्तित्ववादी और अस्मिता की खोज में रत बताकर एक ऐसा घटाटोप खड़ा किया गया कि मुक्तिबोध का काव्यदर्शन अंधेरे की भेंट चढ़ गया। आलोचक की मूल प्रतिज्ञा मुक्तिबोध के उस काव्य दर्शन की अधखुली-अदृश्य परतों को खोलना है जो अलक्षित रह गयीं, चूंकि वहीं से मुक्तिबोध की दार्शनिक सच्चाई और वास्तविकता का उद्घाटन होता है। डॉ. वर्मा मुक्तिबोध के बारे में तमाम मिथकों, संदेहों और आरोपों को स्कैन करते हुए हमें मुक्तिबोध के काव्य दर्शन के सत्य तक ले जाते हैं, जो परम अभिव्यक्ति की खोज का बीहड़ रास्ता है। इसी रास्ते हम मुक्तिबोध के इस सत्य की शिनाख़्त कर पाते हैं कि 'काव्य रचना केवल व्यक्तिगत मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया नहीं, वह एक सांस्कृतिक प्रक्रिया है। फिर भी वह एक आत्मिक प्रयास है। वह सामाजिक, नैतिक और सौंदर्यशास्त्रीय मूल्यों से निरपेक्ष नहीं होती। उसमें सांस्कृतिक परंपराओं का समाहार होता है।' डॉ. वर्मा इसी तारतम्य में 'रचना प्रक्रिया : कला के तीन क्षण', 'सौंदर्यानुभव बनाम जीवनानुभव', 'ईमानदारी बनाम प्रामाणिकता', 'भावना और बुद्धि का संश्लेषण', 'निर्वैयक्तिकता बनाम व्यक्तित्वांतरण', 'परंपरा का रचनात्मक साक्षात्कार', 'कविता का नया स्थापत्य : अभिव्यक्ति का रचनात्मक संघर्ष', 'वस्तु और रूप का संश्लेषण', 'फ़ैंटेसी की समावेशी रचनात्मकता', 'मुक्तिबोध के समशील काव्य का रचना सरगम'

आदि गम्भीर अध्यायों को लिखते हैं। इन तमाम आलोचनात्मक विवेक के अध्यायों में सूक्ष्म विवेचनाओं का विस्तृत जगत है जो मुक्तिबोध के काव्य दर्शन की अनखुली गुत्थियों को खोलकर उन्हें आरोपों के कठघरे से ससम्मान वापस लाकर उन्हें सही परिप्रेक्ष्य में स्थापित करने का काम करता है। मुक्तिबोध के काव्य और चिंतन की संश्लिष्ट प्रकृति, जिसे विरोधी-अंतर्विरोधी चरित्र की तरह प्रस्तुत किया गया, विवादों से भर दिया गया और उपेक्षा के अंधकार में फेंक दिया गया, डॉ. वर्मा उसे पुनः केंद्रीयता देने का काम उनके मूल काव्यदर्शन (मार्क्सवाद) के मार्ग से अन्वेषित करते हुए करते हैं। इसमें उनकी साधना और प्रतिबद्धता स्पष्टतः प्रकाशित होती है। क्योंकि वे मुक्तिबोध के काव्यदर्शन के सूत्र विश्व स्थितियों, उसकी राजनीति, आलोचना के प्रायोजित निहितार्थों और कवि के आत्मसंघर्षों और वैचारिक सत्यों के माध्यम से पाते हैं। इसका अहम सूत्र मुक्तिबोध के इस कथन में है कि अपनी भाषा, अपना इतिहास, अपनी संस्कृति और साहित्य के तीव्र रासायनिक द्रव्य में गलकर ही, उससे एकीभूत होकर, विश्वजीवन की विकीरणशील किरणों से शोधित होकर ही हमारे वस्तु तत्त्व के आग्रहों को पूरा करने के लिए ही प्रभावों और प्रेरणाओं को अंगीकार किया गया है। इसलिए उनकी कविता की आधुनिकता का चरित्र देशज, संश्लिष्ट और समावेशी है, न कि वह जो उनके काव्यदर्शन के बारे में आधी-अधूरी समझ और विवेचन के आधार पर कहा गया। दरअसल कोई आलोचक उस 'नेपथ्य संगीत' तक अपनी पहुंच नहीं बना पाया जिसका ज़िक्र मुक्तिबोध ने 'दिमागी गुहान्धकार का औरांगउटांग' कविता में किया है। डॉ. वर्मा अपनी इस किताब में उस नेपथ्य संगीत को पूरे मनोयोग से आत्मसात करते हैं जिसमें मुक्तिबोध की परम अभिव्यक्ति की खोज का रास्ता है। इसी वजह वे उस सत्य तक पहुंचते हैं जहां दूसरे आलोचक अपनी राह नहीं बना पाते। यह इस कृति की ऐसी विशिष्टता है जो मुक्तिबोध पर प्रकाशित अन्य आलोचना किताबों में नहीं दीखती।

3

'परिभूमि' अध्याय में डॉ. वर्मा मुक्तिबोध के काव्य और चिंतन की संश्लिष्ट प्रकृति को अन्वेषित करते हैं। इसके पीछे उन कुहरिल भाष्यों की शिनाख़्त है जो मुक्तिबोध के काव्य और व्यक्तित्व को संदेह के घेरों में खड़ा कर चुके थे। वे इस पड़ताल को मुक्तिबोध की आत्मस्वीकृतियों और अंतःसाक्ष्यों के प्रकाश में अंज़ाम देते हैं। वह भी सही परिप्रेक्ष्य में जिसे हम मुक्तिबोध के एक वाक्य से समझ सकते हैं : 'जीवन के एक ही बाजू को लेकर मैं कोई सर्वाश्लेषी दर्शन की मीनार खड़ी न कर सका।' डॉ. वर्मा हमें मुक्तिबोध के 'सर्वाश्लेषी दर्शन' के आग्रह की ओर ले जाते हैं जो उनकी समावेशी रचनात्मकता का प्रमुख तत्त्व है। कहना न होगा कि उनका यह काव्य चिंतन मार्क्सवाद से प्राप्त शिक्षा का हासिल है। मार्क्सवाद से हुए उनके व्यक्तित्वांतरण की अन्तर्तहों में न पहुंचने का ही परिणाम है कि न तो उनके काव्य चिंतन को सही-सही समझा जा सका और न ही उनके काव्य व्यक्तित्व को। उसमें शीर्ष आलोचकों को आत्मग्रस्तता, अपराध भाव, आत्मभर्त्सना, असामान्य मानसिक स्थिति आदि लगती रही। जबकि सच यह है कि मुक्तिबोध की कविताओं में उपस्थित रहस्यमय जगत वस्तुतः तत्कालीन समय के भयंकर षड्यंत्रों, यातनाओं, अराजकताओं, अत्याचारों को झेलने का परिणाम था। उनकी चिंतनपरक और आत्मसंघर्षी प्रवृत्ति अपने समय को जिस रूप में गहरे तक ग्रहण कर रही थी, वैसा कोई और रचनाकार यदि नहीं कर सका तो इसका अर्थ यह नहीं मुक्तिबोध को पढ़ने का नज़रिया ही एकांगी और संकुचित कर लिया

जाये। यदि मुक्तिबोध की परिभाषा में कविता को समझा जाये तो वह इस तरह होगी, 'मैं उसका नहीं कर्ता/ पिता धाता कि वह दुहिता नहीं/ होती परम स्वाधीन है/ वह विश्वशास्त्री है।' डॉ. वर्मा कवि की इस दृष्टि को अधिक आधुनिक प्रासंगिक और सर्वस्पर्शी सिद्ध करते हैं। उनकी स्थापना के आलोक में हम पाते हैं कि मुक्तिबोध का 'मैं' और काव्य चिंतन दरअसल जनसामान्य का ही प्रतिरूप है। फिर वे अस्मिता की खोज में कैसे हो सकते हैं जबकि वे साफ़-साफ़ कहते हैं, 'समस्या एक/ मेरे सभ्य नगरों और ग्रामों में/ सभी मानव/ सुखी-सुन्दर और शोषणमुक्त कब होंगे।' डॉ. वर्मा का आलोचक उन सभी आलोचकों से टकराता है जिनकी स्थापनाओं ने मुक्तिबोध को अस्मितावादी, अस्तित्ववादी घोषित किया। सोदाहरण और तर्कपूर्ण विवेचन से डॉ. वर्मा मुक्तिबोध के पक्ष में खड़े होते हैं कि जैसे मानो सर्वहारा हों। इस तरह पक्षधर होना मुक्तिबोध की मूल प्रतिज्ञा का पक्षधर होना ही है।

4

मुक्तिबोध के संवेदनात्मक अभिप्रायों को समझे बिना उनकी कविता में पैठ बनाना असम्भव काम है। जिन्होंने उनके अभिप्रायों को सीमित समझ और दृष्टि से समझा, वे मुक्तिबोध के काव्य को पूरी तरह पकड़ न सके। डॉ. वर्मा उनके संवेदनात्मक अभिप्रायों की सूक्ष्म काया में प्रवेश कर चमत्कृत होते हैं और करते हैं, क्योंकि उनके संवेदनात्मक अभिप्रायों में वे समसामयिकता का यथार्थ बोध, वैज्ञानिक चेतना की सक्रियता, आधुनिक सभ्यता का रूप, वर्गचेतना के आर्थिक-समाजिक आधार, सर्वहारा की अंतरानुभूति, पक्षधरता और प्रतिबद्धता, क्रांतिकारी संघर्ष चेतना, युगांतरकारी आस्था, मुक्ति की आकांक्षा, विश्वदृष्टि, व्यक्तित्वांतरण आदि की खोज पूरी गहराई से करते हैं। इसी रास्ते वे मुक्तिबोध की उस परम अभिव्यक्ति को पाते हैं जो कविताओं में व्याप्त है। इन्हीं कविताओं की मीमांसा में हमें मुक्तिबोध का वह मार्क्सवादी व्यक्तित्व मिलता है जिसे डॉ. वर्मा ने अत्यंत श्रमपूर्वक पुनर्स्थापित किया है, बग़ैर जिसके मुक्तिबोध के साथ न्याय संभव न था। डॉ. वर्मा वस्तुतः मुक्तिबोध के पक्ष में न्यायिक संघर्ष करने वाले अद्वितीय आलोचक हैं।

5

इस आलोचना कृति के दो सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अध्याय हैं, क्रमश : 'प्रमुख कविताएं : पुनर्पाठ और रेखांकन' तथा 'पुनर्मूल्यांकन'। इसके अलावा 'रूपशिल्प' जो उपर्युक्त प्रथम (किताब में पांचवें) अध्याय के साथ पढ़ने के क्रम में है। उनकी प्रमुख कविताओं का पुनर्पाठ इस दृष्टि से विचारोत्तेजक और ऐतिहासिक है कि वह अब तक स्थापित तमाम विवादास्पद स्थापनाओं को सिरे से तर्कपूर्ण ढंग से ख़ारिज करता है। डॉ. रामविलास शर्मा, डॉ. नामवर सिंह से लेकर अन्य आलोचकों की स्थापनाओं और टिप्पणियों से जो कुहरिल भाष्य दृश्य में बन गये थे, उन्हें मुक्तिबोध के सन्दर्भ में डॉ. वर्मा जिस तैयारी के साथ मार्क्सवादी दृष्टि और उसके परिप्रेक्ष्य में पुनर्स्थापित करते हैं, वह न केवल क़ाबिले ग़ौर है बल्कि क़ाबिले तारीफ़ है। डॉ. वर्मा ने पुनर्पाठ में जिन कविताओं को शामिल किया है, उनका एक पूर्व भाष्य हो चुका था। कहना न होगा इनका पाठ ठीक नहीं हुआ, इसलिए पुनर्पाठ और रेखांकन अपरिहार्य हो उठा।

प्रमुख कविताओं के पुनर्पाठ और रेखांकन में डॉ. वर्मा मुक्तिबोध के आत्मविस्तार और विपुल सहचर वृत्ति, वर्गानुभूति और गहन सामाजिक चिंतन, मुक्ति की बैचेनी और संकल्पधर्मा चेतना, प्रभुत्व संपन्न

वर्ग का चरित्र चित्रण और चालाक मानसिकता का उजागर, विद्रोह और क्रांति के अंतर्विरोधों का चित्रांकन, आत्मसंघर्ष और शोषित जन सामान्य से तदाकारिता, दुनिया को वस्तुपरक और वैज्ञानिक ढंग से देखने का शिल्प, युगपरिवर्तन का बोध और प्रबल आकांक्षा, जीवन के प्रति राग और अनन्य आस्था, अपने 'मैं' को डिक्लास करने की प्रतिज्ञा और व्यक्तित्वांतरण, जनसंघर्ष की चेतना और कार्यान्वयन की प्रक्रिया, दिक्काल का नया बोध और सूक्ष्म पहचान, सभ्यता के विरूपित होने की खोज और राजनीति व सत्ता के आतंककारी चरित्र का उद्‌घाटन, जनसंपृक्ति का यथार्थ और बेहतर दुनिया का रोडमेप, पूंजीवाद का विरोध और संघर्ष के नये सूत्र, मानवमुक्ति का स्वप्न और सामूहिक चेतना के विस्तार के प्रयत्न के साथ, वे सर्वहारा की एकता और संघर्ष की आकांक्षा और क्रांति की निर्माणशील स्थितियों को विश्लेषित करते हैं। मुक्तिबोध के संवेदनात्मक अभिप्रायों की इतनी सूक्ष्म पड़ताल इसके पूर्व के लेखन में संभव न हो सकी। यह पुनर्पाठ और रेखांकन मुक्तिबोध के सन्दर्भ में आधे-अधूरे और कुहरिल भाष्यों को न केवल खोलता है बल्कि उनको सटीक ढंग से साफ़ करते हुए वास्तव में मुक्तिबोध को रेखांकित करता है। यह असंभव बना दिया गया पर्यावरण था, डॉ. वर्मा जिसे भेदकर मुक्तिबोध की उस परम अभिव्यक्ति तक पहुंचते हैं जो मुक्तिबोध को उसी रूप में स्थापित करती है जिसके वे सच्चे अधिकारी हैं।

डॉ. वर्मा की यह कृति इस रूप में याद की जायेगी कि एक आलोचक किस तरह अपने प्रिय कवि के लिए जोख़िम उठाता है। 'पुनर्मूल्यांकन' अध्याय में वे मुक्तिबोध की रचनात्मक प्रतिभा और अद्वितीयता को क्रमशः प्रसाद, निराला और अज्ञेय के काव्य के समानांतर रखकर एक और जोख़िम उठाते हैं। कदाचित् बिना इस पड़ताल के मुक्तिबोध का स्थापन कुछ अधूरा रह जाता और कुहरिल भाष्य को आगे बढ़ाने के कुछ रास्ते खुले रह जाते। डॉ. वर्मा अपने आलोचनात्मक विवेक और गंभीर व्याख्याओं से ऐसे तमाम रास्तों को बन्द करते चलते हैं।

निदेशक, भारतीय ज्ञानपीठ
नयी दिल्ली
फोन : 9818291188
ईमेल : leeladharmandnloi@gmail.com

मुक्तिबोध पर लिखित तीन आलोचना पुस्तकों की समीक्षाएं

मुरली मनोहर प्रसाद सिंह

1. *मुक्तिबोधः ज्ञान और संवेदना*

नंद किशोर नवल की यह पुस्तक राजकमल से 1994 में प्रकाशित हुई थी। इस पुस्तक के दो खंड हैं। पहला खंड ज्ञान पर केंद्रित है और दूसरा खंड संवेदना पर।

इन दो पहलुओं पर अलग-अलग लिखने के बावजूद मुक्तिबोध की रचनाशीलता को अविभाज्य रूप में देखने का प्रयत्न किया गया है। यद्यपि यह पुस्तक मुख्यतः कविता का ही विश्लेषण करती है किंतु मुक्तिबोध के आलोचना-साहित्य, कथासाहित्य और उनकी राजनीतिक टिप्पणियों की भी थोड़ी-बहुत यत्रतत्र विवेचना की गयी है।

नंद किशोर नवल की मान्यता है कि मुक्तिबोध कबीर जैसे विद्रोही कवियों की परंपरा के कवि थे। उनका विद्रोह उनकी मार्क्सवादी विश्वदृष्टि की देन था। मुक्तिबोध के प्रसंग में कम्युनिस्ट पार्टी संगठन के विरोधी ख़ास तौर पर इस बात का उल्लेख अवश्य करते हैं कि उनका मार्क्सवाद कठमुल्लावादी और संकीर्ण नहीं था, विकासमान और सृजनात्मक था। ऐसे लोग इस तथ्य पर पर्दा डाल देते हैं कि मुक्तिबोध कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्य 1941 में ही बन गये थे, जब वे 24 साल के नौजवान थे। नंदकिशोर नवल ने यह पुस्तक 23 साल पहले तब लिखी थी जब वे कम्युनिस्ट पार्टी के नज़दीक हीं नहीं उसके सदस्य भी थे। बाद में वे क्यों और किस कारण से मार्क्सवाद के अंध शत्रुओं की हां में हां मिलाने लगे, इस प्रसंग में विस्तार से जाने की ज़रूरत नहीं है। 1990 के बाद जब सोवियत संघ में कम्युनिस्ट प्रभुत्व समाप्त हुआ, तब भी नवल जी यह कहते थे कि 'यूरोप और सोवियत संघ में कथित समाजवादी व्यवस्था ध्वस्त हो चुकी है। इससे यह निष्कर्ष निकालना ग़लत होगा कि मार्क्सवाद के दिन लद गये।'

इस पुस्तक में 1990 के बाद के मार्क्सवाद-विरोधी रुझान की झलक यत्रतत्र मिलती है, पर इसके बावजूद नवल जी यह मानते हैं कि मुक्तिबोध ने नयी कविता के विरुद्ध 'एक विकट संघर्ष चलाया था। उस संघर्ष में उन्होंने आत्मसत्य की जगह वस्तु-सत्य के संप्रेषण पर बल दिया और उनका वस्तु-सत्य क्रांतिकारी समाज-सत्य था।' इसके साथ-साथ नवल जी यह मान्यता भी प्रस्तुत करते हैं कि उस समय के प्रगतिशील साहित्यिक आंदोलन के विरुद्ध भी उन्होंने संघर्ष चलाया था जिसके परिणामस्वरूप 'प्रगतिशील लेखन में भी एक गुणात्मक परिवर्तन उपस्थित हुआ।' इस प्रकार के निष्कर्ष में परिवर्तन

के मूल प्रेरक के रूप में मुक्तिबोध को प्रतिष्ठित करना तार्किक दृष्टि से असंगत है। चूंकि कम्युनिस्ट पार्टी में ही आंतरिक संघर्ष बहुत गहरा और व्यापक हो गया था और राष्ट्रीय परिस्थिति में भी परिवर्तन हो रहा था, अतः प्रगतिशील लेखक संघ के अंदर चल रही दो धाराओं या नीतियों के संघर्ष भी गुणात्मक परिवर्तन में निर्णयात्मक भूमिका निभा रहे थे।

बहरहाल इस बहस को यहीं छोड़ते हुए यह देखते हैं कि इस पुस्तक में किन-किन प्रश्नों पर विचार किया गया है।

परिशिष्ट में किये गये 'अंधेरे में' कविता के विश्लेषण को भी यदि शामिल कर लें तो यह कह सकते हैं कि इस पुस्तक के 12 अध्याय हैं। पहले खंड में 6 और दूसरे खंड में 5 तथा परिशिष्ट में 1 अध्याय। पहले खंड में 'विश्वदृष्टि', 'सौंदर्यशास्त्र', 'नयी कविता बनाम प्रगतिशीलता', 'पॉलिटिक्स', 'अस्तित्ववाद की छाया तथा रहस्यवाद का आलोक' नामक पांच अध्याय हैं। दूसरे खंड में 'दो कठिन पाटों बीच', 'उल्काओं की पंक्तियां काव्य बन गयीं', 'ज्ञानात्मक संवेदन के कोमल परिजात', 'सत्य में स्वप्नः स्वप्न में सत्य' तथा 'अभिव्यक्ति के ख़तरे उठाने ही होंगे'□नामक पांच अध्याय हैं। और यह उल्लिखित हो चुका है कि परिशिष्ट में 'अंधेरे में' कविता का विश्लेषण है।

मुक्तिबोध की विश्वदृष्टि की विवेचना के सिलसिले में नवल जी ने आचार्य शुक्ल के निबंध 'कविता क्या है' के सूत्र वाक्य को उद्धृत कर यह कहा है कि 'मुक्तिबोध की ज्ञानव्यवस्था के आधार पर भाव-व्यवस्था विकसित करने वाली बात आचार्य रामचंद्र शुक्ल की इस बात से बहुत दूर नहीं है कि 'ज्ञान प्रसार के भीतर ही भावप्रसार होता है।' कला की स्वायत्तता का सिद्धांत वस्तुतः विश्वदृष्टि का निषेध करता है। नयी कविता में किसी विश्वदृष्टि के अभाव के पीछे मूल कारण यही था कि नयी कविता के सभी रचनाकार कला की स्वायत्तता को समाज और व्यवस्था से काटकर देखते थे। बर्गसां भाववादी दार्शनिक थे और प्रारंभ में मुक्तिबोध पर उनका प्रभाव था। पर जब मार्क्सवाद-लेनिनवाद से उनका परिचय हुआ तो बर्गसां के प्रभाव से वे मुक्त हो गये। लेकिन नंदकिशोर नवल रामविलास शर्मा की तरह ही यह मानते हैं कि मुक्तिबोध मार्क्सवाद को अपूर्ण ज्ञान मानते थे। ('विश्वदृष्टि' नामक अध्याय, पृ. 25) नवल जी का कथन है : 'उन्होंने न तो मार्क्सवाद को पूर्ण ज्ञान के रूप में ग्रहण किया था, न वे उसके कार्यान्वयन को बिलकुल ठीक मानते थे। मार्क्सवाद उनके लिए विकासमान ज्ञान था।' मुक्तिबोध की अशांत आत्मा का उल्लेख और स्तालिन युग में प्रकट हुई विकृतियों के आधार पर नवल जी उपर्युक्त निष्कर्ष पर पहुंचे। लेकिन इसके साथ ही 'उपकृत हूं', 'मेरे मित्र, मेरे सहचर' तथा 'नक्षत्र खंड' कविताओं के हवाले से मुक्तिबोध की मार्क्सवाद के प्रति निष्ठा के भी उदाहरण दिये गये हैं। 'मेरे सहचर मित्र' शीर्षक लंबी कविता का हवाला देते हुए नवल जी कहते हैं : 'मुक्तिबोध ने अपने मित्र के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन किया है कि उसने मार्क्सवाद का ज्ञान प्रदान कर उन्हें 'सिनिक' और संशयवादी होने से बचाया।' (वही पृ. 27) इस अध्याय में नवल जी का निष्कर्ष है :

> मार्क्सवाद यथार्थ को स्थिति में नहीं, प्रक्रिया में देखने की दृष्टि प्रदान करता है। इस दृष्टि से मुक्तिबोध को वर्तमान के बोध के साथ भविष्य का एक स्वप्न प्राप्त हो गया था जो उनके अपने अनुभव और चिंतन से उनके लिए अधिकाधिक आत्मीय हो उठा था।' (वही, पृ. 51)

'सौंदर्यशास्त्र' नामक अध्याय में यह स्पष्ट किया गया है कि मुक्तिबोध 'वस्तुतः नयी कविता के

समानांतर जीवन-सत्य का चित्रण करने वाली यथार्थवादी कविता का सौंदर्यशास्त्र रचना चाहते थे।' (वही, पृ. 53) यह सौंदर्यशास्त्र व्यक्तिबद्ध पीड़ाओं से हटकर निर्वैयक्तीकरण के द्वारा कवि की संवेदना का विस्तार करता है। इस अध्याय में उपर्युक्त स्थापना का ही विस्तृत विवेचन किया गया है। नवल जी का अंतिम निर्णय यही है कि मुक्तिबोध मानते थे□'साहित्य का तत्व जीवन का तत्व होता है, इसलिए प्रतिमान के रूप में जीवन के तत्व का प्रयोग करना साहित्य से बाहर जाना नहीं है।' इससे स्पष्ट है कि 'साहित्येतर' का हल्ला-गुल्ला और विवाद व्यर्थ है।

ज्ञानखंड के अन्य अध्यायों में नयी कविता से मुक्तिबोध के संबंध और प्रगतिशीलत आंदोलन के भीतर छायी हुई रचनाशीलता से उनके मतभेद पर नवल जी ने विस्तार से विचार किया है। इसी तरह मुक्तिबोध निःसंकोच भाव से राजनीति संबंधी जो स्थापनाएं रख रहे थे, उनका विशद विश्लेषण करने के बाद अस्तित्ववाद और रहस्यवाद की व्याख्या की गयी है। अस्तित्ववाद वाले अध्याय में रामविलास शर्मा के आरोपों का खंडन किया गया है और पूरी स्पष्टता के साथ यह धारणा प्रस्तुत की गयी है कि मुक्तिबोध पर सार्त्र का कोई निर्णयात्मक प्रभाव नहीं है। रहस्यवाद वाले अध्याय में नवल जी की प्रारंभिक प्रस्तावना इस प्रकार प्रस्तुत की गयी है :

> हिंदी में आचार्य रामचंद्र शुक्ल का रहस्यवाद-विरोध प्रसिद्ध है। उनके बाद रहस्यवाद पर वैसा कठोर आक्रमण सिर्फ़ मुक्तिबोध ने किया है। लेकिन डॉ. राम विलास शर्मा उन्हें अस्तित्ववाद से ही नहीं, रहस्यवाद से भी प्रभावित बतलाते हैं। परंतु *कामायनी : एक पुनर्विचार* में मुक्तिबोध ने सटीक ढंग से विचार करते हुए आधुनिक रहस्यवाद की प्रतिक्रियावादी भूमिका पर ज़ोर देते हुए उसे रेखांकित किया है।

नंद किशोर नवल ने मुक्तिबोध के अनेक लेखों और उक्तियों को उद्धृत करते हुए यह सिद्ध किया है कि 'मुक्तिबोध कविता में रहस्यवाद के ही नहीं, आध्यात्मिकता-मात्र के विरोधी थे। (वही, पृ. 197)

मुक्तिबोध के सृजनात्मक और आलोचनात्मक साहित्य पर 1964 के बाद जो विवाद हुआ था, उसकी पृष्ठभूमि में चंचल नौहान की एक पुस्तक, *मुक्तिबोधः प्रतिबद्ध कला के प्रतीक* 1976 में प्रकाशित हो चुकी थी, जिसकी सारी सामग्री 1971 से 1973 के बीच विभिन्न तत्कालीन पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुकी थी। यह आश्चर्यजनक प्रतीत होता है कि नवल जी ने चंचल चौहान के मुक्तिबोध-संबंधी लेखन का कहीं भी उल्लेख नहीं किया है। नवल जी ने चंचल की पुस्तक और उनके आलोचनात्मक निबंधों को पढ़ा अवश्य ही होगा, चूंकि अनेक स्थलों पर चंचल की टिप्पणियों की छाया स्पष्ट रूप में दिखायी पड़ती है। चाहे रामविलास शर्मा की मान्यताओं के खंडन का प्रश्न हो या तत्कालीन बहस में आयी रूपवादी समीक्षाओं की विश्लेषण-पद्धति और निष्कर्षणात्मक अवधारणाओं के खंडन के प्रश्न हों, चंचल चौहान की इस संदर्भ में अग्रणीय भूमिका थी। इससे नवल जी अपरिचित थे, यह सुरक्षा-कवच झूठ पर पर्दा डालने के लिए इस्तेमाल किया जा सकता है। अस्तित्ववाद और रहस्यवाद के आरोपों के खंडन पर भी चंचल चौहान की आलोचना-दृष्टि सुस्पष्ट है।(देखें, *मुक्तिबोध के प्रतीक और बिंब*, का अंतिम लेख, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली)

इस पुस्तक के दूसरे खंड में एक अध्याय है □'सत्य में स्वप्न : स्वप्न में सत्य'। इस अध्याय में मुक्तिबोध के संबंध में फ्रायड और युंग के प्रभावों पर हिंदी आलोचना में जिस तरह का विचारविमर्श, ख़ासतौर पर रामविलास शर्मा ने प्रस्तुत किया, उस पर विचार किया गया है। चंचल चौहान ने 'डॉ.

रामविलास शर्मा और मुक्तिबोध का पुनर्मूल्यांकन' शीर्षक अपने आलेख में लिखा है :

> डॉ. रामविलास शर्मा ने कविताओं की समीक्षा नहीं, 'मुक्तिबोध के मन' की समीक्षा ही की है। वे एक मनोविश्लेषणशास्त्री के अंदाज़ में मुक्तिबोध की मनोरचना पर टिप्पणी करते जाते हैं, उनके मस्तिष्क के स्नायुतंत्र की परीक्षा करते हैं और कवि को रोगी घोषित कर देते हैं।'
>
> (*मुक्तिबोध के प्रतीक और बिंब*, पृ. 152)

फैंटेसी और स्वप्न के बीच के रिश्ते पर विचार करते हुए नवल जी ने अपनी पुस्तक के पृ. 372 से 402 पृष्ठों तक विभिन्न कविताओं की विवेचना के पहले फ्रायड और उनके शिष्य युंग के सिद्धांतों की व्यवस्थित आलोचना की है। इस आलोचनात्मक प्रक्रिया में चंचल चौहान और नवल जी के निष्कर्ष प्रायः मिलते-जुलते हैं।

'अभिव्यक्ति के ख़तरे उठाने ही होंगे' शीर्षक अध्याय और परिशिष्ट में 'अंधेरे में' कविता का विश्लेषण करते हुए वे 1994 के पहले हुए तमाम आलोचनात्मक विवादों को प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से समेटते हैं। ये दोनों अध्याय पठनीय हैं।

बहरहाल नंदकिशोर नवल की यह पुस्तक मुक्तिबोधप्रेमी पाठकों के लिए बहुत सारे जटिल प्रश्नों और पहेलियों पर प्रकाश डालती है इसलिए महत्वपूर्ण हो गयी है।

2. *मुक्तिबोध : कविता और जीवन विवेक*

चंद्रकांत देवताले की यह किताब प्रकाशित तो हुई 2003 में, पर इसे 1981 से 1984 के बीच लिख लिया गया था। इस पुस्तक के अनुक्रम से पता चलता है कि इसमें छह निबंध या अध्याय हैं। इसे राधाकृष्ण प्रकाशन ने प्रकाशित किया था। निबंधों के शीर्षक हैं : 'पिस गया वह', 'बारह का वक़्त है', 'ब्रह्मराक्षस का सजल उर-शिष्य', 'वास्तव की विस्फारित प्रतिमाएं', 'खूब काट-छांट-गहरी छील-छाल' और 'मुझे पुकारती हुई पुकार'।

पहले निबंध में व्यक्तित्व के अंतरंग की झलक प्रस्तुत की गयी है। दूसरे निबंध में तत्कालीन राष्ट्रीय, अंतर्राष्ट्रीय परिस्थिति और साहित्यिक परिदृश्य के विस्तृत विवरण की झांकी है। चंद्रकांत देवताले दूसरे निबंध का अंतिम हिस्सा इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं :

> यही वह परिदृश्य था जिसके बीच मुक्तिबोध की रचना-यात्रा जारी रही है। इस परिदृश्य का केवल औपचारिक महत्व नहीं है। इससे यह स्पष्ट होता है कि अपनी रचनात्मक आस्था के चलते मुक्तिबोध ने अपने आपको पूरी तरह से कभी भी परिदृश्य के हवाले नहीं किया। इसका एक कारण यह था कि वे प्रयोगवाद और नयी कविता को अभिव्यक्ति का कौशल मात्र ही नहीं मानते थे और न ही वे अधिकांश नये कवियों की तरह सामाजिक ज़िम्मेदारी से छूट कर कविता की शरण में जाना चाहते थे।

चंद्रकांत देवताले तीसरा निबंध मुक्तिबोध की कविता के निम्नलिखित उद्धरण से शुरू करते हैं :

> मैं ब्रह्मराक्षस का सजल उर-शिष्य
> होना चाहता
> जिससे कि उसका वह अधूरा कार्य

उसकी वेदना का स्रोत
संगत, पूर्ण निष्कर्षों तलक
पहुंचा सकूं।

इस उद्धरण के साथ वे मुक्तिबोध की अवधारणा से संबंधित उनकी एक उक्ति उद्धृत करते हैं : 'हम केवल साहित्यिक दुनिया में ही नहीं वास्तविक दुनिया में रहते हैं। इस जगत् में रहते हैं।' देवताले जी इन उद्धरणों के बाद टिप्पणी करते हैं : 'मुक्तिबोध का यह सूत्र उनके समग्र समाजपरक एवं सौंदर्यशास्त्रीय चिंतन की प्राथमिक कुंजी है।' 'वास्तव की विस्फारित प्रतिमाएं' शीर्षक अध्याय की शुरुआत में ही देवताले जी ने उनकी कविता का एक टुकड़ा उद्धृत किया है :

मेरी ये कविताएं
भयानक हिडिंबा हैं
वास्तव की विस्फारित प्रतिमाएं
विकृताकृति बिंबा हैं।

इस उद्धरण के बाद चंद्रकांत देवताले व्याख्या प्रस्तुत करते हैं : 'मुक्तिबोध की कविता में हमारे ज़माने के जागरूक, अशांत और संवेदनशील मनुष्य की अनेक प्रकार की आहत, विकल किंतु तेजोमय आवाज़ें सुनायी देती हैं।' इस टिप्पणी के बाद वे कहते हैं :

> लगभग तीन दशकों तक मुक्तिबोध ने जिस बेचैनी के साथ अपने समय, जीवन, भाषा और अपनी पीढ़ी के बारे में लिखा है, वह बेचैनी ही उन्हें बड़ा कवि बनाती है। यह मात्र भावुक बेचैनी न होकर एक ऐसी चिंता थी जिसके साथ कवि अनेक स्तरों पर संघर्ष करते हुए न केवल अपने समय की संस्कृति, सभ्यता और विसंगतियों की शल्य-चिकित्सा कर रहा था बल्कि शोषितों के साथ असल सहानुभूति से जुड़ अपनी दुनिया के लिए स्वप्न भी देख रहा था। सुदृढ़ मार्क्सवादी वैचारिक आधार के कारण उनकी सहानुभूति और सपने वायवी नहीं हैं। उनकी विकलता का संबंध जितना उनकी मानसिकता और निजी ज़िंदगी से है उतना ही बाहरी सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक परिस्थितियों के दबावों से भी है।'
>
> (*मुक्तिबोध : कविता और जीवन विवेक*, पृ. 129)

अपनी पीड़ा और जनसाधारण की पीड़ा के बीच एकात्म रिश्ता बनाते हुए वे अनेक स्थलों पर अपने ऊपर अभियोग लगाते हैं, परिणामतः उनका वक्तव्य प्रामाणिक और मार्मिक हो जाता है।

आत्मसंघर्ष और विकलता से लथपथ उनका आत्माभियोग आत्मान्वेषण और अत्यान्वेषण का अनिवार्य हिस्सा है। चंद्रकांत देवताले यह मानते हैं कि पूंजीवाद और प्रजातंत्र के प्रदूषणों और प्रतिगामी सांस्कृतिक मूल्यों को लेकर उनका अधीर-अशांत संघर्ष उनकी कविता की अर्थवत्ता को सार्थकता प्रदान करता है।

इसी अध्याय में मुक्तिबोध की रचनायात्रा के विभिन्न मोड़ों और पड़ावों का तनिक विस्तार से विश्लेषण किया गया है। पहले चरण के अंतर्गत 1935 से 1939 की कविताएं ली गयी हैं। चंद्रकांत देवताले यह बताते हैं कि 'प्रारंभिक कविताओं में हमें उनके अपने स्वर के बदले प्रसाद, पंत, महादेवी, माखन लाल चतुर्वेदी, बच्चन आदि कवियों का प्रभाव, भाव और ध्वनिसाम्य के रूप में दिखायी देता है।' दूसरे चरण में 1940-48 की (वही, पृ. 135) कविताएं हैं। यह दौर मार्क्सवादी प्रभाव और प्रगतिशील आंदोलन के दबाव को प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप में दिखलाता है। 'पूंजीवादी समाज के प्रति' तथा 'लाल सलाम'

जैसी कविताएं इसी दूसरे चरण की हैं। ऐसी कविताएं प्रायः *हंस* और *लोकयुद्ध* में प्रकाशित हुई हैं। तीसरा दौर 1949-56 के बीच का है। इस दौर में लिखित 46 कविताएं अप्रकाशित रहीं जो बाद में *रचनावली* में सम्मिलित की गयी हैं। चंद्रकांत देवताले बतलाते हैं कि प्रेमचंदयुगीन यथार्थवाद का गहरा असर इन रचनाओं में देखा जा सकता है :

> मुक्तिबोध की इन अधिकांश कविताओं की मुख्य थीम या केंद्रीय वस्तु शोषित-उत्पीड़ित मानवता का मुक्ति संघर्ष ही है। (वही, पृ. 143)

चौथा दौर 1957 से 1964 के बीच लिखी कविताओं का है। इसी दौर में उनकी पुस्तक, *भारतः इतिहास और संस्कृति* ज़ब्त हुई थी जिससे उन्हें बहुत सदमा पहुंचा था। इस दौर में, 'मुक्तिबोध के कथ्य और भाव-इतिहास में जो विलक्षणता है उसका रहस्य इस तथ्य में है कि उन्होंने विवेक-अनुशासित अपने मन की हलचल को प्राकृतिक-भौगोलिक दृश्यावलोक में गूंथ दिया है। उनकी परिदृश्यात्मक कल्पना समय और स्थान के विस्तृत फलक पर यात्रा करती है। अपनी हर बेचैनी के साथ जिसका यथार्थ शहरों, क़स्बों, गांवों और अभावग्रस्त परिवारों में है, वे प्राकृतिक भूगोल में उड़ने लगते हैं और इस उड़ान में इतिहास के साथ ही सौरमंडल भी कवि के साथ हो लेता है।' (वही, पृ. 153)

तेरह बंदों में विभाजित 'चकमक की चिनगारियां' मुक्तिबोध के यथार्थ और फैंटेसी के सूत्रों को समझने की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है।' (वही, पृ. 166)

'अंधेरे में' और 'भूल ग़लती' जैसी कविताएं भी इसी दौर की हैं।

अधिकतर समीक्षकों ने 57 से 64 के आठ सालों में लिखित मुक्तिबोध की रचना-यात्रा के अंतिम दौर पर विशेष रूप से ध्यान दिया है और आलोचना के क्षेत्र में फैले विवाद भी इसी दौर की कृतियों से संबंधित हैं।

'खूब काट-छांट-गहरी छील-छाल' नामक पांचवां अध्याय उनकी रचना-प्रक्रिया और किसी भी कविता को अंतिम रूप प्रदान करने के क्रम में उनकी रचनाशीलता में हो रहे परिवर्तनों पर प्रकाश डालता है। हरेक कविता के अनेकानेक प्रारूपों में संभवतः वे घटाते कम थे, जोड़ते ज़्यादा थे। हर कविता पर बहुत अधिक श्रम करने वाली उनकी काव्यसाधना के परिणामस्वरूप प्रायः अधिकतर कविताएं लंबी होती गयी हैं। दरअसल फ़ैंटेसी के सृजन की प्रक्रिया में कविता में 'मैं' ही कर्त्ता बनकर उभरने लगता है।

इस अध्याय में अनेक कविताओं की काट-छांट और छील-छाल के उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं। तीव्र भावावेग और वैचारिक दीप्ति के कारण कविताओं की आंतरिक संरचना में परिवर्तन मुक्तिबोध आवश्यक समझते थे। इस पांचवें अध्याय का अंतिम अंश सर्वोत्तम है।

छठे अध्याय का शीर्षक है, 'मुझे पुकारती हुई पुकार'। सातवें दशक की हिंदी कविता में जिस प्रकार की अराजकता थी, उसमें मुक्तिबोध की कविता नयी पीढ़ी को जीवन, जिजीविषा और संघर्ष की मिसाल के रूप में प्राप्त हुई। उनकी यही विशिष्टता उन्हें अद्वितीय महत्ता प्रदान करती है।

चंद्रकांत देवताले के उपर्युक्त निष्कर्ष साक्ष्य, उदाहरण और उद्धरण के साथ धारदार विश्लेषण का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं।

3. *मुक्तिबोध साहित्य में नयी प्रवृत्तियां*

2013 में दूधनाथ सिंह की यह पुस्तक राजकमल से प्रकाशित हुई थी। मुक्तिबोध पर लिखी गयी सभी आलोचना-कृतियों से यह पुस्तक अनेक नयी विशेषताओं के कारण सबसे भिन्न और महत्त्वपूर्ण है। इसमें 13 आलेख और टिप्पणियां हैं। पहली विशेषता तो यही है कि मुक्तिबोध की कविता की रचनायात्रा के विकासक्रम को दिखलाने के क्रम में सात सर्वथा नये आलेख भी इसमें संकलित हैं। उदाहरण के लिए 'प्रारंभिक कविताएं' शीर्षक आलेख 1935 से 1940 तक की मुक्तिबोध की कविताओं को तत्कालीन काव्य-परिदृश्य के बरक्स सोदाहरण एकदम नये ढंग से प्रस्तुत किया गया है। यद्यपि चंद्रकांत देवताले ने भी प्रारंभिक कविताओं का विवेचन किया है, पर दूधनाथ सिंह के विवचेन-विश्लेषण के क्रम में छायावादी काव्यांदोलन और राष्ट्रीय काव्यधारा के परिदृश्य के अनेक नये संदर्भों पर समुचित रूप से ध्यान दिया गया है। यद्यपि यह निबंध महज़ चार पृष्ठों का है। इसके बावजूद 1935-40 के तत्कालीन काव्यलेखन की विभिन्न प्रवृत्तियों के प्रतिनिधि रचनाकारों के प्रभाव के अंतर्गत रची गयी मुक्तिबोध की कविताओं पर दूधनाथ सिंह टिप्पणी करते हैं :

1. 'मुक्तिबोध की प्रारंभिक काव्यरचना पर छायावादी कवियों की शैली, भाषा और कथ्य की अनुगूंज साफ़ दिखायी पड़ती है।' (वही, पृ. 11)
2. 'प्रो. क्रांति कुमार जैन ने अपनी पुस्तक, *छायावाद की मैदानी और पहाड़ी शैलियां* में इस बात की ओर इंगित किया है कि दरअसल, उत्तरप्रदेश के तीनों केंद्रों' (इलाहाबाद, बनारस और लखनऊ) में रूप ग्रहण करने वाले छायावाद से अलग मध्यप्रदेश के दूरदराज़, ऊबड़खाबड़, चट्टानी स्याह पर्वत शृंखलाओं और मालवा तथा नर्मदा के पथरीले कगारों के आसपास छायावादी काव्य-रचना का एक दूसरा रूपरंग अपनी छटा बिखेर रहा था।'
3. 'मुक्तिबोध के उस दौर की कविताओं पर माखन लाल चतुर्वेदी की शैली और संवेदना की छाप स्पष्ट दिखायी देती है।'

दूधनाथ सिंह यह बताते हैं कि 'मैदानी शैली के कवियों□पंत, निराला और महादेवी की छाप स्पष्ट है। जैसे कि 'जाग्रत असफलता', 'तुम और मैं', 'वेदना और कल्पना' शीर्षक मुक्तिबोध की प्रारंभिक कविताएं छायावादी शैली को आत्मगत करती हैं। दूधनाथ सिंह द्वारा प्रस्तुत निम्नलिखित उद्धरण में मुक्तिबोध कुछ नये प्रतीक और उपमाओं का सृजन करते हैं :

> मैं बना उन्माद री सखि, तू तरल अवसाद
> प्रेम-पारावार पीड़ा, तू सुनहली याद

इसी तरह 'प्रात में निर्वाण' तो बिलकुल महादेवी की छाया से निकली हुई उपमा है।'

ये प्रारंभिक कविताएं माखनलाल चतुर्वेदी द्वारा संपादित, *कर्मवीर* या दूसरी पत्रिका, *वीणा* में प्रकाशित हुई थीं। इसी प्रक्रिया में उनकी कविता 'मालव-निर्झर की झरझर कंचन रेखा' में प्रेमानुभूति की अभिव्यक्ति है।

इस पुस्तक के दूसरे आलेख, 'तार सप्तक' में सौंदर्य की अवधारणा थोड़े सीमित अर्थ में किस प्रकार व्यक्त होती है, इस बात की व्याख्या की गयी है। दूधनाथ सिंह की राय में मुक्तिबोध की यह सौंदर्य संबंधी अवधारणा विरजहन्य करुणा के जीवनदर्शन तक सीमित है।

इंदौर में मुक्तिबोध छायावादी प्रभाव से मुक्त होकर 'अपने आंतरिक क्षेत्र' में प्रवेश करते हैं। यही उनकी 'प्रथम आत्मचेतना' और 'नवीन सौंदर्य क्षेत्र' भी है। *तार सप्तक* के अपने वक्तव्य में मुक्तिबोध प्रयोग का जिक्र नहीं करते, 'मानसिक द्वंद्व' का उल्लेख करते हैं। दूधनाथ सिंह इसी द्वंद्व से मुक्तिबोध की 'गुप्त अशांति' का संबंध जोड़ते हुए उनकी संपूर्ण सर्जना के मूल में इसे उपस्थित मानते हैं। दूधनाथ सिंह की यह स्पष्ट मान्यता है कि '*तारसप्तक* काल से लेकर मृत्यु के पहले तक (1943-1963) यह गुप्त अशांति' का तत्व ही उनकी रचनाओं को समझने की और उनकी तह तक पहुंचने की कुंजी है।' (वही, पृ. 17) दूधनाथ सिंह यह भी मानते हैं कि *तारसप्तक* उनकी 'काव्य रचना की पहली सीढ़ी है जिसमें वे अपने एक निजी शिल्प, एक निजी भाषिक दायित्व और कथ्य की खोज करते हैं।' (वही, पृ. 18) *तारसप्तक* में उनकी 16 कविताएं संकलित हैं। इन कविताओं की विशिष्टता उनकी 'कवित्वचिंता के अलग-अलग रंगों में प्रस्फुटित' होती है।

'मुक्तिबोध की प्रेम कविताएं' नामक एक आलेख इस पुस्तक में संकलित है। किसी भी आलोचक ने अभी तक उनकी प्रेम कविताओं पर पृथक् रूप से विचार नहीं किया है। यह भी एक सच्चाई और तथ्य है कि *मुक्तिबोध रचनावली* के दूसरे संस्करण (1982) के पहले मुक्तिबोध ने अपनी प्रेमकविताएं किसी भी पत्रिका में प्रकाशनार्थ नहीं भेजीं। 1982 के बाद ही पता चला कि 'वे केवल वैचारिक शृंखलाओं के चितेरे ही नहीं, प्रेमानुभव के भी कवि हैं।' (वही, पृ. 30) नहीं छपाने के पीछे लज्जा, संकोच और नैतिक बोध कार्यरत रहे होंगे। पर 'अंधेरे में' कविता की ये पंक्तियां इस संकोच का उद्घाटन करती हैं :

> क्या कोई प्रेमिका सचमुच मिलेगी
> हाय! यह वेदना स्नेह की गहरी
> जाग गयी क्यों कर?

'ज़माने का चेहरा' शीर्षक एक आलेख इस पुस्तक में संकलित है। संभवतः यह अपूर्ण कविता है जो दूसरे विश्वयुद्ध से संबंधित है। इतिहास की एक परिघटना पर आधारित यह राजनीतिक कविता है। इसका रचना-काल 1950-1957 के बीच का है। इस रचना की पृष्ठभूमि, *नया खून* और *सारथी* में लिखी गयी उनकी विश्व-राजनीतिक दृष्टि से परिपूर्ण टिप्पणियों से स्पष्ट होती है।

दूधनाथ सिंह इस कविता की विवेचना के क्रम में विस्तार से कई अन्य राजनीतिक प्रसंगों का उद्घाटन करते हैं। इसी क्रम में एक अन्य कविता 'भाग गयी जीप' की भी विवेचना करते हैं।

'तिमिर में झरता समय' शीर्षक आलेख वस्तुतः 'अंतःकरण' का आयतन' शीर्षक कविता के एक बिंब पर आधारित है। 'समय जैसे किसी फुलझड़ी जैसा है क्योंकि उसके झरने की इस प्रक्रिया में उसमें से चिनगारियों का झरना निकल रहा है। इस छोटे से बिंब में अनेक अर्थों की रंग-छायाएं हैं। और वे ऐसी हैं जिन पर शायद ही किसी कवि ने कुछ कहा हो।' (वही, पृ. 66-67)

'पार्टनर तुम्हारी पॉलिटिक्स क्या है?' इस प्रश्नवाचक पंक्ति को ही एक शीर्षक के रूप में रखा गया है। यह स्वतंत्र आलेख भी इस किताब में संकलित है।

अपने मिलने वाले दोस्तों और परिचितों के साथ कल्पित लोगों से मुक्तिबोध यही प्रश्न करते थे। यह एक तरह का संवाद भी है जो विविध विधाओं में लिखी गयी कृतियों में उनके अंतः कथ्य के रूप

में मौजूद है। मुक्तिबोध की इस गहरी प्रश्नाकुलता की विवेचना उनकी अनेक कविताओं के आधार पर दूधनाथ सिंह ने की है।

छह निबंध और भी इस पुस्तक में विभिन्न शीर्षकों से संकलित किये गये हैं□जैसे : (1) 'उन्हें युद्ध की ही करने दो बात', (2) 'अंधेरे में', (3) 'ब्रह्मराक्षस की तीसरी पीढ़ी', (4) 'सांवली हवाओं में काल टहलता है', (5) 'चंबल की घाटियां' तथा (6) 'आत्मचित्र'।

'अंधेरे में' मुक्तिबोध की सर्वश्रेष्ठ कविता है। दूधनाथ सिंह की सूचनाओं के आधार पर यह कह सकते हैं कि इस कविता के तीन प्रारूप हैं। पहला, *कल्पना* पत्रिका में, दूसरा, *चांद का मुंह टेढ़ा है* में और तीसरा श्री नेमिचंद्र जैन द्वारा संपादित *मुक्तिबोध रचनावली* में। नेमि जी के अनुसार *रचनावली* में प्रकाशित पाठ ही अंतिम और प्रामाणिक है। इस कविता में एक कथा भी है जो और घटनाओं के रूप में एक सघन बिंबविधान में अंतर्भुक्त है। दूधनाथ सिंह मानते हैं कि वह यह श्रेष्ठ कथाकाव्य का नमूना है। घटनाएं और विवरण प्राणहीन न हो जायें, अतः उन्हें स्वप्न-फ़ैंटेसी में विन्यस्त किया गया है। इस कविता में दो तहें हैं : (1) अघटित, अविश्वसनीय और चमत्कार पूर्ण जो स्वप्न के रूप में प्रस्तुत हैं, (2) जाग्रत अवस्था के चित्र। यह कविता आज़ादी के बाद की सारी कथा को अपने भीतर समाहित किये हुए है और भारतीय जीवन शैली की रागसंवेदना से उसका सारतत्त्व प्रकट होता है।

इसी तरह अन्य निबंधों में मुक्तिबोध के व्यक्तित्व और उनकी रचनाशीलता को विभिन्न प्रसंगों में, ख़ासकर उनकी कविताओं के संदर्भ से जोड़कर प्रस्तुत किया गया है।

दूधनाथ सिंह की यह पुस्तक यह सिद्ध करती है कि 'मुक्तिबोध कम्युनिस्ट होते हुए भी ललकार के कवि नहीं हैं, ललकार के भीतर मजबूरी के कवि हैं। वह बाहर देखते ज़रूर हैं लेकिन आत्मोन्मुख होकर।' (वही, पृ. 144) महज़ 144 पृष्ठों की छोटी आलोचनाकृति होने के बावजूद मुक्तिबोध को समझने में यह पुस्तक पाठकों को मदद देती है।

हमारे समय के अंधेरे में

बजरंग बिहारी

जनवादी लेखक संघ और राजेंद्र प्रसाद अकादमी के संयुक्त तत्वावधान में शनिवार दिनांक 29 अप्रैल, 2017 को आइटीओ के निकट राजेंद्र प्रसाद भवन, नयी दिल्ली में मुक्तिबोध के जन्म शताब्दी वर्ष के अवसर पर एक परिसंवाद का आयोजन किया गया। अध्यक्षता वरिष्ठ लेखक दूधनाथ सिंह ने की, स्वागत वक्तव्य राजेंद्र प्रसाद अकादमी के निदेशक अनिल मिश्र ने दिया और कार्यक्रम का संचालन आलोचक-कथाकार संजीव कुमार ने किया। स्वागत वक्तव्य में अनिल मिश्र ने कहा कि यह बड़ा संकटपूर्ण समय है। ऐसे कठिन दौर में समाजवादी और साम्यवादी धाराओं में एकता होनी चाहिए। अगर यह एकता संभव नहीं तो उनमें आपस में संवाद तो होना ही चाहिए। संचालक संजीव कुमार का कहना था कि परिसंवाद का शीर्षक बांधता नहीं बल्कि यह खुलकर बातचीत करने का अवसर देता है। आलोचक आशुतोष के एक लेख के हवाले से उन्होंने कहा कि ज्यों-ज्यों समय बीत रहा है त्यों-त्यों मुक्तिबोध और अधिक समकालीन होते जा रहे हैं। बिना ग्राम्शी को पढ़े मुक्तिबोध आर्गेनिक बुद्धिजीवी की बात कर रहे थे। उनकी चिंता थी कि क्या हमारा बुद्धिजीवी समाज से कटा हुआ 'ब्रह्मराक्षस' होगा?

परिसंवाद का आरंभ करते हुए कवि-चिंतक मनमोहन ने कहा कि बिना क्रांतिकारी चुनौती के प्रतिक्रांति का बड़ा अभियान चला हुआ है। मुक्तिबोध का जन्म शताब्दी वर्ष इस तरह का होगा, सोचने की बात है यह। मुक्तिबोध के समय में जनवादी संस्थाएं बन रहीं थीं। आज़ादी के बाद जो जनतांत्रिक ख़ाक़ा बना उसकी कृत्रिमता को, उसके सतहीपन को उन्होंने समझ लिया था। उन्होंने आज़ादी के बाद की परिस्थिति को तस्लीम किया। शीतयुद्ध के सवालों को, 'परिमल' संगठन के प्रश्नों को मुक्तिबोध ने झूठा नहीं कहा। बदले परिवेश में प्रगतिशील आंदोलन को अभिव्यक्ति के प्रश्न की गहराई से जोड़ा। सामाजिक जनतंत्र के बग़ैर राजनीतिक जनतंत्र नहीं चल सकता□आंबेडकर के इस निष्कर्ष की ताईद मुक्तिबोध के यहां है। ऊपर जो फ़ासिज़्म दिख रहा है वह नीचे से ताक़त ले रहा है। इसने राज्य पर कब्ज़ा कर लिया है। राजनीतिक ताने-बाने को छिन्न-भिन्न करने की तैयारी की जा रही है। कांग्रेसमुक्त भारत के नारे को मुक्तिबोध के लंबे दुःस्वप्न के संदर्भ में पढ़िए। मुक्तिबोध की कैनोनिकल उपस्थिति सदा-सर्वदा के लिए नहीं है। उन्हें निशाने पर लेना बहुत आसान है। कल कहा जा सकता है कि वे बेकार हैं, कठिन हैं, टी.एस. एलियट की नक़ल हैं।

अधिग्रहण और कुपाठ से मुक्तिबोध को बचाये जाने की ज़रूरत रेखांकित करते हुए वरिष्ठ आलोचक वीरेन्द्र यादव ने कहा कि जिस आसन्न फ़ासीवाद से मुक्तिबोध रूबरू थे वह आज हमारे सामने है। नेहरू

और नेहरूवियन मॉडल की कई चीज़ों की आलोचना करने वाले मुक्तिबोध ने नेहरू की मृत्यु पर कहा था कि अब फ़ासीवाद का खतरा बढ़ गया है। मुक्तिबोध ने वर्ग की बात करते-करते जाति-वर्ण के प्रश्नों को पीछे कर देने की वामपंथी पद्धति की आलोचना की थी।

यह हो सकता है कि हमें यूपी पुलिस को बचाने की आवाज़ उठानी पड़े- इस बिडंबना की ओर इशारा करते हुए आलोचक गोपाल प्रधान ने कहा कि मुक्तिबोध ऐसे मुद्दों को छूते हैं जिसे पढ़ते हुए हम शर्मिंदा होते हैं। हममें आत्मालोचन के साहस की कमी आयी है। मुक्तिबोध अपने वर्ग के प्रति निर्मम थे। वे आत्मालोचन को कसौटी की तरह इस्तेमाल करते थे। गोपालजी ने कहा कि मार्क्सवादी वैचारिकी में सामाजिक और राजनीतिक श्रेणियों के मध्य दरार नहीं थी। यह दरार बाद में आयी है। इसे पाटने की ज़रूरत है।

हिंदी कविता की महत्वपूर्ण हस्ताक्षर शुभा ने मुक्तिबोध की रचना, 'नये की जन्मकुंडली' के संदर्भ में कहा कि मुक्तिबोध इसकी तरफ ध्यान दिलाते हैं कि स्वतंत्र भारत की सबसे बड़ी परिघटना संयुक्त परिवार का टूटना और एकल परिवार का बनना है। पतिव्रता धर्म, वर्णव्यवस्था ये सब समाज की स्वचालित मशीनें हैं। जब धर्म का अनुशासन टूट रहा था तब हमने उसका विश्लेषण नहीं किया। अब जैसे पूरा समाज और परिवार अंतःप्रवृत्तियों को सौंप दिया गया है। यह आत्मग्रस्तता कंजूमरिज़्म के आगे की चीज़ है। मुक्तिबोध के संदर्भ से शुभा ने कहा कि बाहर परिवर्तन की बात करना और घर के अंदर उसे बनाये रखना सबसे बड़ा पाखंड है। सामाजिक रूपांतरण का मुद्दा स्थगित हो गया। रूपांतरण का बीज शब्द आत्मसंघर्ष है।

वरिष्ठ कवि अशोक वाजपेयी ने कहा कि वे मुक्तिबोध से तब मिले जब 17 वर्ष के थे। जब वे 24 वर्ष के हुए तब मुक्तिबोध की मृत्यु हो गयी। परिचय के ये सात साल न पर्याप्त हैं और न उल्लेखनीय। मुक्तिबोध ने गढ़े गये लालित्य के स्थापत्य को ध्वस्त किया। पिछले पचास वर्ष की कविता ने मुक्तिबोध से बहुत कम सीखा है। कवि लालित्य में ही उलझे रहे हैं। मुक्तिबोध के बीज शब्द हैं□ आत्मसंघर्ष, अंतःकरण और आत्माभियोग। मुक्तिबोध अपनी ज़िम्मेदारी को केंद्रीय मानते हैं।

लेखक-विचारक चंचल चौहान ने कहा कि मार्क्सवाद को समझे बग़ैर मुक्तिबोध की कविताएं दुरूह लगेंगी। उनकी कविताओं की बड़ी खराब व्याख्या राम विलास शर्मा ने की थी। नामवर सिंह की आलोचना ने भी न्याय नहीं किया। मुक्तिबोध ने ज़ोर देकर कहा था कि मुक्ति के रास्ते अकेले में नहीं मिलते। बहुत से लेखक उन्हें आत्मग्रस्त, अस्मिता का खोजी बताते रहते हैं! मुक्तिबोध परिवर्तन की प्रक्रिया अपने गद्य व कविता में भी पेश करते हैं कि क्राति सर्वहारा के नेतृत्व में ही होगी। वे चाहते थे कि चिंतकों, साहित्यकारों को अपनी पक्षधरता तय करनी चाहिए, सर्वहारा के पक्ष में नया वर्गीय संतुलन बनाने में उनकी भी एक भूमिका होगी।

कवि अच्युतानंद मिश्र ने कहा कि पिछली शताब्दी के छठे-सातवें दशक में मुक्तिबोध को लेकर जो बहसें हुईं वे दिक्क़ततलब हैं। हमें कविताओं को स्थिर कर देने से बचना चाहिए, मुक्तिबोध द्वंद्व से आगे बढ़कर त्रिकोण बनाते हैं। इस त्रिकोण की पहचान करनी होगी। अच्युतानंद ने प्रश्न किया कि मुक्तिबोध के यहाँ प्रकृति इतनी भीषण रूप में क्यों आती है? सूखी बावड़ी, घुग्घू उनकी कविताओं में बार-बार आये हैं। असल में, मुक्तिबोध औद्योगिक क्रांति के कारण मनुष्य और प्रकृति के बीच बिगड़े संतुलन को देख रहे थे। ये ख़तरे बाद के दिनों में बढ़े हैं। अभी कॉल सेंटरों में, एप्प-जगत में कैसी

सामाजिकता विकसित हो रही है?

वरिष्ठ कवि इब्बार रब्बी ने कहा कि नयी पीढ़ी ने मुक्तिबोध को समझे बिना ही उनका स्वागत किया। गांधी की हत्या समाज में फ़ासिज़्म की मौजूदगी का उद्घोष था। मुक्तिबोध आगे की इत्तिला देते हैं। उन्होंने इस हत्या को, पंजाब और बंगाल परिघटनाओं को देखा था। मुक्तिबोध की शैली पुराणकारों की शैली लगती है- भविष्य की सूचना देने वाली।

आलोचक वैभव सिंह ने कहा कि 'अंधेरे में' चेतावनी देने वाली रचना है। वह 'डिस्टोपिया पोएट्री' है। अमेरिका में इस समय डिस्टोपिया उपन्यास खूब पढ़े जा रहे हैं। वैभव सिंह ने कहा कि बहुत से लेखक इस समय चुप्पी के 'मोड' में चले गये हैं। चुप हो जाना कई बार तंत्र की मदद करना होता है। तीसरी दुनिया के देशों की वैचारिक हलचलों के स्रोत के रूप में मार्क्सवाद रहा है। मुक्तिबोध की समझ के निर्माण में मार्क्सवाद की मुख्य भूमिका रही है लेकिन रेणु के साथ मुक्तिबोध ऐसे लेखक हैं जिन्होंने खुद मूल्यों को अन्वेषित किया था।

संपादक-कवि मदन कश्यप ने इस जिज्ञासा से अपनी बात शुरू की कि 'अंधेरे में' कविता में आख़िर वह कौन-सी बात है कि यह सारे आंदोलनों से जुड़ जाती है! यह वर्ष अक्टूबर क्रांति का वर्ष भी है। महिमामंडन के दौर में हम क्रांति की विफलताओं पर भी बात करें। साहित्यकार समय की जटिलता के हिसाब से विचारधारा का विस्तार करते हैं। राजनेता उसका सरलीकरण करते हैं। मदन जी ने अति लोकप्रियता को लोकतांत्रिक नहीं माना। अति लोकप्रियता डर से पैदा होती है। आज के शासक की लोकप्रियता नेहरू वाली लोकप्रियता नहीं है। इसकी व्याख्या की जानी चाहिए, विरोध करने से काम नहीं चलेगा।

कथाकार रजनी दिसोदिया ने कबीर की साखियों के हवाले से मुक्तिबोध को समझने का उद्यम किया। उन्होंने कहा कि 'अंधेरे में' कविता आपको अंदर तक देख लेती है। आज का मध्यवर्ग जगा हुआ है मगर वह रिस्क नहीं ले सकता। हमारी भूल ग़लती आज जिरहबख़्तर पहन कर बैठी हुई है। हमने पूरे संवैधानिक तरीक़े से उसे चुना है।

कवि-अनुवादक संजीव कौशल ने कविता के लिए ज्ञान और संवेदना दोनों को अनिवार्य माना। उन्होंने कहा कि मुक्तिबोध इस संबंध में कवि से प्रतिबद्धता की मांग करते हैं। वे कवि को एक्टिविस्ट के रूप में भी देखना चाहते हैं। संजीव कौशल ने कहा कि जब बहुत आवश्यक है तब लेखकों के बीच संवाद ठप पड़ा है। आज हम जो देख रहे हैं वह अभी पांच-सात साल और चलेगा। इसके बाद अपने-आप ढह जायेगा। जनता खुद ढहा देगी।

कवि-आलोचक बली सिंह ने मुक्तिबोध को आधुनिकता का बहुत बड़ा क्रिटीक माना। उन्होंने मुक्तिबोध को दबी-कुचली अस्मिताओं से तादात्म्य स्थापित करने वाला कवि बताया। जिस 'श्यामल समूह' का ज़िक्र मुक्तिबोध की कविता में आता है वह यही अस्मिता है। सत्-चित्-आनंद की त्रयी को सत्-चित्-वेदना में बदलने वाले मुक्तिबोध ने पूंजीवाद को जिन्न कहा था।

आलोचक कवितेंद्र इंदु ने कहा कि हमने मुक्तिबोध को मौलिक आलोचक की तरह देखने की कोशिश नहीं की है। मुक्तिबोध ने आलोचना की शब्दावली विकसित की। उनकी प्रासंगिकता इससे जांची जाये कि उनका लिखा हुआ आज घटित हो रहा है। जाति और जेंडर पर मुक्तिबोध के विचारों की समीक्षा वामपंथी समीक्षकों ने नहीं की। ऐसा लगता है कि इसे उन्होंने किसी 'दलित' या 'स्त्री' विमर्शकार के

लिए छोड़ रखा है।

वरिष्ठ लेखिका रेखा अवस्थी ने कहा कि मुक्तिबोध संस्कृति और आत्मा के संकट की पहचान करने वाले रचनाकार हैं। आज़ादी के बाद जो विचलन आया उसे संभालने में हम विफल रहे। हमने आत्मसंघर्ष की कसौटी भुला दी। मुक्तिबोध का संगठन पर विश्वास था तभी उन्होंने 'ब्रह्मराक्षस का शिष्य' जैसी कहानी लिखी। लेखक-प्राध्यापक रोहिताश्व ने अन्य भाषाओँ के समानधर्मा लेखकों से जुड़ने की बात की। सचेत हुए बिना किसी दूसरे कलबुर्गी की हत्या रोकी नहीं जा सकेगी। जलेस के महासचिव मुरली मनोहर प्रसाद सिंह ने कहा कि मुक्तिबोध का साहित्य फ़ासीवादी निरंकुशता के दौर को परिभाषित करता है। इसीलिए उनकी प्रासंगिकता आज के दौर में पहले से भी कहीं ज़्यादा है। उन्होंने कहा कि संगठनों का मज़ाक़ उड़ाने वाले व्यक्तिवादी हैं और ऐसे लोग सत्ता को ही बल पहुंचाते हैं।

परिसंवाद की अध्यक्षता कर रहे दूधनाथ सिंह ने कहा कि मुक्तिबोध की सबसे अच्छी कविता 'चंबल की घाटियां' है। डकैत चंबल की घाटियों में ही नहीं रहते, अन्यत्र भी होते हैं। चर्चित कविता 'भूल-ग़लती' का विश्लेषण करते हुए उन्होंने कहा कि अगर इस कविता में 'आलमगीर' शब्द न आया होता तो हम शिवाजी-औरंगज़ेब के संदर्भ को पकड़ न पाते और मुक्तिबोध की मराठा पक्षधरता को देखने में चूक जाते। हमें मुक्तिबोध की सीमाओं पर भी बात करनी चाहिए। सिर्फ़ वाह-वाह करके हम किसी का भला नहीं करेंगे। मुक्तिबोध की भाषा में जो तात्समिकता है वह उनके मराठीभाषी होने के कारण है। वे उस तात्समिकता से बड़ा काम निकालते हैं मगर वही उनकी सीमा भी है। वे कभी उससे मुक्त नहीं हो पाये। साहित्यिक संगठन को ज़रूरी बताते हुए उन्होंने कहा कि जनता की चेतना का स्तर उठाने का काम जारी रहना चाहिए।

हमारे समय के अंधेरे में
मुक्तिबोध पर एक परिसंवाद

फार्म-4

(प्रेस तथा पुस्तक पंजीयन अधिनियम की धारा 19 डी के अंतर्गत अपेक्षित *नया पथ* रजिस्टर्ड पत्रिका से संबंधित स्वामित्व आदि का विवरण)

1.	*प्रकाशन का स्थान*	:	42 अशोक रोड, नयी दिल्ली-1
2.	*प्रकाशन की आवर्तता*	:	त्रैमासिक
3.	*मुद्रक का नाम*	:	चंचल चौहान
	क्या भारतीय हैं?	:	हां
	पता	:	42 अशोक रोड, नयी दिल्ली-1
4.	*प्रकाशक का नाम*	:	चंचल चौहान
	क्या भारतीय हैं?	:	हां
	पता	:	42 अशोक रोड, नयी दिल्ली-1
5.	*संपादक का नाम*	:	चंचल चौहान
	क्या भारतीय हैं?	:	हां
	पता	:	42 अशोक रोड, नयी दिल्ली-1

6. उन व्यक्तियों के नाम और पते जो पत्रिका के मालिक और कुल प्रदत्त पूंजी के एक-एक प्रतिशत से अधिक के हिस्सेदार हैं : जनवादी लेखक संघ, 42 अशोक रोड, नयी दिल्ली-1

मैं चंचल चौहान एतद् द्वारा घोषित करता हूं कि मेरी जानकारी और विश्वास के अनुसार उपर्युक्त विवरण सही हैं।

(हस्ताक्षरित)

चंचल चौहान

ग्रंथ शिल्पी प्रकाशन ही नहीं, राजनीतिक और सांस्कृतिक आंदोलन भी है

शिक्षाशास्त्र और संचार माध्यम

उर्सुला एम. फ्रैंकलिन
प्रौद्योगिकी और समाज 550.00/350.00
रोहित धनकर आदि (सं.)
बच्चें और किताबें 550.00/350.00
कृष्ण कुमार
शैक्षिक ज्ञान और वर्चस्व 550.00/350.00
शिक्षा और ज्ञान
गुलामी की शिक्षा और राष्ट्रवाद 550.00/350.00
माइक कोल
मार्क्सवाद और शैक्षिक सिद्धांत 550.00/350.00
बारबियाना स्कूल के बच्चे
अध्यापक के नाम पत्र 550.00/350.00
रवींद्रनाथ ठाकुर
रवींद्रनाथ का शिक्षा दर्शन 550.00/350.00
जोनाथन कोज़ोल
क्रांति की बारह खड़ी 550.00/350.00
पाओलो फ्रेरे
उत्पीड़ितों का शिक्षाशास्त्र 550.00/350.00
प्रौढ़ साक्षरता
उEमीदों का शिक्षाशास्त्र 550.00/350.00
मार्टिन कारनॉय
सांस्कृतिक साम्राज्यवाद और शिक्षा 550.00/350.00
जॉन डिवी
शिक्षा और लोकतंत्र 550.00/350.00.००
गैरेथ बी. मैथ्यूज
बच्चों से बातचीत 550.00/350.00
नरिंदर सिंह
संस्कृति, शिक्षा और लोकतंत्र 550.00/350.00
जार्ज डैनीसन
बच्चों का जीवन 550.00/350.00
मरिया मांटेसरी
ग्रहणशील मन 550.00/350.00
रामशरण जोशी
आदिवासी समाज और शिक्षा 550.00/350.00.००
बीट्रीस एवॉलास
गरीब बच्चों की शिक्षा 550.00/350.00
मूनिस रज़ा
शिक्षा और विकास के सामाजिक आयाम 550.00/350.00
न्गुगी वॉ थ्योंगो
औपनिवेशिक मानसिकता से मुक्ति 550.00/350.00
सुसांत गुणतिलक
पंगु मस्तिष्क 550.00/350.00
सुरेशचंद्र शुक्ल, कृष्ण कुमार (सं.)
शिक्षा का समाजशास्त्रीय संदर्भ 550.00/350.00
अंतोन मकारेंको
शिक्षा की महागाथा, (तीन भागों का सेट) 550.00/350.00
सिल्विया एश्टन वॉरनर
अध्यापक 550.00/350.00
साधना सक्सेना
शिक्षा और जन आंदोलन 550.00/350.00
एल.एस. व्यगोत्स्की
विचार और भाषा 550.00/350.00०
हेनरी गीरू
संस्कृति कर्मी और शिक्षा की राजनीति 550.00/350.00
रमेश दवे
मैं इस तरह नहीं पढ़ूंगी ३६०.550.00/350.00
जेम्स ब्रिटन
भाषा और अधिगम ५550.00/350.00
परमेश आचार्य
देशज शिक्षा, औपनिवेशिक विरासत और जातीय विकल्प 550.00/350.00
पाओला आलमान
आलोचनात्मक चेतना के लिए शिक्षा 550.00/350.00
भूमंडलीय पूंजीवाद के विरुद्ध आलोचनात्मक शिक्षा 550.00/350.00
कमलानंद झा
पाठ्यपुस्तक की राजनीति 550.00/350.00
ए. मैतेलार्त
संचार का सिद्धांत 550.00/350.00
पीटर गोल्डिग
जनमाध्यम ३२५.००
जवरीमल्ल पारख
जनसंचार माध्यमों का वैचारिक परिप्रेक्ष्य 550.00/350.00
हिंदी सिनेमा का समाजशास्त्र 550.00/350.00
जनसंचार माध्यम और सांस्कृतिक विमर्श 550.00/350.00
आर्मंड मैतेलार्त
जनतंत्र जनमाध्यम और वर्तमान संकट 550.00/350.00
सूचना समाज 550.00/350.00००
रेमंड विलियEस
संचार माध्यम और पूंजीवादी समाज ५२५.००

विस्तृत जानकारी के लिए लिखें
ग्रंथ शिल्पी (इंडिया) प्राइवेट लिमिटेड, बी-७, सरस्वती कामप्लेक्स, सुभाष चौक, लक्ष्मी नगर, दिल्ली ११००९२
फोन : २२०२५१४०, ६५१७९०५९, (R) ६४६८८५४२, २२७३१०१४
E-mail: granthshilpi.delhi@gmail.com; Website: www.granthshilpi.com